केनोपनिषद्

प्रवचन

अखण्डानन्द सरस्वती

f y { y- ф k y

q k y f

Vy x Vgï y u m

T f y f l:&

x u f x k m y

B w y

'x v

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम संस्करण 2200
गुरुपूर्णिमा सम्वत् 2050
3 जुलाई 1993

द्वितीय संस्करण 1100
गंगा दशहरा सम्वत् 2064
25 जून 2007

तृतीय संस्करण 500
अक्टूबर 2017

© सर्वाधिकार सुरक्षित

●

मूल्य 150/-

●

मुद्रक
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी 221001
फोन (0542) 2392337

तृतीय संस्करण :

प्रकाशकीय

परमपूज्य गुरुदेव महाराजश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजकी कृपासे केनोपनिषद्का तृतीय संस्करण आपके कर-कमलोंमें शोभायमान है।

केनोपनिषद्का तृतीय संस्करण करनालके श्री गाँधी परिवारके आर्थिक सहयोगसे प्रकाशित किया जा रहा है।

विश्वास है अध्यात्म जगत लाभान्वित होगा!

पाठक महाराजश्रीकी वाणीका लाभ लें...

–सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

प्रकाशकीय

आज 1993 की गुरुपूर्णिमाके पुण्य पर्वपर आपके हाथोंमें यह प्रवचन-प्रसाद सौंपते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है। इसमें 'केनोपनिषद्' पर किये गये महाराजश्रीके प्रवचन संकलित हैं। उपनिषद्-दृष्टिसे अपूर्ण होते हुए भी यह अपने आपमें पूर्णता-प्रापक ही नहीं सम्पूर्ण है। सभी परिच्छिन्नताओंसे ऊपर उठाते हुए, क्षण-क्षण, कण-कण, अणु-परमाणु-स्थूल-सूक्ष्मका, जड़-चेतनका विवेचन करते हुए श्रोत्र, मन, वाणी, प्राणका प्रेरक कौन है–'केनेषितम्' शिष्यके उठाये प्रश्नोंका समाधान गुरुदेवने जो किया है उससे तत्त्वसाक्षात्कार, ब्रह्मानुभूतिकी निश्चित महती उपलब्धि हमें होती है। इस सम्बन्धमें सम्पादक 'श्रीविष्णु'ने सविस्तार विवरण दिया है। अतः प्रकाशकके दायित्वका निर्वहन भी कर दिया है। हीनांगपूर्ति तो उन्होंने किया ही है। अतः एक कुशल डाक्टरके आप्रेशनकी सफलतापर जो हार्दिक प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता इन शब्दों द्वारा हम उनके प्रति प्रकट करते हैं और धन्यवाद देते हैं।

'केनोपनिषद्'की सम्पूर्ण पाण्डुलिपि कितने मनोयोगसे तैयार हुई है, इसे पढ़कर पाठक स्वयं अनुमान करेंगे कि

यह कितना गुरुतर कार्य है! महाराजश्रीमें, उनकी ज्ञान-प्रवणतामें जिसकी श्रद्धा, विजिगुप्सा और निष्ठा नहीं होगी उसकी तो इस ओर प्रवृत्ति ही नहीं होगी! टेपसे सुनकर बोलेके अनुसार वैसे-का-वैसा अनुकृत करना निश्चित ही अपने आपमें भक्ति कर्म, ज्ञानकी समवेत समन्विति है और वह गुरुकृपासे प्रकट होती है श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालानमें। अब भी हम उनकी कृतज्ञता न मानें धन्यवाद देनेमें कृपणता बरतें तो यह उचित नहीं होगा! अतः हम अपनी ओरसे और पाठकोंकी ओरसे भी उन्हें धन्यवाद देते हैं। जिन्होंने इस कृतिको कीर्तिमान कलेवर दिया है।

अब हमारे एक सहयोगीका नामोल्लेख किये बिना हम नहीं रह पाते हैं, वे हैं, मुम्बई निवासिनी श्रीमती सरस्वती बहन धानुका। इनका इस ग्रन्थके प्रकाशनमें महत्त्वपूर्ण आर्थिक अनुदान प्राप्त रहा है। इसके प्रकाशित होनेका श्रेय उन्हें प्राप्त है और इस श्रेष्ठताकी हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, और उन्हें धन्यवाद देते हैं।

अब हमारे सत्यान्वेषी पाठक इस ग्रन्थमें प्रवेश कर अपने हृद्य रत्नोंका चयन करें!

आनन्द वृन्दावन — **—स्वामी ओंकारानन्द सरस्वती**
मोतीझील — **—स्वामी गोविन्दानन्द सरस्वती**
वृन्दावन (मथुरा)

सम्पादकीय निवेदन

प्रातःस्मरणीय परमपूज्य सद्‌गुरुदेव महाराजश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजके श्रीमुख द्वारा 'केनोपनिषत्' पर बम्बई महानगरमें हुए प्रवचनोंका संग्रह प्रस्तुत कलेवरमें पाठकोंकी सेवामें समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। उपनिषदोंको प्रवचन-मालाकी यह एक नवीन मणिका है। ईश, कठ, मुण्डक और माण्डूक्य उपनिषदोंपर प्रवचन पहले ही प्रकाशित हैं। इस प्रकार भगवत्कृपासे ग्यारह मुख्य उपनिषदोंमें-से जिनपर भगवान् आद्य श्रीशंकराचार्यजी महाराजके भाष्य उपलब्ध हैं, पाँच उपनिषदोंके प्रवचन-संग्रह प्रकाशमें आगये हैं। एतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य और बृहदारण्यकके कुछ अंशोंके प्रवचन-टेप उपलब्ध किये जा चुके हैं। भविष्यमें इनके प्रकाशनकी भी योजना है, देखते हैं कब इनका सुअवसर प्राप्त होता है।

इस सम्बन्धमें एक कठिनाई यह है कि न तो सम्पूर्ण उपनिषद् पर टेप उपलब्ध हैं और न वह इतनी स्पष्ट हैं कि आसानीसे उनको सुनकर लिपिबद्ध किया जासके। इस केनोपनिषद्‌के प्रवचन-टेपोंकी भी यही स्थिति रही है। चार खण्डोंमें-से प्रथम दो खण्डोंके मन्त्रोंपर ही प्रवचन प्राप्त हैं। उनमें भी खण्ड-1 के मंन्त्र-1 का प्रवचन बिलकुल ही अनुपलब्ध है तथा अन्योंमें भी बीच-बीचमें या तो टेप खराब है या खाली रह गयी हैं या अस्पष्ट हैं। ऐसी दशामें जैसा जो कुछ ईमानदारीसे बन पड़ा है वह पाठकोंके सामने है। टेपसे सुनकर प्रवचनोंका संकलन श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालानने किया है। उनका श्रम स्तुत्य है। बड़े मनोयोगसे वह यह कार्य करती हैं, करती रही हैं। सद्‌गुरुदेवकी प्रेरणा और कृपा उनको प्राप्त है अतः वह साधुवादकी पात्र हैं। सम्पादककी नीयति तो यह होती ही है कि कहींपर काट दे, कहींपर छाँट दे, सो वह कार्य तो किया ही है साथ ही अपूर्ण वाक्योंकी पूर्ति, संदर्भोंमें आये श्लोक आदिकी शुद्धि, क्रमान्वयन, शीर्षक-निर्धारण और प्रस्तुति-शैलीका चयन आदि अन्य कार्य भी करने पड़े हैं।

प्रस्तुतिकी कुछ विशेष बातोंपर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करता हूँ :-

1. क्योंकि सम्पूर्ण उपनिषद् मन्त्रोंपर प्रवचन उपलब्ध नहीं थे अतः ग्रन्थकी पूर्णताके लिए यह आवश्यक समझा गया कि सम्पूर्ण उपनिषद्के मूल मन्त्रोंका भाषानुवाद सहित पाठ दे दिया जाय और उपलब्ध प्रवचनों-को प्रकाशित कर दिया जाय। मन्त्रोंके भाषानुवाद शांकरभाष्य पर आधारित हैं।

2. क्योंकि खण्ड 1 मन्त्र 1 पर प्रवचन बिलकुल ही उपलब्ध नहीं था अतः सम्पादककी ओरसे इस मन्त्रकी व्याख्या शांकरभाष्यको आधार बनाकर लिख दी गयी है। परन्तु इसपर प्रवचन संख्या 1.0 लिखी गयी है क्योंकि यह महाराजश्रीका प्रवचन नहीं है।

3. प्रवचनोंमें कई जगह विषय छूट गया था-टेप खाली रह जानेसे या खराब होनेसे। वहाँ पूर्वापरको जोड़नेके लिए सम्पादककी ओरसे वाक्य जोड़ दिये गये हैं। जहाँ इनकी संख्या अधिक है उनको ( ) ब्रेकिट में बन्द कर दिया गया है।

4. कई प्रवचनोंकी विषय-वस्तु रिकार्डिंगकी क्रम गड़बड़ीके कारण गड्ड-मड्ड हो गयी थी। अतः वहाँ प्रवचनांशोंको तोड़कर मन्त्रोंके सन्दर्भोंमें समायोजित कर दिया है। इससे कुछ प्रवचन लम्बे हो गये हैं। और कुछ छोटे; परन्तु मन्त्रार्थके स्पष्टीकरणमें इससे अवश्य सहायता मिलेगी, ऐसा विश्वास है।

5. प्रवचनोंको मन्त्रोंके क्रमसे रखा गया है। यदि एक ही मन्त्रपर चार प्रवचन हैं-जैसे तीसरे मन्त्रपर सात प्रवचन हैं तो उनकी संख्या 3.1, 3.2,....., 3.7-ऐसे इंगित की गयी हैं। जैसे दसवें मन्त्रपर एक ही प्रवचन है तो उसकी क्रम संख्या 10.1 रखी गयी है। कुल 29 प्रवचन हैं। इसी संदर्भमें एक बात यह भी है कि मन्त्रोंके क्रमांक पूरे उपनिषद्के 34 मन्त्रोंके हिसाबसे रखी है। खण्ड और उसके मन्त्रका संख्या-क्रम मन्त्रोंके नीचे लिख दिया गया है।

महाराजश्रीके प्रवचनोंकी शैलीके बारेमें पाठक सुपरिचित हैं। परन्तु इन प्रवचनोंकी शैलीके बारेमें इतनी बात अवश्य कहनी है कि कुछ मायनोंमें ये

प्रवचन पूर्वके उपनिषद्-प्रवचनोंकी शैलीसे भिन्न हैं। ये प्रवचन अत्यन्त सरल भाषामें हैं-बोल-चालकी भाषा कहें तब भी अत्युक्ति नहीं होगी। सम्भवतः श्रोताओंका हिन्दी भाषाका स्तर सामान्य रहा होगा। इसीसे प्रवचनोंकी पृष्ठ संख्या भी बढ़ गयी है। पारिभाषिक शब्द वैसे तो कम हैं परन्तु जहाँ भी प्रयोग किये हैं उनकी वहीं व्याख्या कर दी है। दोहराना साहित्य-कलामें दोष भले माना जाता हो, वेदान्तके श्रवणमें दोष नहीं है। दृष्टान्त और व्यक्तिगत संस्मरणोंसे पवचन अत्यन्त सरस हैं। यद्यपि महाराजश्री अपने उपनिषद्-प्रवचनोंमें शांकर-भाष्यका आश्रय अवश्य लेते हैं तथापि इन प्रवचनोंमें उन्होंने भाष्यके भावकी तो रक्षा की है और कई स्थलोंपर भाष्य उद्धृत भी किया है परन्तु भाष्यकी दुरूहताको प्रवचनकी सरलतामें आड़े आने नहीं दिया।

यह प्रसिद्ध ही है कि परमपूज्य महाराजश्री वेदान्त शास्त्रके आधिकारिक विद्वान् तथा ब्रह्मविद्वरवरिष्ठ महापुरुष थे। उनके अनुभव और विद्याकी छाप इन प्रवचनोंमें भी है ही; फिर भी मैं वेदान्तके जिज्ञासुओंका विशेष ध्यान 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' की व्याख्या तथा प्रवचन संख्या 5.1, 5.2, 6.2, 9.1, 9.3, 10.1, 11.1 और 12.3 की ओर आकर्षित करता हूँ। इनमें वेदान्त सम्बन्धी अनेक गुत्थियोंको सुलझा दिया गया है।

हम आशा करते हैं कि पाठकगण इस महापुरुषकी अद्वैतनिर्झरिणीके पवित्र निर्मल सलिलमें आपादमस्तक स्नान करके अपने मानव जीवनके लक्ष्यको आत्मसात् कर सकेंगे।

अन्तमें, मैं सद्गुरुदेव परम पूज्य महाराजश्रीके चरणकमलोंमें अपने दण्डवत् प्रणाम निवेदन करता हूँ। हमारे इस प्रयाससे वे कृपासागर प्रसन्न हों।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

श्रीवृन्दावन-धाम
शरत्पूर्णिमा
दिनांक 11.10.92

श्रीगुरुचरणकमलाश्रित
'श्रीविष्णु'
(सम्पादक)

विषय-सूची

मन्त्र क्रमांक	प्रवचन क्रमांक	शीर्षक	पृष्ठ
		प्रकाशकीय	1
		सम्पादकीय निवेदन	5
1-34		केनोपनिषद्-मूलपाठ सानुवाद	10
		खण्ड-1	
1	1.0	शिष्यके प्रश्न : मन-इन्द्रियोंका प्रेरक कौन?	1
2	2.1	गुरुदेवके उत्तर : जो कानका कान है : श्रोत्रस्य श्रोत्रम्0	7
	2.2	धीरपुरुषको ज्ञान होता है : अतिमुच्य धीराः0	22
3	3.1	आत्मामें मन-इन्द्रियोंकी गति नहीं : न तत्र चक्षुर्गच्छति0	39
	3.2	आत्मा विदित-अविदितसे परे है : अन्यदेव विदितात् 0-1	51
	3.3	आत्मा विदितसे अन्य है : अन्यदेव विदितात् 0-2	61
	3.4	अन्यदेव विदितात् 0-3	65
	3.5	आत्मा अविदितसे अन्य है : अथो अविदितादधि0	79
	3.6	महावाक्य क्यों?	93
	3.7	ज्ञान अविच्छेद्य परम्परासे प्राप्त : इति शुश्रुम पूर्वेषाम्0	99
4	4.1	पूर्व मन्त्रोंके साथ संगति	113
	4.2	वाणीका प्रकाशक आत्मा ही ब्रह्म है यद् वाचानभ्युदितम्0	119

	4.3	उपास्य इदं ब्रह्म नहीं है : नेदं यदिदमुपासते	130
	4.4	आत्मा ही ब्रह्म है : तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि0	146
5	5.1	मनका प्रकाशक आत्मा ब्रह्म है: यन्मनसा न मनुते0	156
	5.2	मनसे उपास्य ब्रह्म नहीं है	177
6	6.1	आँखका प्रकाशक आत्मा ब्रह्म है : यच्चक्षुषा न पश्यति0	191
	6.2	'यत्' और 'चक्षुषा' की मौलिक उद्भावना	205
7	7.1	कानका प्रकाशक आत्मा ब्रह्म है : यच्छ्रोत्रेण न शृणोति0	219
8	8.1	प्राणका आत्मा ब्रह्म है : यत्प्राणेन न प्राणिति0	233

खण्ड-2

9	9.1	ब्रह्म न ज्ञानका विषय है न ज्ञानका अभिमानी	245
	9.2	ज्ञानमें अभिमान नहीं है	260
	9.3	अधिदैवको ब्रह्म जानना भी अल्पज्ञान है	270
10	10.1	नो न वेदेति वेद च	284
11	11.1	ब्रह्म मत नहीं अमत है	296
12	12.1	प्रतिबोधविदितं मतम्-1	312
	12.2	प्रतिबोधविदितं मतम्-2	326
	12.3	स्वयंसे ही सामर्थ्य आता है : आत्मना विन्दते वीर्यम्	340
	12.4	ब्रह्मविद्यासे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है : विद्यया विन्दतेऽमृतम्	354
13	13.1	इसी जीवनमें ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त कर लो : इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति	369

केनोपनिषद्

मूलपाठ सानुवाद

शान्ति पाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणचक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद-निराकरणमस्त्वनिकराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

अर्थ :-मेरे समस्त अंग, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट हों। यह सब औपनिषद ब्रह्म हैं। मैं ब्रह्मका निराकरण न करूँ। ब्रह्म मेरा निराकरण न करे। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो! उस आत्मामें संलग्न मुझमें जो औपनिषद धर्म आत्मज्ञानके लिए बतलाये गये हैं वे सब मुझमें हों, वे मुझमें हों!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

मन्त्राणि

खण्ड-1

1. ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥1.1॥

अर्थ :-ॐ किसके द्वारा इच्छित और प्रेरित होकर मन अपने विषयोंमें जाता है? किसके द्वारा नियुक्त होकर प्रथम प्राण अपने व्यापारमें प्रवृत्त होता

है? किसके द्वारा प्रेरित होकर (प्राणी) शब्दलक्षणा वाणी बोलते हैं? और कौन देव चक्षु और श्रोत्रको अपने-अपने विषयोंमें नियुक्त करता है? (इस प्रकार शिष्यके ये चार प्रश्न हैं।)

2. श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥1.2॥

अर्थ :-(श्रीगुरुदेव उत्तर देते हैं) जो श्रोत्रका श्रोत्र है, मनका मन है, वाणीकी वाणी है, वही प्राणका प्राण है और चक्षुका चक्षु है। (ऐसा जान करके) धीर पुरुष श्रोत्रादिमें आत्मभावका त्याग करके अथवा एषणात्रयका त्याग करके इस देह-लोकसे विदा होकर (अथवा शरीर त्याग करके) अमृतरूप हो जाते हैं।

3. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्। अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥1.3॥

अर्थ :-उसमें (ब्रह्ममें) न तो चक्षु जा सकता है, न वाणी जा सकती है, न मन ही जा सकता है। अतः हम नहीं जानते कि ब्रह्म ऐसा ही है। हम यह भी नहीं जानते कि ऐसे अवाङ्मनसगोचर ब्रह्मका उपदेश शिष्यके प्रति कैसे करें। वह ब्रह्म विदितसे (व्याकृतसे) भिन्न है और अविदितसे (व्याकृत सृष्टिके कारण अव्याकृत अविद्यासे) भी परे है। ऐसा हमने उन पूर्ववर्ती आचार्योंसे सुना है जिन्होंने हमारे प्रति ब्रह्मका व्याख्यान किया था। (अतः आचार्योंकी उपदेश-परम्परासे ही ब्रह्म ज्ञातव्य है।)

4. यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥1.4॥

अर्थ :- जो वाणीके द्वारा अप्रकाशित है, जिससे वाणी प्रकाशित होती है; उस (आत्मा) को ही तू ब्रह्म जान, यह (अनात्मा) ब्रह्म नहीं है तथा अथवा जिन उपाधिविशिष्ट अनात्मेश्वरादिकी उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है।

5. यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥1.5॥

अर्थ :-जिसका मनके द्वारा मनन नहीं किया जाता, जिसके द्वारा मन व्याप्त है अथवा मन स्वयं जिसका विषय है; उसीको तू ब्रह्म जान, यह अनात्मा या उपास्य अनात्मदेवादि ब्रह्म नहीं है।

6. यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥1.6॥

अर्थ :-जिसको नेत्रके द्वारा कोई नहीं देख पाता, जिसके द्वारा नेत्रेन्द्रियकी वृत्तियोंको देखता है; उसको ही तू ब्रह्म जान, यह अनात्मा या उपास्य अनात्मदेवादि ब्रह्म नहीं है।

7. यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ 1.7॥

अर्थ :-जिसे श्रोत्रके द्वारा कोई नहीं सुनता, जिसके द्वारा यह श्रोत्र ही स्वयं सुना जाता है; उसीको तू ब्रह्म जान, यह अनात्मा या उपास्य अनात्मदेवादि ब्रह्म नहीं है।

8. यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥1.8॥

अर्थ :-जो प्राणके द्वारा चेष्टित नहीं होता, जिसके द्वारा स्वयं प्राण अपने विषयमें चेष्टित होता है; उसको ही तू ब्रह्म जान, यह अनात्मा या उपास्य अनात्मेश्वरादि ब्रह्म नहीं है।

खण्ड-2

9. यदि मन्यसे सुवेदेति दहर[1]मेवापि नूनम् । त्वं वेत्थ ब्रह्मणोरूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्येमेव ते। मन्ये विदितम् ॥2.1॥

अर्थ :-(गुरुदेव)–यदि तुम यह मानते हो कि 'मैंने ब्रह्मको अच्छी प्रकारसे जान लिया है' तो निश्चय ही तुम ब्रह्मको थोड़ा-सा ही जानते हो। इसका जो रूप तुम जानते हो और इसका जो रूप देवताओंमें है (वह अल्प ही है) । अतः तुम्हारे लिए ब्रह्म अभी विचारणीय ही है।

---

1. दभ्रमेव-पाठभेद)

(शिष्य) :-मैं मानता हूँ कि आपके उपदेशके बाद अब मैं ब्रह्मको जान गया हूँ। (तथा)

10. नाहं[2] मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥2.2॥

अर्थ :-न तो मैं मानता हूँ कि मैं ब्रह्मको अच्छी तरह जान गया और न मानता ही हूँ कि मैं ब्रह्मको नहीं जानता। अतः मैं ब्रह्मको जानता ही हूँ (अथवा चाहें तो कह सकते हैं कि मैं ब्रह्मको नहीं भी जानता)। हम शिष्योंमें-से जो ब्रह्मको ऐसा जानता है कि मैं नहीं भी जानता और जानता ही हूँ, वही जानता है।

(अब गुरु-शिष्य संवादसे सम्पन्न अर्थका प्रकाश करती हुई श्रुति भगवती कहती हैं)।

11. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥2.3॥

अर्थ :-जिस ब्रह्मवेत्ताका ऐसा निश्चय है कि ब्रह्म अमत अर्थात् मतिका अविषय है अतः अज्ञात है उसको ब्रह्म ठीक-ठीक ज्ञात हो गया है। और जिसका ऐसा निश्चय है कि ब्रह्म मत है अर्थात् मतिका विषय है और इसलिए मुझे ज्ञात हो गया है, उसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं है। जानने वालोंके लिए ब्रह्म अविज्ञात है और न जाननेवालोंके लिए ब्रह्म ज्ञात है।

12. प्रतिबोधविदितं मतम् अमृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥2.4॥

अर्थ :-प्रत्येक बोधमें प्रत्यागात्मारूपसे ब्रह्म ही जाना जाता है–यही ब्रह्म ज्ञान है, क्योंकि इसीसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। अपने द्वारा ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है; विद्यासे अविद्या-निवृत्तिका बल प्राप्त होता है।

13. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ 2.5॥

---

1. (नाह)-(पाठ भेद)

अर्थ :-इसी जीवनमें यदि ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया तब तो जीवनकी सार्थकता है; और यदि इसी जीवनमें नहीं जाना तो महान् विनाश है (क्योंकि जन्ममृत्युरूप संसार शृंखलाका विच्छेद नहीं हुआ। (धीर पुरुष) स्थावर जङ्गम सब भूतोंमें एक आत्मतत्त्वको जानकर इस लोकसे जाकर अमर हो जाते हैं। अथवा अहंता-ममतारूपी इस संसारसे उपरत होकर सर्वात्मैक्यभावरूप अद्वैतावस्थान रूप ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त करके अमृत रूप ब्रह्म ही हो जाते हैं)।

खण्ड-3

संगति :-'अविज्ञातं विजानताम्'-से कोई यह न मान ले कि फिर तो ब्रह्म असत् ही है क्योंकि यदि होता तो ज्ञाननेमें अवश्य आता। इसलिए इस खण्डकी आख्यायिका कही जाती है। अथवा आख्यायिकासे ब्रह्मविद्याकी स्तुति की जाती है, क्योंकि इसीसे सम्पन्न होकर इन्द्र इन्द्रदेव हुए और उनको भी बड़ी कठिनाईसे इसका बोध हुआ, अन्य देवता तो अभिमानी बनकर ही रह गये।

14. ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त॥ 3.1॥

अर्थ :-प्रसिद्ध है कि (देवासुर संग्राममें) ब्रह्मने देवताओंके लिए विजय प्राप्त की। यह भी प्रसिद्ध है कि उस विजयमें देवता महिमाको प्राप्त हुए।

15. त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति॥3.2॥

अर्थ :-उन देवताओं ने सोचा कि यह हमारी ही विजय है और हमारी ही महिमा है। कहते हैं कि ब्रह्मने उनके उस अभिमानको जान लिया और (उनके गर्वको मिटाकर अपना स्वरूप-ज्ञान करानेके लिए कृपा करके) उनके सामने अपने आपको प्रादुर्भूत किया अर्थात् उनकी इन्द्रियोंके विषय बनकर यक्षरूपमें प्रकट हो गये। परन्तु उन देवताओंने यह नहीं जाना कि 'यह यक्ष कौन है?'

16. तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति॥ 3.3॥

अर्थ :-उन्होंने अग्निदेवसे कहा-'हे जातवेद! इस समुपस्थ यक्षको विशेषरूपसे जानो कि यह यक्ष कौन है? अग्निने कहा-तथास्तु।

17. तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति॥3.4॥

अर्थ :-अग्निदेव उस यक्षके पास गये। यक्षने अग्निसे पूछा-तुम कौन हो? उसने कहा-मैं अग्नि हूँ, निश्चय ही मैं जातवेदा हूँ।

18. तस्मिँस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदँ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति॥3.5॥

अर्थ :-(यक्षरूप ब्रह्मने पूछा)-उस (जातवेदारूप) तुममें क्या सामर्थ्य है?(अग्निने उत्तर दिया)-पृथिवीपर जो कुछ भी है उस सबको मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ।

19. तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥3.6॥

अर्थ :-यक्षने उसके लिए एक तृण रख दिया, (और कहा-) इसको जलाओ। अग्नि उस तृणके पास अपने पूरे वेगके साथ गये, परन्तु उसको दग्ध करनेमें समर्थ नहीं हुए। तब अग्निदेव यक्षके पाससे लौट आये और देवताओंसे बोले-मैं नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है!

20-23. अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति॥ 7॥ तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति॥ 8॥ तस्मिँस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदँ सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति॥ 9॥ तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥ 10(3.7-10)॥

अर्थ :-इसके बाद देवताओंने वायुदेवसे कहा-हे वायु! इसका पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है? वायुने कहा-तथास्तु! वायु उस यक्षके पास

गये। यक्षने पूछा-तुम कौन हो? उसने कहा-मैं वायु हूँ, निश्चय मैं मातरिश्वा ही हूँ। यक्षने कहा-उस मातरिश्वा तुम वायुमें क्या सामर्थ्य है? वायुने कहा-पृथिवीपर यह जो कुछ भी है उस सभी को मैं ग्रहण कर सकता हूँ। यक्षने उसके सामने एक तृण रख दिया और कहा-इसको ग्रहण करो। वायु उस तृणके पास पूरे वेगके साथ गये परन्तु उस तृणको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हुए। तब वह यक्षके पाससे लौट आये और देवताओंसे बोले-मैं नहीं जान सका कि यह दक्ष कौन हैं।

24. अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे॥ 3.11॥

अर्थ :-फिर देवताओंने इन्द्रदेवसे कहा-हे भगवन्! आप इसका पता लगाइये कि यह यक्ष कौन है। इन्द्रने कहा-तथास्तु। तब इन्द्र उस यक्षके पास गये। परन्तु अपने पास आये हुए इन्द्रके सामनेसे वह यक्षरूप ब्रह्म अन्तर्धान हो गया।

25. स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानाम् उमाँ हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद्यक्षमिति॥ 3.12॥

अर्थ :-इन्द्र उसी आकाशमें (जिसमें वह अन्तर्धान हुआ था) एक अत्यन्त शोभामयी स्त्री (ब्रह्मविद्याकी अधिष्ठातृ देवी भगवती उमा) के पास आया और उन हेमवती उमासे बोला-यह यक्ष कौन है?

खण्ड-4

26-28. सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति॥ 1॥ तस्माद्वा एते देवा अतितरामि-वान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति॥2॥ तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामि-वान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति॥ 3॥ (4.1-3)॥

अर्थ :-उस ब्रह्मविद्याकी देवीने कहा-यह यक्ष ब्रह्म है; तुम ब्रह्मके विजयमें ही इस प्रकार महिमाको प्राप्त हुए हो। कहते हैं, तभीसे इन्द्रने जाना

कि यह ब्रह्म है।। 1।। क्योंकि इन अग्नि, वायु और इन्द्रने ही इस समीपस्थ ब्रह्मका स्पर्श प्राप्त किया था और उन्होंने ही सर्वप्रथम यह जाना कि यह ब्रह्म है, अतः वे अन्य देवताओंसे बढ़कर हुए।। 2।। इसीलिए इन्द्र अन्य सब देवताओंसे बढ़कर हुए क्योंकि उन्होंने ही इस समीपस्थ ब्रह्मका स्पर्श प्राप्त किया था और उन्होंने ही सर्वप्रथम यह जाना कि यह ब्रह्म है।। 3।।

29. तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा 3 इतीन्न्यमीमिषदा 3 इत्यधिदैवतम् ॥ 4.4॥

अर्थ :-उस ब्रह्मका यह आदेश है-जो विद्युत्के तेजके समान एक बार प्रकाशित हुआ और फिर तिरोभूत हो गया; तथा जिस प्रकार नेत्र निमेष करता है उसी प्रकार जो निमेष करता है; (वह ब्रह्म है)। यह ब्रह्मकी अधिदैवत उपमा है।

30. अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः॥ 4.5॥

अर्थ :-अब ब्रह्मका आध्यात्मिक आदेश बतलाते हैं–यह मन जो जाता हुआ–सा मालूम पड़ता है वह ब्रह्म है क्योंकि मनसे ही ब्रह्मका स्मरण करता है और मनका संकल्प भी ब्रह्मको ही विषय करनेवाला है।

31. तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एवदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति॥ 4.6॥

अर्थ :—वह ब्रह्म निश्चय ही 'तद्वन' नामवाला है (अर्थात् प्राणिसमूहका प्रत्यगात्मा होनेसे यह सबका सम्भजनीय है)। अतः तद्वन नामसे उसकी उपासना करनी चाहिए। जो इस प्रकार जानता है उसको समस्त भूत चाहने लगते हैं और उससे अपने अभीष्ट फलों की इच्छा उसी प्रकार करने लगते हैं जैसे वे ब्रह्मसे करते हैं।

32. उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्ब्राह्मी वाव त उपनिषदमब्रूमेति॥ 4.7॥

अर्थ :—'हे भगवन्! उपनिषद् कहिये।'–शिष्यके ऐसा कहनेपर गुरुने कहा–तुमसे ब्रह्मसम्बन्धिनी उपनिषद् ही कही गयी है। अब हम तुमसे उसके उपायभूत उपनिषद्का कथन करेंगे।

33. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्॥ 4.8॥

अर्थः—उस ब्राह्मी उपनिषद्‌की तप, दम, कर्म, चार वेद और छः वेदांग-ये प्रतिष्ठा अर्थात् आधार हैं तथा सत्य आयतन हैं अर्थात् अकुटिल, अमायवी अन्तःकरणमें ही यह ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित होती है।

34. यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येते प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ 4.9॥

अर्थः-निश्चय ही जो इस केनोपनिषद्‌की ब्राह्मी उपनिषद्‌को इस प्रकार (उपायभूता उपनिषद्‌के सहित) जानता है वह पापको अर्थात् अविद्या-कामना-कर्मरूप संसारबीजको त्यागकर अनन्त स्वर्गलोकमें अर्थात् ब्रह्मानन्दमें जो सबसे महान् है स्थित हो जाता है और फिर संसारको प्राप्त नहीं होता।

इत्युपनिषत्

(उपनिषत्‌के पाठकी समाप्तिपर शान्तिपाठ पुनः करना चाहिए। शान्तिपाठ प्रारम्भमें दिया ही जा चुका है।)

मङ्गलाचरणम्

ॐ विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्
तस्मै श्रीगुरवे नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये।।

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणचक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

केनोपनिषद्-प्रवचन

केनोपनिषद्-प्रवचन

मन्त्र : 1

शिष्यके प्रश्न : मन, इन्द्रियोंका प्रेरक कौन है?

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥1.1॥

व्याख्या—केनोपनिषत् सामवेदकी तलवकार शाखाका नवम अध्याय है। प्रथम मन्त्र 'केनेषितम्' पदसे प्रारम्भ होता है, इसीसे इस उपनिषत्का नाम 'केनोपनिषद्' है। इस अध्यायसे पूर्वके जो अध्याय हैं उनमें कर्मका सम्यक् प्रतिपादन किया गया है; तथा प्राणोपासना, सामोपासना और गायत्रसाम-विषयक विचारका वर्णन किया है। इस नवम अध्यायमें (उपनिषद्में) शुद्ध ब्रह्म तत्त्वका विचार है।

वैदिक कर्म और उपासनाका रहस्य भी जानने योग्य है। जिनके जीवनमें केवल प्राकृत-प्रेरणासे होनेवाले कर्म ही होते हैं, वे पामर जीव हैं; शरीरपातके पश्चात् उनकी अधोगति होती है अर्थात् वे या तो मनुष्येतर पशु-आदि योनियोंको प्राप्त होते हैं अथवा स्थावर वृक्षादिकी योनिको प्राप्त करते हैं। जो लोग शास्त्रीय आचरण करते हैं उनमें अज्ञानी और ज्ञानीके भेदसे कई कक्षाएँ बनती हैं। जो लोग अज्ञानी हैं अर्थात् जिनको आत्मा और ब्रह्मकी एकताका बोध नहीं हुआ है वे या तो 'विषयी' हैं या 'साधक' हैं। जो विषयी हैं वे यदि शास्त्रके अनुसार सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं तो देहपातके पश्चात् उनके प्राण दक्षिणायन मार्गसे उत्क्रमण करते हैं। और जो साधक हैं वे यदि निष्काम कर्मयोगका आचरण करते हैं और मुमुक्षु भी हैं तो देहपातके पश्चात् उनके प्राण उत्तरायण मार्गसे उत्क्रमण करते हैं। दक्षिणायनसे जानेवालोंका उत्कृष्ट लोकोंके सुखभोगके पश्चात् मृत्युलोकमें पुनरागमन होता है। उत्तरायणसे जानेवाले अज्ञानियोंका भी उत्कृष्ट लोकोंके सुखभोगके पश्चात्

पुनरागमन होता है परन्तु अन्ततः उनको अन्तःकरणकी शुद्धि भी प्राप्त होती है जिससे कभी-न-कभी वे वैराग्यवान् होकर ब्रह्मात्मैक्य बोधके अधिकारी हो जाते हैं।

जो ब्रह्मात्मैक्य सम्बन्धी परोक्ष बोध सम्पादन कर चुके हैं और शास्त्रके अनुसार यथावत् आचरण करते हुए अहंग्रह उपासनामें लगे हुए हैं वे भी उत्तरायण मार्गसे प्रयाण करते हैं; परन्तु वे ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्मोपदिष्ट ज्ञानसे मोक्षलाभ करते हैं, उनको पुनः मृत्युलोककी प्राप्ति नहीं होती।

जो ब्रह्मज्ञानी हैं (सिद्ध हैं) उनके प्राणोंका उत्क्रमण ही नहीं होता। देहपातके पश्चात् उनके प्राण यहीं विलीन हो जाते हैं।

इस प्रकार शास्त्रीय कर्म और उपासनाओंका भी परम्परासे ब्रह्मविषयक जिज्ञासाकी उत्पत्तिमें उपयोग है। तथा ब्रह्मज्ञानके पश्चात् होनेवाली जीवन्मुक्तिमें भी दृष्टफल रूपसे इनका सहकार्य है।

उपनिषद्-वेद्य ब्रह्मकी जिज्ञासा किसको होती है? दर्शनशास्त्र-प्रणव चित्त में जो ब्रह्मजिज्ञासा होती है वह मात्र बौद्धिक व्यायाममात्र होता है। मुमुक्षतापूर्वक जो ब्रह्म-जिज्ञासा होती है वही मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्ध करनेवाली होती है। जिसका अन्तःकरण निष्काम कर्म और उपासनाके अनुष्ठानसे शुद्ध हो गया है उसे लौकिक पारलौकिक साधन-साध्य-जगत्से ही वैराग्य हो जाता है और तभी उसमें सच्ची मुमुक्षता और ब्रह्मजिज्ञासाका उदय होता है।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्
ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मुण्डक० 1.2.12)

मुण्डक श्रुतिका कहना है कि ब्राह्मण कर्म द्वारा प्राप्त होनेवाले लोकोंकी परीक्षा करके वैराग्यको प्राप्त हो जाय; क्योंकि अकृतरूप मोक्षकी प्राप्ति किसी भी कर्मसे होनी शक्य नहीं है। नित्यसिद्ध मोक्ष उत्पन्न नहीं होगा, वह तो पहलेसे ही प्राप्त है अतः वह केवल अज्ञानके कारण ही अप्राप्त-सा हो रहा है। अतएव उस नित्यमुक्त आत्म-स्वरूपका विशेष

विज्ञान उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है। उस विशेष विज्ञानकी उत्पत्तिके लिए जिज्ञासु मुमुक्षुको विधिवत् गुरुदेवकी शरणमें जाना चाहिए और आत्मविज्ञानविषयक प्रश्न करने चाहिए। तब वे गुरुदेव जो स्वयं वेदके रहस्यको जाननेवाले हैं तथा जो ब्रह्मात्मैक्य बोधमें परिनिष्ठित हैं शिष्यके प्रश्नोंका उत्तर देंगे जिससे शिष्यकी अविद्या निवृत्त होकर उसको नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मामें मोक्षलाभ हो सकेगा।

श्रीशंकराचार्यजी महाराजका यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि केवल उपर्युक्त प्रकारसे ही और विरक्त पुरुषको ही अपनी प्रत्यगात्माके विज्ञानके श्रवण, मनन और ग्रहणका सामर्थ्य प्राप्त होता है और किसी प्रकारसे नहीं।

सन्तानोत्पत्तिसे मनुष्य इस मनुष्य लोकको प्राप्त करता है; क्योंकि पुत्र-पौत्रादिकी परम्परासे व्यक्तिका इस लोकमें सतत नाम बना रहता है। श्रौत-स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानसे पितृलोककी प्राप्ति होती है। देवोपासनासे देवलोकोंकी प्राप्ति होती है। अतः जिनको इस लोक या परलोकके सुख-भोग इष्ट हैं वे लोकमें स्त्री, पुरुष, धन आदिकी प्राप्तिके लिए लौकिक कर्मोंका आश्रय लेते हैं तथा पारलौकिक सुखकी कामनासे श्रौत-स्मार्त कर्म और देवोपासनाका आश्रय ग्रहण करते हैं।

परन्तु जिनको अजर-अमर नित्य आत्मलोक ही इष्ट है उनको उन लौकिक-पारलौकिक कर्मोंके आश्रय-ग्रहणकी कोई आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। यही बात वृहदारण्यक श्रुति बतलाती है।

किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः। (बृहदा. 4.4.22)

अर्थात् जिन हमको यह आत्मलोक ही अभीष्ट है वे हम प्रजा उत्पन्न करके भला क्या करेंगे। अतः ब्रह्मात्मैक्य विज्ञानपूर्वक समस्त ऐषणाओंका त्याग ही मुमुक्षु जिज्ञासुका कर्त्तव्य है। ऐषणायें तीन प्रकारकी प्रसिद्ध ही हैं— पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। जन्मजन्मान्तरके कर्म संस्कारके परिपाकसे मनुष्यके हृदयमें ऐषणायें पहलेसे ही रहती है। ऐसा नहीं है कि बाहर तत्तद्सम्बन्धिनी विषयोंके सम्पर्कसे उन ऐषणाओंका जन्म होता है। अतः दीर्घकालतक किये जानेवाले पुरुषार्थके फलस्वरूप ही उनका क्षय होता है;

सहसा परिस्थिति बदलनेसे उनका शमन नहीं होता। नियन्त्रण, संयम, विवेक, विचार, सत्पुरुषोंका संग, उदात्तीकरण, निरोध, परिस्थिति परिवर्तन आदि अनेक उपाय बतलाये गये हैं जिनसे ऐषणाओंका क्षय हो जाता है; किन्तु उनका नाश नहीं होता। तत्त्वज्ञानसे उनका आत्यन्तिक विनाश हो जाता है; परन्तु उसके लिए भी पहले उनका इतना क्षय आवश्यक होता है कि वह तत्त्वज्ञानमें बाधक सिद्ध न हों। अतः सावधानीपूर्वक ऐषणाओंका त्याग करते हुए तत्त्वविज्ञानके लिए अथवा तत्त्वविज्ञानके अनन्तर जीवन्मुक्ति की सिद्धिके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए।

इस उपनिषद्में ऐसा ही कोई विरक्त शिष्य सद्गुरुके सम्मुख विधिवत् उपस्थित होता है और 'केनेषितम्' इत्यादिके द्वारा प्रत्यगात्माके सम्बन्धमें प्रश्न करता है और गुरुजी उसका उत्तर केनोपनिषद्के रूपमें देते हैं। यह प्रश्नोत्तर शैली सर्व उपनिषदोंमें उपलब्ध होती है; क्योंकि ब्रह्मविद्याका विषय सूक्ष्म है, वह इस शैलीसे सुगमतापूर्वक समझाया जा सकता है। दर्शनशास्त्रकी तार्किक शैली यहाँ अनुपयोगी सिद्ध होती है; क्योंकि स्वयं श्रुति और सूत्रमें तर्ककी उपयोगिताका खण्डन किया गया है–'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ. 1.2.9)=यह ब्रह्मात्मैक्य बुद्धि तर्कसे प्राप्त नहीं की जा सकती; 'तर्काऽप्रतिष्ठानात्' यहाँ तर्ककी अप्रतिष्ठा है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (छा. 6.14.2)=आचार्यवान् पुरुष ही ब्रह्मको जानता है।

कर्म, उपासना और योग–ये ब्रह्मविद्याके परम्परा साधन हैं। विवेक, वैराग्य,षट्सम्पत्ति और मुमुक्षता–माने साधन-चतुष्टय ब्रह्मविद्याके बहिरङ्ग साधन हैं। गुरूपसत्तिपूर्वक वेदान्तका श्रवण, मनन और निदिध्यासन अन्तरङ्ग साधन हैं और तत्त्वमस्यादि महावाक्य जन्य अखण्डार्थधी अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति अविद्या निवृत्तिका साक्षात् साधन है। अविद्या निवृत्ति होते ही आत्माकी स्वयं सिद्ध ब्रह्मताका प्रकाश हो जाता है। इसीका नाम ब्रह्मज्ञान है।

किसी-किसीको श्रवणमात्रसे ही ब्रह्माकारवृत्तिका उदय हो जाता है, परन्तु सामान्यतः मनन और निदिध्यासनके पश्चात् ही उदय होता है। मनन और निदिध्यासन भी श्रवणानुगामी ही होते हैं। अतः ब्रह्मज्ञानका मुख्य साधन श्रवण ही माना गया है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गीता 4.34)

'उस तत्त्वको विनयपूर्वक प्रणाम, जिज्ञासा और सेवाके द्वारा तत्त्वदर्शी ज्ञानीपुरुषोंसे जानो। तब वे तुम्हारे प्रति उसका उपदेश करेंगे।'

जिज्ञासापूर्वक श्रवण, युक्तिपूर्वक श्रुत अर्थका मनन और अध्यवसाय-पूर्वक श्रुत और मत अर्थमें बुद्धिका निश्चय–यही तत्त्वज्ञानका क्रम है।

मोक्ष ज्ञानसे ही सिद्ध होना चाहिए और किसी प्रकार नहीं–ऐसा निश्चय करके शिष्य गुरुजीसे प्रश्न करता है–

हे गुरुदेव! केन–किसके द्वारा 'इषितं' इच्छित होकर, यह हमारा मन अपने विषयमें–संकल्प-विकल्पमें 'पतति'–गिरता है? क्या इच्छा करनेवाले और मनके बीचमें कोई और भी कर्त्ता है जो इसको इच्छाके विपरीत विषयोंमें भी भेज देता है? मन्त्रमें 'इषितम्' और 'प्रेषितम्' में एक ही इच्छार्थक धातु 'इष्' है परन्तु 'प्र' उपसर्गके प्रयोगसे ये दो प्रश्न बन जाते हैं–1. मनमें इच्छाका कर्त्ता कौन है? तथा 2. मनकी क्रियाशक्तिका हेतु वही इच्छा करनेवाला है या कोई अन्य है? माने मनका प्रेरक कौन है? अतः शिष्यका पहला प्रश्न है कि मन किसकी इच्छासे और किससे प्रेरित होकर अपने विषयोंमें जाता है? ('पतति'से यह ध्वनि निकलती है कि मन कभी-कभी अनिच्छापूर्वक भी गति करता है।) यह तो प्रसिद्ध ही है कि इच्छा, वाक् और कर्म इस देहादि संघातका और मनका प्रेरक है; परन्तु क्या यह प्रेरकभाव इसी देहमें है अथवा इस संघातसे भिन्न किसी स्वतन्त्र वस्तुमें है और वह इच्छामात्रसे ही प्रेरक है या उसकी कोई अन्य प्रक्रिया है? यह शंका है।

इसी प्रकार शिष्यका दूसरा प्रश्न है कि 'केन युक्तः' किसके द्वारा नियुक्त होकर, प्रेरित होकर 'प्रथमः प्राणः प्रैति'–यह प्रथम प्राण अपने व्यापारमें प्रवृत्त होता है? शरीरकी सभी चेष्टाएँ प्राणसे ही होती हैं और बिना प्राणके नहीं होतीं। अतः महत्त्वमें प्रथम होनेके कारण प्राणका विशेषण यहाँ 'प्रथम' दिया है।

तीसरा प्रश्न है–'केन इषितां=किसके द्वारा इच्छित होकर 'वाचम् इमां वदन्ति'=इस शब्दमयी वाणीको बोलते हैं?

चौथा प्रश्न है--'चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति'=आँख और कानको अपने-अपने विषयोंमें कौन देवता नियुक्त और प्रेरित कर रहा है?

वाणी समस्त कर्मेन्द्रियका उपलक्षण है। इसी प्रकार चक्षु, श्रोत्र समस्त ज्ञानेन्द्रियोंका और मन पूरे अन्तःकरणका उपलक्षण है। प्राण अलगसे है ही। अतः सब मिलाकर एक ही प्रश्न है कि शरीरमें प्राण, कर्मेन्द्रियाँ, और अन्तःकरणकी विविध चेष्टाओंके मूलमें इच्छा और प्रेरणा प्रदान करनेवाला कोई एक है या अनेक हैं। एक है तो वह कौन है?

प्रश्नकर्त्ता आध्यात्मिक तत्त्वका जिज्ञासु है। इच्छा करनेवाला स्वयं 'मैं' हूँ—यह सामान्य बोध उसको है, परन्तु शरीर अपनी इच्छानुसार नहीं चलता। अतः मालूम पड़ता है कि असली इच्छा करनेवाला और प्रेरक मुझसे भिन्न कोई अन्य है। इस संशयके आधारपर ही ये चार प्रश्न बनते हैं।

'मैं' अध्यात्म है। 'मैं'से भिन्न या तो कार्यात्मक यह देहादि संघातरूप जगत् है या फिर इनका कल्पित कारण प्रकृति या माया है—यह अधिभूत है; अथवा मैंसे भिन्न कोई चेतन देवता हैं या उनका भी जो ईश्वर है वह है—यह अधिदेव है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवकी जड़ीभूत भिन्नताका आग्रह तथा उनके अभेदस्वरूप ब्रह्मतत्त्वका अज्ञान ही इन प्रश्नोंको जन्म देता है। अतः गुरुदेव पहले मैं और ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करते हैं। यह प्रथम और द्वितीय खण्डका विषय है। मूलप्रेरक इन्द्रियों आदिके अनेक अधिष्ठातृ देवता नहीं हैं। बल्कि एक ही (ईश्वर) है—इसका प्रतिपादन तृतीय और चतुर्थ खण्डमें है। उसी ब्रह्मका आध्यात्मिक और आधिदैविक दर्शनका निरूपण करके उनकी एकता चतुर्थ खण्डमें बतलायी है। अन्तमें ब्रह्मविद्याकी धारणासे पूर्वके कुछ सहायक साधनोंका वर्णन करके उपनिषद्‌की समाप्ति होती है।

आइये, अब शिष्यके प्रश्नोंके जो उत्तर गुरुदेवने केनोपनिषद्‌में दिये हैं उनको परमपूज्य महाराजश्रीके प्रवचनोंके माध्यमसे ग्रहण करें।

●

मन्त्र : 2

गुरुदेवके उत्तर-जो कानका कान है

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।

जो श्रोत्रका श्रोत्र है, मनका मन है, वाणीकी वाणी है, प्राणका प्राण है, नेत्रका नेत्र है-धीर पुरुष अपवाद करके, उसका तादात्म्य छोड़कर इस दृश्य लोकसे मुक्त हो जाते हैं और अमृत हो जाते हैं।

तो, बात यह पूछी गयी थी कि मनको भेजनेवाला कौन है, प्राणको भेजनेवाला कौन है, वाणीको भेजनेवाला कौन है और नेत्र और श्रोत्रको भेजनेवाला कौन है? इन प्रश्नोंका जैसे उत्तर देना चाहिए था, वैसे उत्तर नहीं दिया हुआ है। सीधे ही नाम ले लेना चाहिए था कि अमुक देवता बैठा हुआ है और वह भेज देता है। ऐसे भी नहीं कहा कि हाथमें वसुला लेकरके जैसे कोई लकड़ीको चीरता है, दाँती लेकरके अन्नको काटता है, ऐसे ही जो आँखसे देखनेवाला है सो आँखको भेजता है; जो कानसे सुननेवाला है सो कानको भेजता है। यह तो उपनिषद् है, इसमें तो एक विशिष्ट बात बतलानी है।

आप देखो, जिसके आँख नहीं है, ऐसे शरीरमें भी ज्ञान तो देखनेमें आता है। जैन-शास्त्रमें तो इसका बड़ा भारी निरूपण है-एक इन्द्रिय वाले प्राणी होते हैं, दो इन्द्रियवाले प्राणी, तीन इन्द्रियवाले प्राणी, चार इन्द्रियवाले प्राणी, पाँच इन्द्रियवाले प्राणी होते हैं। सबके पाँच ही इन्द्रियाँ नहीं होतीं! उद्भिज्जोंमें ज्ञान तो होता है, चेतना तो होती है, परन्तु इन्द्रियाँ प्रकट नहीं होती हैं; उनके आँख कहाँ होती है? यह आजकल सारी सृष्टिमें जो लोग जड़से चेतनका विकास मानते हैं, वे बिल्कुल उल्टा समझते हैं; पहले इन्द्रिय बनती है तब ज्ञान आता है-यह सिद्धान्त ही गलत है।

आओ, इस बातपर विचार करें कि किसी प्राणीके आँख होती है और किसीके नहीं होती, पर ज्ञान तो उसमें होता है-एक बात; मनुष्य में ही कोई आँखवाला होता है कोई अन्धा होता है, पर उसमें भी ज्ञान होता है-दूसरी बात और किसीकी आँख कौड़ीकी तरह होती है, किसीकी

कमलके पत्तेकी तरह होती है, किसी-किसीकी आँख मटरकी तरह होती है–आँखोंकी शकल अलग होती है पर रूप तो सब देखती है। भँवरा भी रूप देखता है और बिल्ली भी रूप देखती है, हरिण भी रूप देखता है, मनुष्य भी रूप देखता है पर, आँखें सबकी अलग-अलग ढंगकी होती हैं–किसीकी मन्दी होती है, किसीकी तीक्ष्ण होती है, किसीकी होती ही नहीं है, परन्तु ज्ञान तो सबमें होता है–

तीसरी बात, इसका मतलब यह हुआ कि आँखकी बनावटके साथ ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं है; किसीका कान दूर तक सुन लेता है और किसीका कान मन्दा सुनता है, कोई बहरा होता है परन्तु ज्ञान तो सबको होता है। इसी प्रकार किसीकी नासिकामें गन्ध मालूम पड़ता है, किसीकी नासिकामें नहीं मालूम पड़ता है–कोई नाकवाले प्राणी होते हैं, कोई नहीं होते हैं; परन्तु ज्ञान तो सबमें होता है। आत्मा नाकके द्वारा सूँघनेवाला है, आँखके द्वारा देखनेवाला है, कानके द्वारा सुननेवाला है–यह बात कहना अभीष्ट नहीं है। (क्योंकि यह तो सामान्यतः सभीको ज्ञात है। उपनिषद्को तो विशिष्ट बात समझानी है।)

इन्द्रिय, प्राण, मन आदि अन्तःकरण और इन सबका संघात यह देह–इन सबका एक अभिमानी 'मैं' जीवात्मा हूँ, यह बात अध्यात्मका जिज्ञासु शिष्य जानता है। वहीं 'मैं' उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छा करता हूँ और इनको इनके व्यापारोंमें नियुक्त करता हूँ–यह भी वह जानता है। किन्तु बहुत बार ऐसा होता है कि इच्छाके अनुसार चेष्टा नहीं होती और चेष्टाके अनुसार परिणाम नहीं होता। अतः यह मालूम पड़ता है कि इच्छा करनेवाला 'मैं' और इन्द्रिय आदिका प्रेरक या नियोक्ता अलग-अलग है। फिर यह भी प्रसिद्ध ही है कि प्रत्येक इन्द्रियका अधिष्ठातृ देवता पृथक्-पृथक् है। अतः उपनिषद्का मूल प्रश्न यह है कि अध्यात्म 'मैं' और अधिदैव देवतागण या उनका भी नियन्ता ईश्वर-ये अलग-अलग हैं या एक ही हैं? अतः उपनिषद्को जो उत्तर देना है वह आत्मा 'मैं' और अधिदैव ईश्वरकी पारमार्थिक एकताका प्रतिपादक उत्तर देना है–जिस एकताके ज्ञानसे आत्मासे भिन्न सत्ता ही नहीं रहती, फिर नियम्य-नियामक भावकी पृथक् सत्यता तो रह ही कहाँ सकती है? उस समय

प्रश्न ही समाप्त हो जायेंगे। उत्तर प्रश्न का पेट भरनेके लिए नहीं होता, प्रश्नका पेट फाड़नेके लिए होता है।

आत्मामें देखने, सुनने, बोलने, सोचने और चेष्टा करनेका कर्तृत्व नहीं है। यद्यपि सामान्यतः ऐसा मालूम पड़ता है। यह आत्माका औपाधिक स्वरूप है, उसके निरुपाधिक स्वरूपमें कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं है। जैसे (बिजली) हीटरमें आकर गरम कर देती है, रेफ्रिजरेटरमें आकर ठण्डा कर देती है, पंखेमें आकर हवा फेंकती है—तो बिजली एक है, उसकी क्रिया अलग-अलग है; वैसे आत्मा एक है, इन्द्रियाँ अनेक हैं। अतः उसकी अनेक क्रिया मालूम पड़ती हैं, अच्छा कहो—बिजलीमें कर्तृत्व है कि नहीं? बिजलीमें कर्तृत्व नहीं है, धातुमें कर्तृत्व नहीं होता, अहंकारमें कर्तृत्व होता है। तो जो चेतन है—वह चिद् धातु है; वह अहं कर्त्ता ऐसा कहनेवाला कर्त्ता नहीं है, इसलिए हाथमें हँसिया लेकर जैसे अनाज काटा जाता है या जैसे चाकू लेकर सब्जी काटी जाती है वैसे वह कर्म नहीं करता है, वह तो केवल प्रकाश-मात्र देता है और यन्त्रके अनुसार क्रिया होती है।

तो यन्त्र नेत्रका अलग, कानका अलग, मनका अलग, मनसो मनः—यह हृद्-यन्त्र हुआ—यहाँ मन और बुद्धिको एक करके मन कहा गया है। अब हृदय-यन्त्र भी वासनावान होता है, तो जिसके चित्तमें जैसी वासना है वैसा ही चेतन मालूम पड़ता है। यदि शान्ति की वासना है तो चेतनके सम्बन्धसे हृदय शान्त हो जायेगा और काम-वासना या क्रोध-वासना है तो हृदय विक्षिप्त हो जायेगा और मोह है तो मूढ़ हो जायेगा। पर यह मोहकी दशा या विक्षेपकी दशा या शान्तिकी दशा—यह अन्तःकरणमें होगी, यह चेतनमें नहीं होगी, तो आत्मा माने मनकी उपाधिको स्वीकार करके देखनेवाला नहीं, मनकी उपाधिसे तादात्म्यान्न होकर मनके कामको सुख और दुःखको अपना माननेवाला कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ वह आत्मा है। लेकिन, यह बात मनकी उपाधिको स्वीकार करके ही होती है, इसलिए आत्मा श्रोत्रकी उपाधिसे श्रोता होता है—'एष एव हि श्रोता'—यही नेत्रकी उपाधिसे द्रष्टा होता है, यही जिह्वाकी उपाधिसे रसयिता होता है—चीज बिलकुल एक ही है—यही नासिकाकी उपाधिसे घ्राता होता है, स्पर्शकी उपाधिसे स्पृष्टा होता है, हाथकी

उपाधिसे आदाता होता है, पाँवकी उपाधिसे गन्ता होता है। इसीप्रकार तत्-तत् इन्द्रियोंकी उपाधिसे उसमें तद्वत्ता भासती है, तद्वान होना भासता है। परन्तु वह तद्वान होता नहीं है, अन्तःकरणवान होता नहीं है।

तो यहाँ बतलानेकी जो शैली है उसको समझना है। शांकर भाष्यका यह सार-सार मैंने सुना दिया—यह प्रश्न उठाया है भाष्यमें कि—

असावेवविशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुक्त इति वक्तव्ये, नन्वेतदननुरूपं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति नैव दोषः।

ये कहते हैं कि कहना तो यों चाहिए कि यह जो आत्मा है वह इन इन्द्रियोंसे विशिष्ट होकर इनको नियुक्त करता है—ऐसा कहना चाहिए कि वह आँखके द्वारा देखनेवाला है, कानके द्वारा सुननेवाला है, इत्यादि; पर बोले कि नहीं-नहीं, ऐसा नहीं, वह कान-का- कान है माने जिस ज्ञानके सम्बन्धसे कान-कान बनता है—कान अपने विषयको ग्रहण करता है, वह प्रेरक है। परन्तु यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि आत्माका कोई विशेष रूप और किसी तरह नहीं जाना जा सकता। एक आदमीने पूछा कि भाई, आत्मा जब एक ही है, तो इस समय पितृलोकमें क्या हो रहा है? यह बताओ। तो बोले कि ठीक है, पितृलोकका ज्ञान इस आत्माको होता है, लेकिन, चन्द्रमाकी उपाधिसे होता है; बोले कि अच्छा, कलकत्तामें इस समय क्या हो रहा है? बताओ—तो कलकत्ताकी उपाधिसे कलकत्ताका ज्ञान होगा। आत्मामें स्वयंका ज्ञातत्व नहीं है, यह बात वेदान्तकी ध्यानमें आने योग्य है। आत्मा तो चिद्-धातु है और उसमें विषयविशेषका स्थान-विशेषका या काल-विशेषका जो ज्ञातृत्व है वह तत्-तत् उपाधिसे है—यहाँ यदि प्रातःकाल है तो प्रातःकाल का ग्रहण होगा और यदि यहाँ सायंकाल है तो सायंकालका ग्रहण होगा; परन्तु दूसरी जगह इसी समय प्रातःकालका ग्रहण होगा, तीसरी जगह मध्याह्न कालका ग्रहण होगा, चौथी जगह रात्रि अथवा अर्ध-रात्रिका ग्रहण होगा। तो, तत्-तत् स्थानकी उपाधिसे तत्-तत् कालकी उपाधिसे, तत्-तत् इन्द्रियकी उपाधिसे, तत्-तत् वस्तुओंकी उपस्थितिकी उपाधिसे यह भेद-प्रकारक ज्ञान होता है; और आत्मा जो है वह तो ज्ञानमात्र है, जैसे सूर्यकी रोशनी सबके लिए है और सबकी आँख उससे अलग-अलग देखती है।

अच्छा, एक जो ब्रॉडकास्ट करनेवाला स्टेशन होता है, वहाँसे रेडियोका सब ब्रॉडकास्ट होता है, संगीत भेजे जाते हैं, तो माना कि अमेरिकासे या रूससे भेजा गया और मुम्बईमें सब घरोंमें सुनायी पड़ा तो आपका क्या ख्याल है कि वह एक साथ ही सबको सुनायी पड़ती है? एक साथ सबको नहीं सुनायी पड़ता, उसमें समयका इतना सूक्ष्म अन्तर होता है कि मनुष्यकी बुद्धि जल्दी उसको ग्रहण नहीं करती।

समझो कि एक जहाज समुद्रमें किनारेपर खड़ा है और दूसरा एक जहाज दो फर्लाङ्ग दूर पानीमें खड़ा है; दोनोंके भोंपू बिलकुल घड़ी देखकर एक ही समयमें बजते हैं; तो क्या आपके कानमें दोनोंका भोंपू एक साथ आता है? एक साथ नहीं आता है। एक ही सेकेण्डमें दोनोंका बजना शुरू हुआ, लेकिन जो पास है, किनारे पर है उसकी आवाज जल्दी आती है और जो दो फर्लाङ्ग दूर पानीमें है उसकी आवाज थोड़ी देरसे आती है–ग्रहण नहीं होती; कहनेका अभिप्राय यह कि यह जो संसारका ज्ञान है, यह जो हम सब लोगोंको शब्दका, स्पर्शका, रसका, रूपका ज्ञान होता है इसमें देशकी दूरी और कालकी देरी और इन्द्रियोंकी शक्तिकी विशेषता–इन सबको लेकर प्रपञ्चका ज्ञान होता है, लोग अपनी इन्द्रियोंके ज्ञानको ही दूसरेके ज्ञानपर आरोपित करते हैं।

अच्छा, इसी प्रकार प्रियता-अप्रियताको ले लो। तो मनमें वासना होती है, जिस वस्तुको पानेकी वासना होती है वह प्रिय होती है और जिसकी छोड़नेकी वासना होती है वह अप्रिय होती है। अब, एक ही आदमीके बारेमें एकके मनमें प्रिय वासना है और एकके मनमें अप्रिय वासना है, तो एक व्यक्ति दो तरहका लगेगा कि नहीं लगेगा? जिसका प्यारा है उसको देखनेसे सुख मिलेगा, जिसका अप्रिय है उसको दुःख होगा।

यह संसारकी वस्तुओंका जो ग्रहण होता है वह बिल्कुल उपाधिकी अपेक्षासे होता है–एक महात्माके पास कोई सज्जन गये, तो उन्होंने उनको यह बात समझायी कि यह ज्ञान-गत दोष नहीं है, यह इन्द्रियगत दोष है–यह जो भेद हम लोगोंको मालूम पड़ता है यह करण-गत दोष है, ज्ञान-गत दोष नहीं है। उन्होंने कहा–बेटा, तीन गिलास पानी ले आओ; एक गिलास पानी

गरमागरम और एक गिलास पानी बर्फमें ठण्डा किया और एक गिलास पानी मामूली ले आओ और तीनों रख दो सामने। उसने लाकरके रख दिया। फिर बोले कि अच्छा, अपना दाहिना हाथ गरम पानीमें डालो, बायाँ हाथ ठण्डे पानीमें डालो; डाल दिया। पूछा–लगता है न कि एक गरम है, एक ठण्डा है? हाँ, लगता है। अच्छा, अब, बीचमें जो मामूली पानी रखा है उसमें दोनों हाथ डालो एक साथ, तो दाहिने हाथको तो वह पानी ठण्डा लगे और बायें हाथको वही पानी गरम लगे। क्यों? पानी तो एक ही गिलासमें है, एक हाथको गरम और एक हाथको ठण्डा क्यों लगता है? क्योंकि एक हाथ गरम पानीमें रह चुका है और एक हाथ ठण्डे पानीमें रह चुका है! तो ठण्डे हाथको मामूली पानी भी गरम लगता है और गरम हाथको मामूली पानी भी ठण्डा लगता है। तो, वह पानी ठण्डा है कि गरम है? वह पानी न ठण्डा है और न गरम है, अपना हाथ ही ठण्डा और गरम हो गया है जिसके कारण एक ही पानी ठण्डा और गरम भासता है। इसी प्रकार संसारको देखनेका जो हमारा ढंग है उससे यह हमारे दिलमें जैसी गर्मी होती है वैसा दिखता है–जिसके प्रति द्वेष होता है वह बुरा लगता है और जिसके प्रति प्रेम है वह अच्छा लगता है–पाससे देखते हैं तो बड़ा दीखता है और दूरसे देखते हैं तो छोटा लगता है–दूरसे पहाड़ भी छोटा लगता है। यह फोटो लेते हैं न-आपको मालूम है–तो दूरसे फोटो लेनेपर अथवा ऊपरसे फोटो लेनेपर छोटा फोटो आवेगा; किस कोणसे फोटो ले रहे हैं–आजकल लड़कियोंका फोटो खींचकर जब भेजते हैं रिश्तेके लिए तो कुरूपको सुन्दर दिखा देते हैं, नाटीको लम्बी दिखा देते हैं, लम्बीको नाटी दिखा देते हैं–कैमरा धोखा देता है! तो यह जो हमारे पास संसारको देखनेका कैमरा है, शब्दको सुननेके लिए कैमरा है कान, रूपको देखनेके लिए कैमरा है आँख, परन्तु इन सबके भीतर जो प्रकाश है वह 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं' भी वही है और 'चक्षुषश्चक्षुः' भी वही है और 'मनसो मनः' भी वही है, 'प्राणस्य प्राणः' भी वही है और 'वाचो हि वाचम्' भी वही है–तो ये कैमरे अलग-अलग लगे हुए हैं, इनके भीतर जो रोशनी है वह रोशनी एक है! बोले कि भाई, वह रोशनी जो है वह क्या प्रत्येक कैमरेमें अलग-अलग है। कि नहीं, अलग-अलग नहीं आती है, बिलकुल एक ही है, सारी सृष्टिमें

एक ही है। वेदान्त यही बतलाता है–वेदान्तका पहचान करानेका काम यही है कि यह जो देवता है प्रकाशस्वरूप-प्रकाश देवता, यह सबके भीतर बिलकुल एक बैठा हुआ है।

तो अब यह हुआ कि कानका कान माने दूसरा कान नहीं, आँखकी आँख माने दूसरी आँख नहीं, वाणीकी वाणी माने दूसरी वाणी नहीं, प्राणका प्राण माने दूसरा प्राण नहीं–एक अखण्ड आत्मा जो है, वह आत्मा ही कानका कान, आँखकी आँख, नाककी नाक, जीभकी जीभ, त्वचाकी त्वचा, प्राणका प्राण, मनका मन, वाणीकी वाणी है–वही एक आत्मतत्त्व ही है और उसीके प्रकाशसे, उसीकी सत्तासे, उसीके स्वरूपसे ये सारे-के-सारे इन्द्रिय वर्ग, करण-वर्ग प्रकाशित होते हैं और वह केवल एक शरीरमें एक हो सो नहीं है, बल्कि सर्व-शरीरमें ही एक है। तो जब अन्तःकरणकी उपाधिमें अपनेको स्थित करके, माने जब केवल उस उपाधिकी विवक्षासे हम अपनेको बोलते हैं तब उसमें जीवपना आता है और यदि उपाधिको छोड़ दें तो उसमें जीवपना नहीं आता है–फिल्ममें ग्रहण किया हुआ जो फोटो है, उस फोटोकी उपाधिसे फिल्ममें वह आकार है, वस्तुतः वह आकार उसका नहीं है। वेदोंमें एक शब्द आता है–विल्म–यजुर्वेदमें भी यह शब्द है और निरुक्तमें भी इसकी व्याख्या की हुई है–इसको हिन्दीमें 'बाँबी' बोलते हैं–यह शरीर जो है यह आत्माकी बाँबी है, लेकिन बाँबी अलग-अलग होनेसे आत्मा अलग-अलग नहीं है। जबतक प्रत्येक बाँबीको लेकरके एक आत्मा घूमा करता है तबतक उसकी संज्ञा जीव होती है और जब समझ जाता है कि वह बाँबीको छोड़ करके भी रह सकता है और संसारकी सब बाँबियोंमें जो एक ही चेतन भरपूर है वही मैं हूँ तब उसकी संज्ञा अखण्ड आत्मा हो जाती हैं, उसको ब्रह्मात्मा बोलते हैं। वेदान्त इसी आत्माकी अद्वितीयताका वर्णन करता है।

श्रीविद्यारण्य स्वामीकी एक पुस्तक है–वाक्यसुधा। ('दृग्दृश्य विवेक' नामसे इसकी प्रसिद्धि है) उसमें बतलाया है–

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद् दृश्यम् दृक् तु मानसं।
दृश्या धी-वृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥

देखो, कितना सीधा है, कोई दाँव-पेंच नहीं है! वे कहते हैं कि 'रूपं

दृश्यं' यह रूप दृश्य है, तो यह कैसे दिखता है कि आँखसे 'लोचनं दृक्' देखनेवाली आँख हैं; तद् दृश्यं–नेत्र भी दृश्य हैं, दृक् तु मानसं–मनकी उपाधिसे बैठा हुआ आत्मा यह देखता है कि यह मेरी आँख है–यह मेरी तेज आँख, यह मेरी मन्द आँख यह मेरी सुन्दर आँख, यह मेरी कुरूप आँख है–मनमें बैठकरके आत्मदेव सोचते हैं, आँखमें बैठकरके काला, नीला, पीलाका निर्णय करते हैं–'रूपं दृश्यं लोचनं दृक्' यह भी आप जानते होंगे कि जो चीज जिस रंगकी दिखायी पड़ती है असलमें उस चीजमें वह रंग नहीं है, वह तो सूर्यकी जो किरणें है वे उस वस्तुकी उपाधिसे वैसे रंगकी भासती हैं–बगीचेमें आप देखो, एक फूल सफेद रंगका मालूम पड़ेगा, एक पीला, एक लाल, एक नीला। आप दिनमें उद्यानमें जाएँ तरह-तरहके रंग आपको दिखेंगे, काले गुलाब भी होते हैं, हरे गुलाब भी होते हैं, पीला, नीला, लाल गुलाब भी होता है–सब रंगका गुलाब होता है–आप बगीचेमें जाकर देख लीजिये और फिर अमावस्याकी अन्धेरी रातमें जब कोई रोशनी न हो तब जाकरके देखिये, तो क्या दिखेगा? बिलकुल घुप्प अन्धेरा! तो, वस्तुओंमें रंग जो है वह सूर्यकी रोशनीसे दिखता है, वस्तुओंमें अपना रंग नहीं होता, वे स्वयं-प्रकाश नहीं हैं, पर-प्रकाश्य हैं बिलकुल। इसी प्रकार यह लाल, नीला, पीला जो है वह सूर्यका प्रकाश और वस्तुकी उपाधि और नेत्र-रूप करणसे मालूम पड़ता है, परन्तु हमारी आँख कैसी? शीशेमें कभी-कभी आप देख लें; तो आँखें बड़ी-बड़ी हैं कि छोटी-छोटी हैं–जिनकी आँख छोटी होती है न, वे आँखके कोनेपर काला डण्डा खींच देते हैं ताकि आँख देखनेमें बड़ी लगे। बड़ी दिखानेके लिए लोग बरौनी पर काला रंग लगा देते हैं, भौहोंको धनुषाकार बना देते हैं–बोलेंगे आहा-हा–हमारी आँख बहुत सुन्दर हैं–अब वह डण्डा भी उधार, वह काला रंग भी उधार और भौहोंका धनुषाकार होना भी उधार! उधार सुन्दरता लेकरके अध्याहार करके अपनी आँखको सुन्दर बनाया और बोलते हैं हमारी आँख बड़ी सुन्दर। उसको हमारी मानेंगे–हमारी आँख बड़ी सुन्दर! रंग पावडरका और अपनेको मानते हैं सुन्दर। रंग लिपिस्टिका और मानते हैं अपनेको सुन्दर! यह उधार माल है, अपनेमें सुन्दरता नहीं है, यह उधार सुन्दरता है–जैसे तुमने उस डण्डाको और कालिखको और

धनुषाकारको और बड़प्पनको अपना सौन्दर्य माना और वह जैसे झूठा है, ऐसे ही इस आँखको भी अपना मानना झूठा ही है–यह आँख भी साथ देनेवाली नहीं है–शरीर रहते ही आँख खराब हो जाती है, आँख मन्दी हो जाती है, आँखमें रोग हो जाता है, लेकिन जो ज्ञान है वह रहता है! तो यह मानसकी उपाधिसे आत्मा आँखके बारेमें मेरी है, असुन्दर है, सुन्दर है, बड़ी है–यह बात सोचता है।

अब 'दृश्याधीवृत्तयः' -मनकी वृत्तियाँ भी दिखती हैं बुद्धिसे। यह 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' में जो पहला श्रोत्र है उसको मनोवृत्तिके रूपमें देखो–श्रोत्र भी मनोवृत्ति है और श्रोत्रका श्रोत्र माने जो दूसरा श्रोत्र है वह ज्ञान है; इसी प्रकार चक्षु भी मनोवृत्ति है और जो चक्षुका चक्षु है वह ज्ञान है। इन्द्रिय और मनमें थोड़ा फर्क तो होता है लेकिन वह आपको पीछे सुनावेंगे; क्योंकि आजकल लोग कायदेसे तो कोई बात सीखते नहीं हैं, बड़ी हड़बड़ी रहती है, जल्दी सुनाओ! नारायण, पहले जब हम गृहस्थाश्रममें रहते थे तब ब्याह करानेके लिए जाया करते थे–हमने सैकड़ों ब्याह कराये होंगे। विवाह-पद्धति हमको कण्ठस्थ थी; यज्ञोपवीत-संस्कार कराये हैं–तो ब्याह करानेके लिए जाते, तो लोग हमसे कहते–महाराज, जरा ब्याह जल्दी-जल्दी करा देना, क्योंकि लोगोंको खिलानेमें बड़ी देर हो जाती है। अरे बाबा! ब्याहके लिए ही तो सारे बाराती आये हैं और तुम ब्याह ही बिगाड़ दोगे तो फिर बारातको खिलानेका क्या मजा है–संस्कार तो ठीक-ठीक होना चाहिए। ब्याह-संस्कार तो बहुत बढ़िया चीज है। है तो यह पति-पत्नीका सम्बन्ध=वर-वधूका सम्बन्ध है; परन्तु, यह भोगसे मुक्तिका तरीका है; विवाह भोग नहीं योग है, यह आसक्तिमें भक्ति है, यह सिमटनेमें विस्तार है–बड़ा विलक्षण है। इसी प्रकार यह जो वेदान्त है इसमें जो लोग जल्दी करते हैं वे वेदान्त सीख नहीं पाते!

देखो, यह जो आँखका गोलक है, जिसको हम लोग आँख कहते हैं, यह पंचीकृत पञ्चभूतके तामस अंशसे बना हुआ है और जो इसमें देखनेवाली ज्ञान-कला है, वह कला तो सात्त्विक तन्मात्रासे बनी हुई है–अपञ्चीकृत-पञ्चभूतसे बनी हुई है। आपने कहीं भले सुन लिया हो शिवोहम्का गीत–कि

शिवोहम्‌का डंका बजाना पड़ेगा–शिवोहम्-शिवोहम् शिवोहम्–बोले–ठीक है, परन्तु, यह आँखमें आँखकी जो बाहरकी पुतली है जिसका डाक्टर लोग आपरेशन करते हैं, वह और जो देखनेकी चक्षी है, चक्षुरिन्द्रय उसमें क्या फर्क है–इसपर आपने कभी सोचा? तो यदि यह आँखका गोलक निकाल लिया जाये, जिसको डाक्टर लोग बदल देते हैं, तो इसमें मिट्टी है, इसमें पानी है, इसमें गर्मी है, इसमें गति है और इसमें अवकाश भी है–छिद्र भी है। पाँचोंभूत इसमें मिले हुए हैं-लेकिन, देखनेवाली जो ज्ञानशक्ति है उसमें पाँचों नहीं हैं, उसमें केवल रूपको देखनेकी शक्ति है इसलिए तेजस-तत्त्वका सात्त्विक अंश है। इसी प्रकार कानमें जो सुननेवाली इन्द्रिय है उसमें केवल आकाशका–केवल आकाशका सात्त्विक अंश है। तब आँखमें, कानमें ज्ञानकी वृत्ति है–ज्ञानकी वृत्ति सात्त्विकतामें होती है, तामसमें नहीं होती। ज्ञानकी वृत्ति माने आत्माका प्रकाश ग्रहण करके वह शब्दको सुन सके, ऐसी योग्यता।

अच्छा देखो, शब्द तो अकेला होता है और उसको कान अकेला ग्रहण करता है। लेकिन धरतीकी ओर देखो–धरतीमें आग भी है, पानी भी है, हवा भी है, आसमान भी है लेकिन, नाक उनमें-से केवल गन्धको ही ग्रहण करती है, स्वादको नहीं और आँख केवल रूपको ही ग्रहण करती है, स्वाद और गन्धको नहीं। तो, यह ऐसा क्यों होता है? गुलाबके फूलमें तो पाँचों हैं–शब्द, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श सभी हैं, लेकिन नाक उसमें-से केवल गन्ध ही ग्रहण करती है, रस नहीं और जिह्वा केवल रस ही ग्रहण करती है रूप नहीं–इसका अर्थ हुआ कि गुलाब तो पाञ्चभौतिक है और इन्द्रियाँ हमारी एक भौतिक हैं। एक भौतिक हैं इन्द्रियाँ अपञ्चीकृत पंचमहाभूतसे; और वह एक भौतिक भी सात्त्विक हैं तभी उनमें ज्ञानकालका आगमन होता है।

तो 'दृश्याधीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते'–यह मनकी जो वृत्तियाँ हैं वे बुद्धिके द्वारा जानी जाती हैं। मनमें पाँचों भूत हैं, बल्कि मनमें पाँचसे भी कुछ ज्यादा हैं–वह कैसे हैं? देखो, मनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पाँचोंका अनुभव होता है–इनकी चाहे जितनी किस्में हों–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी जातियाँ–जैसे अनेक शब्द और शब्दत्व–अनेक रूप और रूपत्व इत्यादि उनकी जातियाँ भी ग्रहण होती हैं और उनका अभाव भी ग्रहण होता

है। उनका प्रभाव भी ग्रहण होता है–इसका अभिप्राय क्या हुआ? यह कि मनमें जो आभास है वह तो विषयको ग्रहण करता है और जो कूटस्थ है वह पाँचोंके अभावको प्रकाशता है। बाहरी शब्दादिकी समस्त जातियाँ आभास-भास्य होती हैं और उनका अभाव साक्षी-भास्य होता है। आभास-भास्य होना और साक्षी-भास्य होना-ये दो स्थितियाँ हैं। हमलोग दुनिया की सब चीज जानते हैं; लेकिन हमारे भीतर बैठकर ये आत्माराम किस प्रकार दुनियाको जानते हैं–इस पद्धतिको जाननेका नाम अध्यात्मविद्या है।

अच्छा, मन जो है वह पञ्चीकृत-पञ्चमहाभूत है कि अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत है? बहुत लोगोंको तो यही नहीं मालूम होगा कि अपञ्चीकृत-पञ्चीकृत क्या होता है? देखो, आठ आना पृथिवी और दो-दो आना शेष चार इसका नाम पञ्चीकृत पृथिवी हुआ और आठ आना जल और दो-दो आना शेष चार–इसका नाम पञ्चीकृत जल हुआ; माने एकमें जब पाँचों मिले हुए हों तो उसको पञ्चीकृत बोलते हैं और एकमें जब पाँचों न मिले हुए हों बिलकुल शुद्ध दशा हो तो उसको अपञ्चीकृत बोलते हैं। तो ये जो आँख, नाक, कान इन्द्रियाँ हैं ये अपञ्चीकृत हैं; क्योंकि ये एक-एकको ही ग्रहण करते हैं, पाँच-पाँचको ग्रहण नहीं करते हैं और शरीर पञ्चीकृत हैं। अब बताओ–मन पञ्चीकृत है कि अपञ्चीकृत? यदि कहो कि मन तो पाँचोंको ग्रहण करता है तो पञ्चीकृत है–तो बोले, ना-ना वह तो ज्ञानात्मक है। तब कहो कि पञ्चीकृत है तो पाँच कैसे ग्रहण करता है? बोले–बारी-बारीसे ग्रहण करता है, एक साथ ग्रहण नहीं करता। एकबार शब्द आवेगा, एकबार स्पर्श आवेगा, एकबार गन्ध आवेगा, एकबार रस आवेगा, एकबार रूप आवेगा–एक साथ दो ज्ञान मनमें नहीं हो सकता–यह जो आपको मालूम पड़ता है कि हम सबको देख रहे हैं और सबको समझ रहे हैं, तो जरा मनमें नाम लेना शुरू कीजिये, सबका नाम एक साथ मनमें नहीं आवेगा–एक-एकका नाम आवेगा। कहो कि हम देख तो सबको रहे हैं। बोले–कि नहीं, सबको नहीं देख रहे हो, मन तुम्हारा इतनी तेजीसे दौड़ता है कि झूठ-मूठ ही मालूम पड़ता है कि सबको एक साथ देख रहे हैं–दो उँगुली भी एक साथ नहीं दिखती है, दो चीज एक साथ मनमें नहीं आती है। मनका चिह्न ही यही है–एक साथ दो ज्ञानोंका अनुदय ही मनकी

पहचान है। वह इतनी पाँच उँगलियाँ एक साथ दीखती हैं, पर मन इतनी जल्दी-जल्दी दौड़ जाता है पाँचोंपर कि कालका अन्तर मालूम नहीं पड़ता। अच्छा देखो, किसीने कहा घट—ये दो अक्षर घट माने घड़ा—हम एक साथ 'घट' बोलते हैं; परन्तु पहले तुम 'घ' बोलते हो और बादमें 'ट' बोलते हो—एक साथ कैसे हुआ? एक साथ नहीं हुआ। तो यह मनीराम जो हैं इनकी विशेषता यही है कि जब एकपर मनको टिकाते हैं और दूसरा मनमें नहीं आता है तो समाधि लग जाती है। इस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और इनके भिन्न-भिन्न प्रकार—बाहरके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो हैं वे आभास-भास्य है और भीतरके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो सूक्ष्म शरीरमें होते हैं वे साक्षी-भास्य है और उनका अभाव समाधिमें जो है वह भी साक्षी-भास्य है।

अब यह साक्षी कौन है? कि साक्षी बुद्धि वृत्तियोंका भी साक्षी है; परन्तु वह स्वयं दृङ्मात्र है, कभी दृश्य नहीं होता—

दृश्या धी-वृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते।

'दृश्या धीवृत्तयः'—बुद्धिकी वृत्तियाँ भी दृश्य हैं—किसकी? साक्षीकी। अब फिर देखो—जैसे यह लाउडस्पीकर दीखता है, यह किताब दीखती है—किससे? आँखसे दिखते हैं। अच्छा, अब आँख बन्द कर लो। कर ली, अब किताब तो नहीं दिखती? नहीं दीखती। अच्छा, तुम्हारे आँख है कि नहीं है? आँख तो है। यह कैसे मालूम पड़ता है? कि मनसे मालूम पड़ता है। अच्छा, तो मन है यह तुमको कैसे मालूम पड़ता है? बोले भाई, मन है यह हमको ही मालूम पड़ता है। कि अच्छा, तो तुम्हारे मैं-से मन मालूम पड़ता है। अब यह बतलाओ कि तुम्हारा नैं किससे मालूम पड़ता है? अरे भाई, मैं—तो मैंसे ही मालूम पड़ेगा। 'न तु दृश्यते'—मैं मालूम नहीं पड़ता, मैं दृश्य नहीं होता, वह तो सबका द्रष्टा है, वह तो सबका साक्षी है, वह तो कूटस्थ है।

अब आप सत्ताके बारेमें विचार करो, आप देखो, जैसे पुस्तक है—हम बोलते हैं पुस्तककी सत्ता है, मकानकी सत्ता है, धरतीकी सत्ता है, सूर्य-चन्द्रमाकी सत्ता है—यह बात हम कब बोलते हैं, अथवा कब मानते हैं कि जब हमारे मन और इन्द्रियाँ होवें, मन और इन्द्रियोंसे ही अपनेसे अलग सत्ताका

बोध होता है। अपनेसे पृथक् यदि हम किसी भी चीजको जानेंगे-अन्य सत्ताकी सिद्धि करेंगे वह तभी होगी जब उस सत्ताके और हमारे बीचमें मन और इन्द्रियाँ होंगी, नहीं तो अन्य सत्ताका ज्ञान नहीं हो सकता। तो अन्य सत्ता जो है वह परापेक्ष हुई–सापेक्ष हुई। इन्द्रियाँ होवें तो बाहरकी चीज मालूम पड़े और बाहरकी चीजें होवें, तो इन्द्रियोंसे मालूम पड़े। दोनों एक दूसरेके सापेक्ष हैं। इसको विज्ञानवादकी दृष्टिसे भी देख सकते हैं कि मन होनेसे ही बाहरकी चीजें मालूम पड़ती हैं, और त्रिसत्तावादकी दृष्टिसे भी देख सकते हैं कि बाहरकी चीज होवें तो भीतर मालूम पड़ें–दोनों ठीक हैं। लेकिन अपना-आपा जो है वह क्या मन और इन्द्रियोंके होनेपर ही मालूम पड़ता है? यही 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' है 'मनसो मनः' है। अच्छा, जिस समय इन्द्रियाँ सो जाती हैं उस समय क्या अपना आपा रहता है? बोले–रहता है। अच्छा, जिस समय मन सो जाता है उस समय अपना-आपा है कि नहीं? बोले–है। हम हैं कि नहीं– यह मालूम करनेके लिए आँख, नाक, कानकी जरूरत नहीं है और मनकी भी जरूरत नहीं हैं–क्योंकि देखो, मनमें तो हजार बात उठती है और तुम एक रहते हो; कभी मनमें कोई बात नहीं उठती, तब भी तुम रहते हो, सुषुप्तिके समय कुछ नहीं उठता है, कुछ मालूम ही नहीं पड़ता है तब भी तुम रहते हो। तो, यह जो है आँख, कान, नाकके बिना भी मालूम पड़ता है और मनके बिना भी मालूम पड़ता है और इनके होनेपर तो मालूम पड़ता ही है, वही 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' है, 'मनसो मनः' है–यही मनका भी मन है।

अब कहो कि जरा हम इसको नापना चाहते हैं कि यह कितना बड़ा है, तो बोले कि इसमें तुम्हारा विज्ञान बिलकुल फेल है, नाप नहीं सकते। क्योंकि कालाक्रान्त-वासना, कालाक्रान्त अन्तःकरण, देश-वासनाक्रान्त अन्तःकरण, द्रव्य-वासनाक्रान्त अन्तःकरण भला अन्तःकरणकी सुषुप्ति और अन्तः-करणकी जागृति दोनोंके साक्षी अपने आपको कैसे नाप सकेगा? वह काल-वासनायुक्त अन्तःकरण अपने प्रकाशकी लम्बाई-चौड़ाईका निश्चय कैसे करेगा? वह द्रव्य-वासनाक्रान्त अन्तःकरण अपने प्रकाशककी धातुकी पहचान कैसे करेगा? इसलिए दृश्य-सत्ता सापेक्ष-सत्ता है, यह मिथःसिद्ध सत्ता है। मिथः माने तो आप जानते होंगे–मिथः माने परस्पर, इसीसे मैथुन शब्द बनता

है; इन्द्रिय-आँखसे रूपकी सिद्धि हुई–जो रूपको देखें सो आँख और जो आँखसे दिखे सो रूप और–

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥

(श्रीमद्भाग. 2.10.9)

आँख न हो तो रूपकी सिद्धि न हो और रूप न हो तो आँखकी सिद्धि न हो, परन्तु तीनोंको आँख और रूप तथा इनके अनुग्राहक देवता सूर्यको तीनोंको भी जो जाननेवाला है वह स्वयं प्रकाश आत्मा है। प्रस्तुत प्रसंगमें वही चक्षुषश्च चक्षुः है–वह आँखकी आँख है। आधिभौतिक रूप लाल-पीला-नीला, आध्यात्मिक रूप-नेत्र, रूप तन्मात्रा, सात्त्विक तन्मात्रा और आधिदैविक रूप-सूर्य देवता–इन तीनोंको जो जाननेवाला है वह कौन है कि 'चक्षुषश्च चक्षुः'–वह आँखकी आँख है, वही मनका मन है। तो, अब इसकी लम्बाई-चौड़ाईका पता कैसे चले?

किसीने कहा कि यह अणु है। तो बोले–कि देखो, इसका मतलब यही है न कि मन न होवे तब भी आत्मामें देश रहता है; क्योंकि देशसे परिच्छिन्न हुए बिना कोई अणु कैसे होगा? मन न हो तब क्या देश भासेगा? मन न हो तो क्या लम्बाई-चौड़ाई भासेगी? नहीं भासेगी; सुषुप्तिमें तो लम्बाई-चौड़ाई नहीं भासती है। तब तुम सुषुप्तिके साक्षीमें अणुपना कहाँसे ले आये? दूसरे बोले–भाई, कि आत्मा जो है वह शरीरके बराबर है। कि अच्छा जब आँख नहीं थी, कान नहीं था, मन नहीं था, उस समय साढ़े तीन हाथकी लम्बाई-चौड़ाई आत्मामें है–यह कैसे अनुभव किया तुमने? कल्पना कर ली न! तीसरे बोले–अच्छा, हर आत्मा विभु है। जितने शरीर उतने ही आत्मा और उतने ही विभु। अच्छाजी, तब तो सब विभु आपसमें टकरा जायेंगे! बोले–नहीं, टकराते नहीं हैं, जैसे कि देश-काल विभु हैं पर आपसमें नहीं टकराते हैं। अच्छाजी, ठीक है, आत्मा-आत्मा जब चेतन है, तब एक आत्मा में दूसरे आत्मासे किसकी विशेषता है? बोले–वासनाकी विशेषता; अन्तःकरणकी विशेषता है। परन्तु अन्तःकरण तो उपाधि है, वासनाकी विशेषतासे, उपाधिकी विशेषतासे आत्मामें अनेक विभु होकरके अनेकता कहाँसे आवेगी?

वासना तो चेतनमें लगती नहीं है, अन्तःकरण तो चेतनमें लगता ही नहीं है, तो अन्तःकरणके भेदसे चेतनमें अनेकता कहाँसे आवेगी? कि तब श्रुतिने कहा कि शंका मत करो मेरे भाई, यह आत्मा जो है यह कालसे परिच्छिन्न, क्षणिक नहीं है, अपरिच्छिन्न है, अविनाशी है; श्रुतिने कहा यह देशसे परिच्छिन्न छोटा-छोटा अनेक नहीं है, बड़ा-बड़ा भी अनेक नहीं है; यह द्रव्यसे परिच्छिन्न नहीं है, अद्वितीय है और इसमें दूसरी कोई वस्तु नहीं है। असलमें ब्रह्मके नामसे वेदोंमें, श्रुतियोंमें जिस वस्तुका वर्णन है वह कोई दूसरा नहीं है तुम ही हो यह श्रुति बड़े ढंगसे समझाती है।

देखो, आपको एक चमत्कारकी बात सुनावें—एक ऐसी चीज है जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनोंमें रहती है। देखो, जाग्रत्का धन-दौलत सपनेमें नहीं और सपनेका सुषुप्तिमें नहीं और सुषुप्तिका अन्धकार,स्वप्न और जाग्रत्में नहीं; पर एक ऐसी चीज है जो तीनोंमें रहती है और एक ऐसी चीज है जो सृष्टि, स्थिति, प्रलयसे भी नहीं बदलती है, एक ऐसी चीज है जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड होनेपर भी अनेक नहीं होती है, एक ऐसी चीज है जिसका ओर-छोर नहीं है; एक ऐसी चीज है जिसका प्रथम क्षण (आदि) और अन्तिम क्षण (अन्त) नहीं है; एक ऐसी चीज है जो यहीं है, और तुम पहचानते नहीं हो; एक ऐसी चीज है जो अभी है—दिव्य, अमृत, उसको तुम पहचानते नहीं हो; अरे, यही है, तुम पहचानते नहीं हो! अरे कहाँ है बाबा, दिखाओ तो सही? कि दिखाऊँ क्या, वह तो तुम्हीं हो। है न यह चमत्कार, तो यह जो वेदान्तका चमत्कार है वह यह है कि वह अपूर्व है, वह अनपर है, वह अनन्तर है,वह अबाध्य है। बोले कहाँ है? बोले तुम हो। कौन है? कि तुम हो। कैसा है? कि जैसे तुम हो। और वह नेत्र-श्रोत्रादिके भेदसे भिन्न-भिन्न नहीं है, वह अन्तःकरणादिके भेदसे भी भिन्न-भिन्न नही है, वह देश-काल-वस्तुके भेदसे भी भिन्न-भिन्न नहीं है, क्योंकि ये सारे भेद-मात्र जितने हैं—वे प्रत्यय-गम्य हैं और वह प्रत्ययका भी प्रत्यक् है, इसलिए प्रत्यय और प्रत्ययका विषय उसमें कल्पित हैं।

●

प्रवचन : 2.2

धीर पुरुषको ज्ञान होता है : 'अतिमुच्य धीराः'

यह प्रश्न है कि श्रोत्रका श्रोत्र, कान-का-कान, मन-का-मन, वाणी-की-वाणी कौन है? तो ऐसा मतलब नहीं है कि कानका कान कोई एक दूसरा कान है। इसपर भाष्यमें प्रश्न उठाया है कि–

न ह्यत्र क्षोत्रस्य श्रोत्रान्तरेणार्थः यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरेण।

एक रोशनीको दिखानेके लिए जैसे दूसरी रोशनीकी जरूरत नहीं होती है, वैसे एक कानको बतलानेके लिए दूसरे कानकी जरूरत नहीं होती है; तो कानका कान है या श्रोत्रका श्रोत्र है–इसकी व्याख्या क्या है? बोले–देखो, कानमें सुननेकी शक्ति है और आँखमें देखनेकी, इन दोनोंके भीतर कोई ऐसी वस्तु, बैठी हुई है जो आँख-को-आँख बनाती है और कानको कान बनाती है। तो कान शब्दको प्रकट करता है, यह प्रत्यक्ष है–'श्रोत्रं स्वविषयव्यंजनसमर्थं दृष्टम्'। अब यह कान कब सुन सकता है? कि जब इसके भीतर चैतन्य आत्मज्योति नित्य असम्बद्ध सर्वान्तर आत्मा होवे! आत्म-चैतन्यके बिना यह कान सुन नहीं सकता, इसलिए जिसके बिना कान रहते हुए भी काम न कर सके वह कानका कान है, जिससे कानके कानपनेकी सिद्धि होती है वह कानका कान है, श्रोत्रका श्रोत्र है-'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' (वृहद. 4.3.6)–यह स्वयं ही अपने ज्योतिरूपसे विराजमान रहता है–'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डक. 2.2.10)–उसीकी ज्योतिसे सब प्रकाशित होता है–'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः'–(तैत्ति. ब्रा. 3.12.9.7) जिसके तेजसे तेजस्वी होकर सूर्य प्रकाशित होता है। 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्' (गीता 15.12)-जो तेज सूर्यमें रहकरके सारे जगत्को प्रकाशित करता है–'क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत' (गीता 13.32) जैसे क्षेत्रको क्षेत्री प्रकाशित करता है। यह बात गीतामें कही गयी है–'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (कठ0 2.2.13)-जो अनित्योंमें नित्य है, जो चेतनोंमें चेतन हैं–ये सब वेद-उपनिषद्-गीताके मन्त्र हैं।

अब आप स्वयं विचार करो। आँख देखती है और पाँव चलता है–यदि आँख न हो तो पाँवका चलना कैसे बनेगा? बोले कि छू-छूकर चलेंगे। लेकिन छूना भी ज्ञान है। छूनेसे भी ज्ञान होता है और देखनेसे भी ज्ञान होता है। अतः ज्ञानपूर्वक चलते हैं–यह बात हुई। तो ये कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय परस्परमें सेव्य-सेवक भाव रखती हैं–आपके ध्यानमें आवे यह बात–जैसे हम किसीको छूना चाहते हैं, तो उसको पकड़कर ले आते हैं और छुआ देते हैं–एक गुलाबके फूलको यदि हम अपनी आँखसे लगाना चाहते हैं तो हाथ उसको छुआ देता है अथवा किसी दूरकी वस्तुको देखना चाहते हैं तो पाँव वहाँ ले जाता है; कानसे सुननेकी इच्छा होती है, तो जीभसे बोलते हैं। कभी-कभी तो गाना गाकर अपनी ही गाथा सुनते हैं और वह मीठा लगता है। अच्छा तो, इसमें आप यह विचार करो कि मजा लेनेवाला कौन है और मजा देनेवाला कौन है? तो यह हाथ, पाँव, जीभ–ये तो सब नौकर हैं और इनका मजा आता है आँखको, नाकको, कानको, रसनाको, त्वचाको, मनको, ये ऐसे हैं कि जैसे कर्मेन्द्रियाँ तो चपरासी हों और ज्ञानेन्द्रियाँ क्लर्क हों। अब इसके भीतर भी हेड-क्लर्क जो है सो मन है, उसके बिना आँख रूपको देख नहीं सकती; उसके बिना आँखके इच्छित रूपको दिखानेके लिए पाँव चल नहीं सकते।

तो आपका जरा इसका मोटा-मोटा रूप बतला देते हैं कि कान सुनता है और वाणी बोलती है; आँख देखना चाहती है और पाँव चलता है; त्वचा छूना चाहती है और हाथ वस्तुको लाकरके छुआता है और नासिका गन्धको पकड़ती है और गुदा जो है सो दुगर्न्धको फेंकती है और रसना स्वाद लेती है और मूत्रेन्द्रिय जो है, सो पानीको फेंक देती है, तो इन इन्द्रियोंमें भी परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव है–यह बात प्रधानतासे कही कि कर्मेन्द्रियाँ जो हैं वे काम करनेवाली हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ जो हैं वे स्वाद लेनेवाली हैं–काम करना और स्वाद लेना–स्वाद लेनेमें मन जो है वह मुख्य होता है।

आपको यह मालूम होगा कि इन्द्रियोंको असाधारण करण बोलते हैं और मनको साधारण करण। असाधारण और साधारणमें फर्क क्या है यह समझो–एक इन्द्रिय एक ही विषयको ग्रहण करती है, इसलिए उस विषयको ग्रहण करनेमें वह इन्द्रिय असाधारण होती है, जैसे–रूप बिना नेत्रसे ग्रहण

नहीं किया जा सकता, तो रूपको ग्रहण करनेके लिए नेत्र असाधारण इन्द्रिय है; शब्दके लिए श्रोत्र असाधारण करण है; गन्धके लिए नासिका असाधारण करण है; स्वादके लिए जिह्वा असाधारण करण है; स्पर्शके लिए त्वचा असाधारण करण है, परन्तु, मन इन पाँचोंमें साधारण करण है, वह पाँचोंके लिए बराबर करण है, तो, अब यहाँ जो प्रसंग है उसमें आगे कहते हैं 'अतिमुच्य धीराः'-धीर पुरुष इनको छोड़ करके। किनको? कि विषयग्राम और करणग्राम–इन दोनोंको छोड़ो। यहाँ ग्राम शब्दका अर्थ है–समूह। यह 'रेडियोग्राम' या 'प्रोग्राम' वाला ग्राम नहीं है। रेडियोग्राममें ग्राम शब्द ग्रामोफोनमें-से निकला हुआ है, प्रोग्राम तो संस्कृतका ही शब्द है–गम शब्दमें-से निकला है, पुरो-गम–पहले ही बता दे कि बादमें क्या करना है, बादमें करनेकी बातको जो पहले बतावे उसका नाम पुरो-गम-प्रोग्राम। यहाँ 'ग्राम' माने समूह है–विषय-ग्राम और करण-ग्राम। तो पहले गाँवमें जाना छोड़ो, आओ भीतर, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और इनके आश्रय-भूत द्रव्य–इनकी ओरसे अपने करण-ग्रामको अलग कर दो! करण-ग्राम माने औजार–जैसे लकड़ी काटनेमें वसीला (बसूला) औजार है और पेचको निकालनेमें 'स्क्रू-ड्राइवर' औजार है, वैसे ही रूप देखनेका औजार आँख है, शब्द सुननेका औजार कान है, संकल्प करनेका औजार मन है। औजारको ही संस्कृत भाषामें करण बोलते हैं–करनेका साधन, कोई काम करनेका औजार। तो पहले अपनेको विषयग्रामसे अलग करो और फिर करणग्रामसे अलग करो–अतिमुच्य।

ये बातें वेदान्तमें इतनी छोटी-छोटी मानी जाती हैं कि हमलोग तो एक तरहसे इसकी चर्चासे अलग हो गये हैं–इसकी चर्चा करते-करते थक गये हैं। तो, इसमें भी न्याय और वैशेषिक दर्शनमें ऐसा मानते हैं कि ये विषय जो हैं इनका आश्रय द्रव्य होता है, जैसे गन्ध पृथिवीमें रहता है–पृथिवीका विशेष गुण गन्ध है–जलका विशेष गुण रस है, तेजका विशेष गुण रूप हैं और वायुका विशेष गुण स्पर्श है और आकाशका विशेष गुण शब्द है–इन-इन गुणोंसे ही उन-उन द्रव्योंका निश्चय होता है–पृथिवीका लक्षण है गन्धवती होना, रसवती होना जलका लक्षण है और रूपवान होना तेजसका लक्षण है

और स्पर्शवान वायु है और शब्दवान आकाश है। तो यह बात वैशेषिक और नैयायिकके अनुसार है।

सांख्य और योग इससे विलक्षण हैं। वे कहते हैं कि शब्द तन्मात्रासे आकाशका जन्म होता है और स्पर्श तन्मात्रासे वायुका जन्म होता है-'तदेव इति तन्मात्रं'-माने अपञ्चीकृत जो रूप है उनका स्पर्शादिसे अभिश्रित जो शब्द तन्मात्रा है उससे आकाशकी उत्पत्ति होती है और रूपादिसे अभिश्रित जो तन्मात्रा है उससे वायुकी उत्पत्ति होती है, तो शब्द-स्पर्श आदि तन्मात्रासे भूतोंकी उत्पत्ति होती है, यह सांख्य और योगका मत है और शब्द-स्पर्शादि जो हैं ये पञ्चभूतोंके गुण हैं, यह न्याय वैशेषिकका मत है और वेदान्त जो है वह तो इसके सम्बन्धमें बिलुकल ही विलक्षण है, सबसे अलग है। जैन-मतमें शब्द-स्पर्श आदि और पृथिव्यादि ये सब-के-सब नित्यानित्य, ध्रुवाध्रुव हैं; बौद्ध-मतमें चार प्रकारका है-बाह्यार्थवादी बौद्ध, अन्तरङ्गवादी बौद्ध, उभयार्थवादी बौद्ध, अनुभयार्थवादी बौद्ध। पर वेदान्तियोंका सबसे ज्यादा विलक्षण है। विज्ञानवादी बौद्ध और दृष्टि-सृष्टिवादी वेदान्ती-ये दोनों कहते हैं कि जितने भी विषय मालूम पड़ते हैं ये असलमें अपनी वृत्तिमें मालूम पड़ते हैं, वे इसके लिए प्रतीत्य-समुत्पाद बोलते हैं, माने प्रत्ययसे ही इनकी उत्पत्ति होती है-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध कहीं भी बाहर नहीं हैं। जब पूर्व-पूर्व संस्कारसे आक्रान्त शब्दाकार वृत्तिका उदय होता है तब शब्द भासता है, इसका आश्रय कोई आकाश नामका पदार्थ पृथक् नहीं है; और जब स्पर्शाकार-वृत्ति होती है तब वायु भासता है। यह आपको इसी प्रसङ्गमें सुना दिया इसलिए कि इसका थोड़ा संस्कार रहे तो कभी आप स्वयं भी इसपर विचार कर सकते हैं-रूपान्तर-वृत्ति होनेसे ही रूपवत् तेज भासता है और रसाकार-वृत्ति होनेसे ही 'रसवत्यापः'-जल भासता है और गन्धाकार-वृत्ति होनेसे ही गन्धवती पृथिवी भासती है, इसलिए जब ये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, देश-काल सहित भासते हैं, तो यह सब-का-सब असलमें प्रत्ययके कारण ही भासता है; यह सब-का-सब विज्ञान ही है, यह सब-का-सब प्रत्यय ही है, यह सब-का-सब वृत्ति ही है-वृत्तिसे पृथक् न देश है, न काल है, न वस्तु है और न शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध है और न इनके आश्रयभूत

द्रव्य हैं और न इनमें पंचीकृत-अपञ्चीकृतका कार्य-कारण भेद है—यह दृष्टि-सृष्टिवादी प्रक्रिया जो है वह जुदा है और विज्ञानवादी प्रक्रिया जुदा है।

अच्छा, इसके सम्बन्धमें और भी बहुत सारी बातें जानने योग्य हैं। जैसे देखो, आजकल जलको तत्त्व नहीं मानते हैं—यह तो आपको मालूम ही होगा-क्योंकि आक्सीजन और हाइड्रोजन—दो गैसोंके मिश्रणसे जलकी उत्पत्ति होती है—तो यह हुई यान्त्रिक-परीक्षा। यान्त्रिक-परीक्षा बहिरंग होती है। अब ऐन्द्रियक परीक्षा देखो—जिह्वासे स्वादका ज्ञान होता है—स्वादका ज्ञान न नाकसे हो, न कानसे हो, न आँखसे हो, न त्वचासे हो—स्वादका ज्ञान किसी भी अन्य रीतिसे नहीं होता है, तो अन्य इन्द्रियोंसे अज्ञात और अन्य इन्द्रियोंसे अबाधित रसनाके द्वारा जो रसका ज्ञान होता है वह रसज्ञान भी प्रामाणिक है। तो रसका आधारभूत जो द्रव्य है उसको जल बोलते हैं। अच्छा, चार्वाक लोग जो हैं वे आकाशको तत्त्व नहीं मानते हैं—वे चार ही तत्त्व मानते हैं। वे आकाशको तत्त्व क्यों नहीं मानते हैं? कि कहते हैं—अनुपलब्ध है आकाश, बिलकुल। तो बोले कि नहीं, आकाश तो उपलब्ध है, क्योंकि जब हम बोलते हैं कि पक्षी यहाँ उड़ रहा है तो पक्षीके उड़नेकी क्रियाका जो अधिकरण है वह क्या है—वह मिट्टी है, कि पानी है, कि हवा है, कि तेज है? कि पक्षीके उड़नेका अधिकरण जो है वह आकाश है, इसलिए पूर्व-मीमांसकोंने तो आकाशको चाक्षुष माना—वे कहते हैं कि आकाश तो आँखसे मालूम पड़ता है। यह सब पञ्चभूतोंका झगड़ा है। जिनको प्रक्रिया-भेद देखना हो, खासकरके वेदान्तियोंका प्रक्रिया-भेद तो उनको 'सिद्धान्त-लेश-संग्रह' नामका जो ग्रन्थ है देख लेना चाहिए। उसमें वेदान्तियोंको चालीस-बयालीस प्रकारकी प्रक्रियाओंका उल्लेख मिलता है।

तो अब, यह देखो कि श्रोत्र अलग, त्वचा अलग, नेत्र अलग, नासिका अलग, जिह्वा अलग, कर्मेन्द्रिय अलग और ज्ञानेन्द्रिय अलग और इनके भीतर हृदय-गोलकमें मनस् अलग। अब आप जरा अपनेको इनसे अलग कर लीजिये—'अतिमुच्य धीराः' **अतिमुच्य**—ऐसे देखो कि संसारमें जो शब्द हैं वह न मैं हूँ, न मेरा है, **स्पर्श—न मैं हूँ**, न मेरा है—क्योंकि मैं तो शब्द-स्पर्शको जाननेवाला हूँ; न रूप मैं, न मेरा; न रस मैं, न मेरा, न गन्ध मैं, न मेरा और ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ न मैं, न मेरी और पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ न मैं, न मेरी और ये

मन-बुद्धि जो हैं ये न मैं, न मेरे। तो अतिमुच्य–इनके साथ जो तादात्म्य करके **बैठे हुए हैं कि यह मैं और मेरा–यह एक प्रकारकी अविचारिक प्रतिपत्ति है।** बिना सोचे, बिना समझे, बिना माने, बिना बूझे जो मान लिया गया है कि यह जो संघात है, पञ्चभूतोंका संघात देह है, पञ्च कर्मेन्द्रियों और पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पंचप्राण और मनोवृत्तियाँ इनका संघात जो यह स्थूल-सूक्ष्म-शरीर है–यह मैं हूँ और यह मेरा है यह तुमने किस प्रमाणसे माना है, किस विचारसे माना है? बिना किसी प्रमाणके और बिना किसी विचारके ही माना है। माँके पेटमें-से जैसे पैदा हुए थे वही बुद्धि–जैसे उस समय किसीके दबानेसे तुम समझते थे कि मैं दबाया जा रहा हूँ, वैसे ही आज भी समझते हो, अपने 'मैं' के बारेमें तुमने क्या विचार किया–

अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्मान् लोकादमृता भवन्ति।

अतिमुच्यका अर्थ है–पहले असम्बन्धका चिन्तन करो। हमारे एक वेदान्ती हैं, वे कहते हैं कि महाराज, हमने ठीक-ठीक ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया कि क्या ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया? बोले कि ईश्वर नहीं है। कि धन्यवाद! फिर बोले कि जीव नहीं है महाराज! कि धन्यवाद! बोले–महाराज, स्वर्ग-नरक नहीं है। धन्यवाद! बोले पुनर्जन्म भी नहीं है महाराज–शरीरके साथ आत्मा पैदा हुई और शरीरके साथ मर जायेगी यहीं। दिनभर ताश खेलते हैं, शराब पीते हैं, व्यापार करते हैं, व्यभिचार करते हैं और कहते हैं कि मैंने वेदान्तका सार समझ लिया कि न जन्मजन्मान्तर है, न नरकादि लोक है, न जीव है कोई और न ईश्वर है और बस, शरीरके साथ आत्मा पैदा हुआ और शरीरके साथ आत्मा मर जायेगा। तो, इसका नाम तो चार्वाक् सिद्धान्त हुआ, इसका नाम वेदान्त सिद्धान्त कहाँ हुआ? वह तो असलमें अपने इस हड्डी-मांस-चामके पुतलेको ही मैं समझते हैं। यह वेदान्त नहीं हुआ, यह तो वेदान्तकी छाया भी नहीं हुई–यह तो चार्वाक्-नास्तिक-सिद्धान्त हुआ। तो, पहले पंचभूत, समष्टि और व्यष्टि-न मैं, न मेरा और कर्मेन्द्रियाँ, न व्यष्टिकी, न समष्टिकी–मैं न मेरी; और ज्ञानेन्द्रियाँ–न व्यष्टिकी, न समष्टिकी–न मैं, न मेरी–ऐसे समझो; और अन्तःकरण एक-एकके अलग-अलग और सबके मिलकरके जितने हैं–जिस अपने स्वरूपके अज्ञानमें-से ये निकले हैं वह अज्ञान भी न मैं न मेरा, उसका

मैं प्रकाशक हूँ; न देश मैं न मेरा; न काल मैं न मेरा; और न वस्तु मैं न मेरी– तो देश-काल-वस्तुसे अतीत, सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे रहित, अद्वितीय जो परमात्मा है उसको मैं बातनेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति हुई है। यदि तुम समझते हो कि इस हड्डी-मांस-चामके घेरेमें कोई दीएकी तरह लौ है और वह मैं हूँ-कोई दीया जलता है और वह मैं हूँ कि कोई चिन्गारी रखी हुई हृदयके भीतर या दिलके भीतर और वह मैं हूँ, तो उस दीये की लौका नाम 'मैं' नहीं है, उस चिन्गारीका नाम मैं नहीं हैं, उस परिच्छिन्न ज्योतिका नाम मैं नहीं हूँ– अतिमुच्य धीराः–अपने स्वरूपका विवेक करके अतिमुच्य माने अध्यासका परित्याग, अध्यासकी निवृत्ति जो दृश्यमान, परिच्छिन्न देशमें, परिच्छिन्न कालमें, परिच्छिन्न रूपमें रहनेवाली किसी चीजमें जो मैंपना हो गया है उसको अपनी अपरिच्छिन्नता के ज्ञानसे काट देना–यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अतिमुच्य धीराः। सिद्धान्त पृथक्त्व बतलानेके लिए नहीं है, यह बात वे नहीं समझते जो लोग सम्प्रदायसे आजकल वेदान्तका अध्ययन नहीं करते, जो उपनिषद् का अध्ययन नहीं करते अथवा जो शांकर-सम्प्रदायकी रीतिसे वेदान्तका अध्ययन नहीं करते। वे कहते हैं कि मैं शरीरका द्रष्टा, मैं इन्द्रियों का द्रष्टा, मैं मनका द्रष्टा, मैं अन्तःकरणका द्रष्टा–साक्षी स्वयंज्योति, स्वयं प्रकाश, सच्चिदानन्द अस्ति-भाति-प्रिय रूप मैं हूँ–मैं सम्पूर्ण परिच्छिन्नताओंका द्रष्टा हूँ, न्यारा हूँ और थोड़ी देर तक अलग बैठ गये, ज्योति जगा ली, अलख जगा लिया और बोले कि हमने वेदान्तके तत्त्वका ध्यान कर लिया। तो असलमें यह वेदान्तके तत्त्वका ध्यान नहीं है। वेदान्त बतलाता है कि 'एकमेवाऽद्वितीयम्'–यह जो तुम्हारा अलग-अलग, सब शरीरमें मैं-मैं-में हो रहा है, वह अलग-अलग नहीं एक ही है। जैसे सब दीपकोंमें जो ज्योति प्रज्वलित होती है वह तेज है परन्तु, वहाँ तेल और बत्तीके संयोगसे अलग-अलग प्रज्ज्वलित होती है–तेज और बत्तीका सम्बन्ध छोड़ दो, तो तेजस् तत्त्व सब जगह व्यापक है–उसी प्रकार। अच्छा, फिर भी अलगाव होवे कोई वासनाके सम्बन्धसे तो बोले नहीं, जैसे प्रत्येक घटमें न्यारा-न्यारा आकाश मालूम पड़ता है परन्तु है एक ही, इसी प्रकार अन्तःकरणसे बने हुए जो घड़े है–सूक्ष्म-शरीरके घड़े, वे सूक्ष्म शरीरके घड़े अलग-अलग होनेपर भी उनमें

परिपूर्ण आकाश एक ही है और इसकी विशेषता यह है कि जो उसे चिदाकाशका स्वयं-प्रकाश चिदाकाश अद्वितीय ब्रह्म-तत्त्वको मैंके रूपमें जान लेता है उसके लिए द्वैतका बाध हो जाता है। उसमें न तो स्वगत-भेद रहता है, न सजातीयभेद–यह सारा-का-सारा भेद बाधित हो जाता है।

गीताकी शंकरानन्दी टीकामें एक जगह यह बात उठायी गयी कि एक आदमी कहता है कि देखोजी, हमको तो अब ब्रह्मका ज्ञान हो गया, तो हम अकर्त्ता हैं, लेकिन, तुम लोग सब अज्ञानी हो और तुम सब-के-सब कर्त्ता हो, इसलिए तुम सब-के-सब बद्ध हो और मैं मुक्त हूँ। बोले–कि ऐसा ज्ञान जिसको हुआ उसको क्या सचमें ज्ञान हुआ? हमारे एक विरक्त थे वृन्दावनमें, तो उनके सामने जब कोई गृहस्थ आवे तो बोलते थे–हट गिरहस्थी मैं संन्यासी, मैं विरक्त, मैं ज्ञानी और तू मूर्ख–हट, मेरे सामने तू क्या बात करेगा–अनधिकारी है, भाग जा–हम बेख्वाइश, बेपरवाह! तो गीता 3.17 की शंकरानन्दी टीकामें यह बात कही कि ऐसा आदमी मुक्त नहीं है बल्कि वाचा मुक्त है।

यस्तु स्वमात्रमेव मुक्तं पश्यति न त्वन्यं न स ब्रह्मविदेव भवति नाऽपि च मुक्तः किन्तु स वाचा मुक्तः न त्वविद्याबन्धात्।

वह सचमुच मुक्त नहीं है, वह तो जबानी जमाखर्चसे मुक्त है, इसलिए जो अपने अद्वितीय, आत्माको जान लेता है उसने धातु पहचान ली। जैसे किसीने पहचाना कि यह कंगनका सोना मैंने आगमें जलाया और जला नहीं, तो कंगनका या सोनेका गुण-धर्म हुआ न जलना–सामान्य-रूपसे न जलनेकी इस बातको मान लेते हैं कि सोना आगमें नहीं जलता–कंगनको आगमें डाला और वह नहीं जला, तो तुमने क्या समझा कि यह हमारा कंगन जो है यह नहीं जलता है। लेकिन दुनियामें और जो सोना है वह क्या सब जल जाता है? नहीं, जो न्याय तुम्हारे कंगनके लिए है वही न्याय तुम्हारे कंगनके लिए है वही न्याय संसारके सब सोनाके लिए है। हमको एक महात्माने सुनाया कि जैसे अलग-अलग बटलोईमें पानी चढ़ा दिया जाता है, तो जब आँच लगती है तब वह फुदकता है, ऐसे ही सब शरीरमें अन्तःकरण भरा हुआ है और सबके अन्तःकरणमें एक प्रकारकी फुदकन हो रही है–मैं-मैं-मैं-मैं-मैं यह

सबके अन्तःकरणमें फुदक रहा है। लेकिन, अलग-अलग 'मैं' फुदकने पर भी जैसे मैंके फुदकनेका स्थान एक ही आकाश है और सब बटलोईमें आकाश एक है, इसी प्रकार यह सबके शरीरमें नामकी चीज अलग-अलग फुदक रही है, लेकिन, अलग-अलग फुदकने पर भी असलमें सबके मैं पदका जो असल अर्थ धातु है वह सबमें एक है–मैं धातु एक है।

तो 'अतिमुच्य धीराः'--पहले सबमें जो अलग-अलग है उसको छोड़ो और जो सबसे एक है उसको पकड़ो। आप देखो, दो आदमी खड़े हैं और वे दोनों यह मानते हैं कि हमलोगोंमें बहुत फर्क है, लेकिन, विचार करके देखें तो दोनोंमें एकताकी जितनी गुन्जाईश है उतनी अलगावकी नहीं है-दोनोंकी आँख आगेकी ओर है और दोनोंके दो-दो आँख हैं, दोनोंकी नाकमें दो छेद हैं, दोनोंके मुँह है, दोनोंके दो गाल हैं, दोनोंके सिर है, दोनोंके बाल है, दोनोंके दो-दो हाथ हैं! देखो–समता देखो–दोनोंके दो-दो पाँव है, दोनों खड़े होते हैं, दोनों मुहँसे बोलते हैं, दोनों मुँहसे खाते हैं, दोनोंके पेटमें खाना पचता है, दोनोंके दिमागमें विचार उठते हैं, दोनोंके मनमें मैं-मैं होता है, दोनोंके शरीरका उपादान पञ्चभूत है-तो वे केवल मैं-मैंकी फुदकनके कारण कहते हैं कि तुम अलग, मैं अलग, वस्तुतः दोनोंके 'मैं' एक हैं। अजी, इतना ही नहीं, जिसको हम 'तुम' बोलते हैं उसने अपना नाम 'मैं' रख छोड़ा है–रख छोड़ा है कि नहीं? और जिसको तुम 'वह' बोलते हो उसने भी अपना नाम 'मैं' रख छोड़ा है; तो तुम्हारा नाम क्या है? तुम है कि मैं है? बोले भाई, मेरी दृष्टिसे मेरा नाम 'मैं' है और तुम्हारी दृष्टिसे मेरा नाम 'तुम' है और तुम्हारा भी नाम-मेरी दृष्टिसे 'तुम' है और तुम्हारी दृष्टिसे 'मैं' है। तो, दोनोंका नाम 'मैं' और 'तुम' दोनों है, दोनों दो-दो नामवाले हैं–है कि नहीं? तुम्हारा नाम तुम है और साथ-ही-साथ मैं भी है और मेरा नाम मैं है और साथ-ही-साथ तुम भी है, तो नाम भी हमलोगोंका मैं और तुम एक सरीखा, शक्ल-सूरत भी एक सरीखी, पञ्चभूत सबके शरीरमें एक, इन्द्रियाँ सबके शरीरमें एक सरीखी और कहो–वासनामें फर्क है तो वह भी नहीं है, वासनाकी पूर्तिके प्रकारमें फर्क है–सबके मनमें काम होता है, सबके मनमें क्रोध होता है, सबके मनमें लोभ होता है, सबके मनमें मोह होता है, सबके मनमें चञ्चलता होती है, सबके मनमें शान्ति होती है,सबको जाग्रत्-

स्वप्न-सुषुप्ति होती है! वेदान्ती लोग कहते हैं कि माया नामकी कोई ऐसी महादेवी है जिसने सबको भाँग पिला दी है—एक होनेपर भी अनेक मानते हैं! सबका सुख एक है, रात-दिन हम दोनोंका एक सरीखा है, चलना सबका पाँवसे ही होता है। तो साम्य तो बहुत है और वैषम्य ढूँढ़े तो? धातुमें कहीं वैषम्य नहीं मिलेगा—सबमें धरती एक, सबमें पानी एक, सबमें आग एक, सबमें हवा एक, सबमें आसमान एक! हमलोग प्रेमकुटीरमें बैठकर सैकड़ों आदमी साँस लेते हैं तो एक ही हवामें साँस लेते हैं कि सबकी हवा अलग-अलग है? तो एक प्राण दो देह ही हुए न! हमलोगके नाकके छेद अलग-अलग हुए, साँस अलग-अलग नहीं हुई। तो असलमें देहकी उपाधिसे जो चैतन्यमें अलगाव माननेकी जो प्रवृत्ति है वह विचारपूर्ण, विवेकपूर्ण नहीं है और इसी अलगावके कारण संसारमें स्वार्थका और भोगका भेद होता है—यह मेरा स्वार्थ और सुख और यह तेरा स्वार्थ और सुख, इसी मैंको लेकरके उछलते-फिरते हैं लोग, छलांग भरते फिरते हैं—कोई जूता मच-मच करके चलता है, कोई मूँछ ऐंठता चलता है—हमारे बराबर कौन? तो कोई दूसरा देखता है तो कहता है कि अरे ये मूँछ रखनेवाले तो पुराने जमानेके हैं, जो सफाचट कर दे सो श्रेष्ठ है? कोई नंगे पाँव चलते हैं तो कहते हैं—हम बड़े त्यागी हैं, हमारे बराबर और कौन है? तो, किसी-न-किसी तरहसे अपने 'मैं' को पकड़करके उसमें बड़प्पनका आरोप कर लेना और दूसरोंको अपनेसे छोटा समझना।

तो, 'अतिमुच्य धीराः'—संसारमें लड़ाई स्वार्थकी है, लड़ाई सुख की है—हम ज्यादा सुखी हों, तुमको सुख कम मिले। भेद जो है वह स्वार्थका है, भेद जो है वह भोगका है—संसारमें हिंसा जितनी होती है, समझो कि धनके लिए सबसे ज्यादा होती है; और दो नम्बरकी लड़ाई भोगके लिए होती है, तीन नम्बर लड़ाई धर्मके लिए, सम्प्रदायके लिए होती है; और चार नम्बरकी लड़ाई विचारके लिए, मोक्षके लिए होती है। मोक्षमें भी विवाद होता है आपसमें; परन्तु, जहाँ सत्यका साक्षात्कार है वहाँ न अर्थके लिए लड़ाई है, न भोगके लिए लड़ाई है, न सम्प्रदाय, मजहबके लिए लड़ाई है और न मोक्ष-पन्थके लिए लड़ाई है। सबकी आत्मा एक, सबका मन एक, सबके शरीरका उपादान एक, सबका सुख एक, सबका स्वार्थ एक। कितना उदार दृष्टिकोण है कि अनन्त कोटि

ब्रह्माण्डमें एक ही उपादान बैठा हुआ है! उपादान माने मसाला—जिस मसालेसे चीज बनती है, जैसे कंगनमें और कुण्डलमें एक ही सोना उपादान हुआ, इसी प्रकार सारी सृष्टिमें बिल्कुल एक उपादान है, फर्क है केवल रंगीनका।

मैंने तरह-तरहके सन्तोंका संग किया न, तो एक सन्तके पास मैं गया, तो उन्होंने एक बात सुनायी—अब वह कहानी तो हम समझते हैं कि झूठ ही होगी लेकिन उसमें जो तत्त्व है वह ग्रहण करने योग्य है। कहानी यह है—बीरबलके एक लड़की थी—बड़ी सुन्दर थी और बादशाह अकबर उसपर मुग्ध हो गये। तो बादशाहने क्या किया कि बीरबलको तो भेज दिया कहीं बाहर और लड़कीके पास खबर भेजी कि तुम आओ हमारे पास! लड़कीने कहलाया कि हमारे पिताजी बाहर गये हुए हैं इसलिए आप ही हमारे घरमें पधारें, हम आपकी इबादात करते हैं। अब जब बादशाह उसके घर पधारे तो उसने तरह-तरहकी प्लेटें सजाकर तथा तरह-तरहकी रूमालोंसे उन्हें ढँककर बादशाहके स्वागतमें उनके सामने पेश की। बादशाहने एक प्लेटका रूमाल हटाया और देखा कुछ पीला-पीला-सा रखा है; उठाकर उसको मुँहसे लगाया। वह नींबू था, उसपर पीला रंग डाल दिया गया था, इसलिए पीला-पीला लगता था। फिर दूसरी प्लेटसे उठाया। उसका रंग लाल था। चखा तो वही नींबूका स्वाद था। अब महाराज, पाँच-दस प्लेट उन्होंने देखी, चखी-सबमें नींबू, सबमें एक ही स्वाद सबमें वही रस। पूछा, यह क्या मजाक है? तो, वह तो बीरबलकी बेटी थी, उसने कहा—जहाँपनाह, संसारकी सब स्त्रियाँ ऐसी ही हैं, सबके भीतर एक ही मसाला है, यह जो आपका ख्याल है कि इस स्त्रीमें दूसरा स्वाद है, उस स्त्रीमें दूसरा स्वाद है, यह बिल्कुल गलत है। यह रंगका ही भेद है कि कोई गोरी है, कोई काली है, कोई गेहूँआ रंगकी है। असलमें स्त्री-स्त्रीमें कोई फर्क नहीं है। इस सम्बन्धमें आपकी धारणा बिलकुल गलत है। मैं तो आपकी बेटी हूँ। अब तो बाहशाहके ऊपर सौ घड़ा पानी पड़ गया। तो, दुनियामें उपादानका भेद नहीं है।

आपको यह बात सुनाते हैं कि उपादानके सम्बन्धमें दार्शनिकोंमें बड़ी विचित्र-विचित्र धारणाएँ हैं!

हमारे शून्यवादी बौद्ध कहते हैं कि सृष्टिका कोई उपादान ही नहीं है।

माने किसी मसालेसे यह नहीं बनी है, यह केवल प्रतीत्य समुत्पाद है। यह प्रतीत होकर पैदा हुई-सी भासती है, असलमें इसका कोई उपादान नहीं है, केवल प्रतीति है–विज्ञानमात्र है, ऐसे बोलो। शून्य है, निरुपादान है–निरुपादान है माने सृष्टिका कोई उपादान है ही नहीं। निरुपादानवादी केवल एक ही हैं संसारमें, वे हैं बौद्ध।

दूसरे बहिरङ्ग उपादानवादी। तो जो परमाणुसे सृष्टि मानते हैं वे और जो पञ्चभूतसे सृष्टि मानते हैं वे बहिरङ्ग उपादानवादी हैं; जो जड़से सृष्टि मानते हैं वे बहिरङ्ग उपादानवादी हैं। सांख्य और योग प्रकृतिसे सृष्टि मानते हैं। इसलिए वे अन्तरंग उपादानवादी हैं। क्योंकि प्रकृति कहाँ होती है? पञ्चभूतसे परे अहंकार, अहंकारसे परे महतत्त्व, महतत्त्वसे परे प्रकृति और प्रकृतिसे परे आत्मा। आत्मा और बुद्धिके बीचमें प्रकृति होती है, इसलिए प्रकृति अत्यन्त अन्तरङ्ग हुई। आत्मा सूक्ष्म है और बुद्धि–व्यक्त है, आत्मा अव्यक्त है; परन्तु आत्मा चेतन अव्यक्त है और प्रकृति जड़ अव्यक्त है-बुद्धि और आत्माके बीचमें प्रकृति होनेके कारण अन्तरङ्ग उपादान है।

अच्छा देखो, कई लोग ईश्वरको उपादान मानते हैं। वह खुद ही बन गया–'स सर्वम् अभवत्'–तो वह ईश्वर भी अन्तरङ्ग उपादान हुआ; क्योंकि आत्माके सामने ईश्वर सृष्टि बनानेका खेल रचता है, साक्षी तो आत्मा ही है। सृष्टि बहिरङ्ग है, ईश्वर अन्तरङ्ग है और आत्मा द्रष्टा है। अतः ईश्वर भी अन्तरङ्ग उपादान है।

कोई बोलते हैं कि कर्म उपादान है, तो कर्मका संस्कार भी अन्तरङ्ग अन्तःकरणमें ही रहता है। इसलिए वह भी अन्तरङ्ग है। कोई बोलते हैं कि चित्त ही उपादान है, तो चित्त अन्तरङ्ग उपादान है। कोई बोलते हैं कि विज्ञान उपादान है तो विज्ञान अन्तरङ्ग उपादान है। इस प्रकार ईश्वरका उपादान होना, प्रकृतिका उपादान होना, विज्ञानका उपादान होना और कर्म-संस्कारोंका उपादान होना यह अन्तरङ्ग उपादानवादी हैं और पञ्चभूतका उपादान होना, परमाणुका उपादान होना या जड़का, मार्क्स वगैरह जैसा मानते हैं–जड़ाद्वैतका उपादान होना यह बहिरङ्ग उपादानवाद है। और शून्यका उपादान होना यह निरुपादानवाद है।

अब वेदान्तियोंका देखो–इन सबसे विलक्षण है। उपादान माने

मसाला–यह स्त्री, यह पुरुष, यह पशु, यह पक्षी, यह दानव, यह देवता, यह धरती, यह पानी, यह आग-ये किस मसालेसे बने हुए हैं? यह सूर्य, यह चन्द्रमा–यह कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड ये असलमें किस मसालेमें किस-किस मसालेसे बने हुए हैं? जैसे जेवरमें सोना होता है, जैसे घड़ेमें माटी होती है। जैसे तरङ्गमें पानी होता है वैसे ही इस सृष्टिका कौन-सा उपादान है? किस वस्तुको लेकर यह सृष्टि बनायी गयी है? कौन-सी ऐसी वस्तु है जो इसमें अनुस्यूत हैं? तो हमारे वेदान्त-दर्शनके जितने व्याख्याता हैं–सब-के-सब–क्या बोधायनवृत्ति जिसपर श्रीरामानुजाचार्यजीका श्रीभाष्य अवलम्बित है, क्या बल्लभाचार्यजीका अणुभाष्य, क्या निम्बार्कका 'कौस्तुभ' और क्या मध्वाचार्यका पूर्णप्रज्ञ-भाष्य और क्या शंकराचार्यका शारीरक भाष्य, क्या द्वैताद्वैतका गोविन्द-भाष्य बलदेव विद्याभूषणका, क्या शैव-भाष्य शिवार्क-मणिजीका और श्रीकरभाष्य, नीलकण्ठभाष्य, भाष्य–जितने हैं सब यह बात स्वीकार करते हैं कि सबका एक अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है। ब्रह्म-रूप मसालेसे ही यह सृष्टि बनी है; यह वेदान्त-दर्शनके सर्व भाष्योंका निर्विवाद सिद्धान्त है। उनमें भले आपसमें सृष्टि प्रक्रियामें मतभेद हैं–जैसे कोई कहते हैं कि दूधसे दही बना वैसे बना, कोई कहते हैं कि जैसे सोनेसे जेवर बना वैसे बना; कोई कहते हैं जैसे द्रष्टाकी दृष्टिसे स्वप्न बना वैसे बना; कोई विवर्त मानते हैं, कोई परिणाम मानते हैं, कोई शक्तिविक्षेप मानते हैं, कोई संकल्प मानते हैं–प्रक्रियामें भेद है, लेकिन यह बात बिलकुल निर्विवाद है कि समूची सृष्टिके मूलमें अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म ही है–इसके बिना वेदान्त-दर्शनकी संगति लगती नहीं–

तद् अन्यत्वं आरम्भेण न शब्दादिभ्यः वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्-

जैसे घट, सराव, उदंचन आदि ये केवल नाम-मात्र हैं, वस्तु केवल मृत्तिका है, इसी प्रकार ये स्त्री, पशु-पक्षी, मनुष्य आदिमें नाम-मात्रका भेद है–पञ्चभूतोंमें नाम-मात्रका भेद है, प्रकृति-जीव-ईश्वरमें नाममात्रका भेद है, सबमें मूल मसाला एक है, अद्वितीय है और वह ब्रह्म है, उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है नहीं–यह वेदान्त दर्शनका सिद्धान्त है।

कहो कि नैयायिक ऐसा नहीं मानते हैं ऐसा वेदान्ती मानते हैं, तो यह हम मानते हैं। न्याय-दर्शनमें पञ्चभूतोंके परमाणु नित्य हैं जिनसे पञ्चभूत बनते हैं, उसमें जीव नित्य है, ईश्वर नित्य है—आत्माके दो भेद हैं—ठीक है, न्याय-दर्शनवाले नहीं मानते हैं इस बातको उनका दर्शन अलग है; सांख्य-दर्शनवाले भी नहीं मानते हैं इस बातको—कि ठीक है मत मानो; मीमांसा-दर्शन नहीं मानता है—कि मत मानो। वेदान्त-दर्शनका यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक प्रपञ्चका, सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्तका, सम्पूर्ण कार्य-कारणका एक ही मसाला है और उस मसालेका नाम ब्रह्म है। यदि वह जड़ हो तो बदलनेवाला हो, लेकिन जो चेतन होता है वह बदलनेवाला नहीं होता है; यहीं सब पकड़े जाते हैं। चेतन बदलनेकी क्रियाका, बदलनेकी वृत्तिका, द्रष्टा होता है; यदि चेतन खुद बदलेगा तो उस बदलावको, परिवर्तनको चेतन जानेगा कि नहीं? जैसे पहले कंकणाकार सोना था फिर कुंडलाकार सोना हो गया, तो सोना यदि चेतन है तो वह जानेगा कि पहले मैं कंकणाकार था और पीछे कुंडलाकार हुआ, पर मैं तो एक ही हूँ। इसी प्रकार यह चिन्मात्र जो होता है वह परिवर्तित नहीं होता है, वह परिवर्तनका साक्षी होता है—यदि परिवर्तित होगा तो वह चेतन कालके पेटमें होगा, कालका बच्चा होगा—काल बड़ा होगा और चेतन छोटा होगा, इसलिए कालक्रमसे होनेवाले परिवर्तनका जो साक्षी है चेतन, वह है तो सारी सृष्टिका उपादान; परन्तु परिवर्तनशील नहीं हैं परिवर्तन-भान-रूप है, परिवर्तन-प्रतीतिरूप है और चैतन्य जो है वह बिलकुल अखण्ड एकरस है।

तो इस 'अतिमुच्यधीराः'का अभिप्राय यह हुआ कि जहाँतक परिवर्तनकी प्रतीति है वह तुम्हारा स्वरूप नहीं है, तुम अपनेको उससे अलग देखो और उस अलगको देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे रहित ब्रह्म जानो और अपने आपको ब्रह्म जाननेपर द्वैतका जो भ्रम है वह सर्वथा निवृत्त हो जायेगा। तब क्या होगा कि 'अतिमुच्य धीराः अस्मात् लोकात् अमृता भवन्ति'—फिर इस देहमें और देह-सम्बन्धी इस लोकमें तुम्हारी स्थिति नहीं रहेगी, तुम्हें अमृतत्वकी प्राप्ति हो जायेगी।

फिर, बोले—भाई कि यह ज्ञान सबको नहीं होता है, जो धीर होते हैं उन्हींको होता है। तो बोले कि चलो, आज सुन आये, थोड़े दिन सुनो, धैर्य-

धारण करो,एक दिन तुमको भी यह ज्ञान हो जायेगा। यह जो बारम्बार विकृतियाँ होती हैं–दिन भरमें सत्रह बार मैं दुःखी हूँ यह मानते हो और सत्रह बार मैं सुखी हूँ ऐसा मानते हो। सत्रह बार अपनेको पापी मानते हो, सत्रह बार अपनेको पुण्यात्मा मानते हो–तुम विकृतियोंके अधिष्ठान होकर भी, विकृतियोंके साक्षी होकर भी, अपनेको विकृतियोंवाले मानते हो–यह जो अध्यास है-यह जो भ्रान्ति है, बदलनेवाली चीजको मैं मानना, वह एक दिन मिट जायेगा। देखो, एक मिनट पहले तुम अपनेको पापी मान रहे थे और फिर एक मिनट बाद अपनेको पुण्यात्मा मान लिया, एक मिनट पहले अपनेको दुःखी मान रहे थे, फिर एक मिनट बाद अपनेको सुखी मानने लगे–इसका अर्थ हुआ कि दुःखी मर गया, सुखी मर गया, तुम जिन्दा हो, पापी मर गया, पुण्यात्मा मर गया, तुम जिन्दा हो। यह पापी-पुण्यात्मा तो मरते और जिन्दा होते रहते हैं और तुम एकरस जिन्दा रहते हो यह सुखी और दुःखी तो मरते रहते हैं और तुम एकरस जिन्दा रहते हो और यह दुनियाकी चीजें आती और जाती रहती हैं और तुम टुकुर-टुकुर उनको देखते रहते हो-यह जाने-आनेवाली चीज असली नहीं हैं, यह मरने-जीनेवाली चीज असली नहीं है–असली तो वह है इनको देख रहा है और वह देखनेवाला बिलकुल परिपूर्ण है, अद्वितीय है यह वेदान्तका सिद्धान्त है, इसलिए 'अमृता भवन्ति'।

सच्चिदानन्द स्वरूप तुम हो! सत् माने अविनाशी-प्रत्ययका विषय नहीं, प्रत्ययका जो अधिष्ठान हैं–वह सत् है; प्रत्ययका विषय नहीं; प्रत्ययप्रकाशक चित् है और प्रत्ययके सामनेवाला प्रिय आनन्द नहीं है, प्रत्ययको प्रकाशित करनेवाला जो आत्मप्रिय है, प्रत्यक्-प्रिय है वह प्रिय आनन्द-स्वरूप है। तुम सच्चिदानन्द अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा हो, तुम्हारे अन्दर यह सुखीपना, दुःखीपना यह थोड़ी-थोड़ी देरके लिए उधार लिया हुआ सुख, दुःख है। उधार लिया हुआ दुःख कैसा होता है? दिल्लीमें एक रिवाज है कि वहाँ कोई मर जाये न, तो वहाँ मर्सिया मनानेके लिए किरायेपर आठ-आना घण्टा देकर दस-बीस रोनेवाली औरतोंको ले जाते हैं और वे औरतें छाती पीटकर रोयेंगी कि हाय-हाय, हमारे राजा मर गये, अब दुनिया सूनी हो गयी, अब हम इनके बिना कैसे जिन्दा रहेंगे–उनको तो असलमें आठ आना घण्टा मिलनेकी खुशी रहती

है कोई दुःख थोड़े ही रहता है–तो यह दुनियाके मुर्देको अपने मनमें मत बसाओ, पापीपना गया, अब उसको बुलाओ मत; पुण्यात्मापना गया, अब उसको बुलाओ मत, सुखीपना चला गया, उसको बुलाओ मत, दुःखीपना चला गया उसको भी बुलाओ मत–जो सुषुप्तिमें चला जाता है उसको बुलाकर क्यों रखते हो, जो सुषुप्तिमें चला जाता है उसके मरनेसे क्यों रोते हो? और जो सुखीपना-दुःखीपना नींदमें चला जाता है उसको तुम जाग्रत्‌में क्यों अपना मानते हो? वह तुम्हारा नहीं है। वह तो जैसे नौकर घरमें कोई गड़बड़ मचावे तो कबतक? जबतक मालिक है। मालिक चला गया तो वह भी चला गया–वह घरका आदमी नहीं है वह तो नौकर है, इसी प्रकार यह सुख-दुःख भी है। वह नाईकी तरह है–कोई बाल बनानेको आता है, कोई मालिश करनेके लिए आता है और कोई खिलाने-पिलानेके लिए आता है और चला जाता है–वैसे ही मुर्देको अपने दिमागमें बिलकुल मत बसाओ, जो चला गया सो चला गया और जो जायेगा सो जाने ही वाला है; और जो अपना-आपा है वह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि और प्रलय होनेपर भी ज्यों-का-त्यों रहता है; ब्रह्मा आये और गये, विष्णु आये और गये; शिव आये और गये; और मायोपाधिक चैतन्य आया और गया और तुम? कि तुम ज्यों-के-त्यों हो। यह आने-जानेवाले तत्त्व नहीं हैं, तमाशे हैं, यह प्रत्ययके खेल हैं, यह वृत्तियोंके खेल हैं–भान-मात्र हैं, प्रतीतिमात्र हैं, उनको सच्चा क्यों समझना?

चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।

'धीरा अधिकारिणः अतिमुच्य श्रोत्रं अतिमुच्य मनः अतिमुच्य वाचं अतिमुच्य प्राणं अतिमुच्य चक्षुः अतिमुच्य-अस्माल्लोकात् प्रेत्य अमृता भवन्ति।'

पहले तो परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया–वह कानका भी कान है, मनका भी मन है–अर्थात् सबका अधिष्ठान है और सबका प्रकाशक है, स्वयं प्रकाश है और सर्वावभासक है और यह सम्पूर्ण विषय-ग्राम और करण-ग्राम दोनों उसमें अध्यस्त हैं। अन्तमें यह बताया कि जो अध्यस्त है उसका अतिमोचन कर दो–अतिमोचन माने 'नाहं न मे'–यह न मैं हूँ न मेरा है। यह कान–न मैं न मेरा; यह आँख न मैं न मेरी। माने स्वयं इससे अतिक्रान्त होकरके इनको छोड़ा दो। 'अतिक्रम्य मुक्त्वा अतिमुच्य'–इनका अतिक्रमण

करके छोड़ देना–इसका नाम अतिमोचन है। पर, यह कौन कर सकते हैं? वे कर सकते हैं जो धीर हैं। 'धीराः'–यह छोटे-मोटे लोगोंका काम नहीं है।

धीर शब्दकी व्याख्या मूल व्याख्या तो है–'धत्ते इति धीराः'। व्याकरणके अनुसार शुद्ध व्याख्या यही है–जो मनको, इन्द्रियोंको धारण करे, उसका नाम धीर। अथवा 'धियं राति इति धीरः'–परन्तु ये व्युत्पत्ति-प्रदर्शन, वैदुष्य, पण्डित्यका कौशल है; शास्त्रमें जो धीर शब्दकी व्युत्पत्ति है वह इतनी ही है–'धत्ते इति धीरः'–जो मन और इन्द्रियोंको धारण करे। मन और इन्द्रियोंको बिखेरनेवाला अपने आपको कैसे जान सकता है? और अपने आपमें वह कैसे बैठ सकता है, जिसके पाँव हर समय बाहर ही हों? ऐसे समझो कि एक श्रीमतीजी हैं और घरमें वे पाँच मिनट भी बैठना पसन्द नहीं करती हैं-कभी सहेलीके घर, कभी दुकानमें, कभी चौपाटीपर, कभी नारीमन पाइण्टपर, तो, उनको घरमें क्या हो रहा है इसका क्या पता चलेगा, नौकरने क्या चोरी कर ली और घरमें क्या है, क्या नहीं है-क्या पता चलेगा? जो रसोईं घरमें कभी न जाये उसको क्या मालूम पड़ेगा कि आज घरमें नून-तेल है कि नहीं है? तो जो इन्द्रियोंकी मोटरपर या घोड़ेपर सवार होकरके जब देखो तब विषयोंमें भटकता रहता है उसको भला क्या पता चले कि अपना वह जो अचल, अकल, अनीह, निर्विकार आत्मा है उसका क्या स्वरूप है! जो विकारोंमें भटक रहा है, विकारोंका भोग कर रहा है, विकारोंकी सवारी गाँठ रहा है, स्वयं विकारी हो रहा है, वह निर्विकार वस्तुको कैसे समझेगा? तो, सीधी चोट यह है कि मनुष्यको धीर होना चाहिए यदि उसे परमात्माका, परमार्थका, ब्रह्मका या सत्यका साक्षात्कार करना है। तो, इसीलिए बताया कि बाबा, अतिमुच्य–यह सवारियोंसे बाहर जानेका जो तुम्हारा अभ्यास है इसको छोड़ो। इस देहमें मैं-मेरा मत करो, सम्पूर्ण-दृश्य-प्रपञ्चको छोड़ो। 'अस्मात् लोकात् प्रेत्य'का दूसरा अर्थ भी है–यदि जीवनकालमें तुमको ज्ञान नहीं हुआ तो मरनेपर भी हो जायेगा–

स्थित्वा स्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति। (गीता 2.72)

आशा मत छोड़ो और इसके लिए प्रयत्न करो। इससे होगा क्या कि जन्म और मृत्युसे परे हो जायेंगे।

●

प्रवचन : 3.1

आत्मामें मन-इन्द्रियोंकी गति नहीं : 'न तत्र चक्षुर्गच्छति०'।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्।
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥

(केन. खण्ड1, मंत्र 3)

यह जो आत्मदेव हैं उनके बारेमें यह तो बताया कि वह आँखकी आँख है, पर आँख जहाँ जाती है वह आत्मा है या नहीं–यह प्रश्न उठता है। कल एकने हमसे पूछा भी था कि महाराज, आत्माका प्रत्यक्ष तो कभी हो नहीं सकता, आँखसे तो आत्मा कभी दीख नहीं सकता, केवल मानना ही पड़ता है, यह तो बड़ी विचित्र बात है! मैंने कहा–भाई, गन्ध भी तो आँखसे नहीं दीखती, लेकिन नाकसे उसके अतित्वका ज्ञान तो होता है–मानना नहीं होता है, ज्ञान होता है; नाकसे गन्धका प्रत्यक्ष होता है। इसीप्रकार शब्द भी आँखसे नहीं दीखता; परन्तु कानसे शब्दका प्रत्यक्ष होता है। जिह्वासे रसका प्रत्यक्ष होता है, स्पर्शेन्द्रियसे स्पर्शका प्रत्यक्ष होता है। केवल रूपका प्रत्यक्ष ही आँखसे होता है। इसका अर्थ हुआ कि सबके प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करनेका एक ही करण नहीं होता। शब्दके प्रत्यक्षका करण कान है, स्पर्शके प्रत्यक्षका करण त्वचा है, रूपका करण नेत्र है, रसका जिह्वा है और गन्धका नासिका है।

अच्छा देखो, हमको सुख-दुःख होता है, राग-द्वेष होता है, पापी पुण्यात्मापना अपनेमें मालूम पड़ता है, तो क्या ये सब आँखसे मालूम पड़ते हैं? नहीं, यह साक्षीको प्रत्यक्ष होता है। मतलब यह है कि जो जिससे प्रत्यक्ष करने योग्य होता है वह उसीसे प्रत्यक्ष होता है अन्य करणसे नहीं। यह आँख ही ससुरी इतनी बड़ी नहीं है कि जो यह बतावे सो सच्चा होवे! इस आँख

सालीके चक्करमें पड़नेसे अपनी घरवाली जो हमारी बुद्धि है वही छूट जाती है। अतः सालीके चक्करमें मत पड़ना, बुद्धिको देखना।

अब देखो, नारायण! बुद्धि कैसे दिखती है? बुद्धिका भी प्रत्यक्ष होता है, परन्तु बुद्धिका प्रत्यक्ष बुद्धिसे नहीं होता, आत्मासे होता है। दर्शनिक लोग तो बड़े विलक्षण होते हैं—एक दार्शनिक थे, उन्हें भूल जानेकी आदत थी। रातको जब सोने लगते तो सब चीज नोट कर लेते—घड़ी कहाँ रखी है, छाता कहाँ रखा है, टोपी कहाँ रखी है—सब नोट कर लेते और यह भी कि मैं खाटपर सो रहा हूँ। एक दिन सुबह उठकर खड़े हो गये और सब सामान नोटबुकसे मिला लिया। पर उसमें लिखा था कि 'मैं खाटपर'; अब खाट ढूँढ़ी तो खाटपर मैं था ही नहीं। बोले—अरे, मैं क्या हो गया? तो ऐसे दर्शनिक नहीं बनना चाहिए कि जिसमें 'मैं' ही खो जाय! जिस 'मैं' से टोपी सिद्ध हुई, छड़ी सिद्ध हुई, चश्मा सिद्ध हुआ, खाट सिद्ध हुई, वही तो अपना मैं है। इसी मैंको बतलानेके लिए यह उपनिषद्, यह वेदान्तशास्त्र है।

न तत्र चक्षुर्गच्छति—उस आत्मा 'मैं' में आँखकी गति नहीं है। बोले—भाई, मोटरपर, घोड़ेपर चढ़कर कहाँ जा रहे हो? कि अपनेको ढूँढ़ने जा रहे हैं! बड़ी अद्भुत लीला है—मैं ही मैंको ढूँढ़ने जा रहा हूँ! तुम उस समय अपनेको आरेसे चीर देते हो, तलवारसे काट देते हो, जब अपनेको ढूँढ़नेके लिए आँखके घोड़ेपर चढ़कर बाहर जाते हो! न तत्र चक्षुर्गच्छति—जहाँ चक्षु जाती है सो तुम नहीं हो और जो जानेवाली चक्षु है सो तुम नहीं हो और जो चक्षु और श्रोत्रादिका संघात है सो तुम नहीं हो और इसका जो अभिमानी है सो तुम नहीं हो। तब तुम कौन हो? कि यह विचार करने योग्य है कि फिर तुम कौन हो?

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो।

उस आत्मा, जो आँख-की-आँख, कान-का-कान, वाणी-की-वाणी और मन-का-मन है, उसमें न आँख जा सकती है, न कान जा सकता है, न वाक् जा सकता है, न मन जा सकता है! यह जो आत्मा मैं है जो चक्षुपर चढ़कर रूपदेशमें जाता है, श्रोत्रपर चढ़कर शब्द देशमें जाता हुआ-सा मालूम पड़ता है, यह सब मालूम ही पड़ता है, है कुछ नहीं, न कहीं रूप देश है,

न शब्द देश है, न चक्षु, श्रोत्र आदि घोड़े हैं, न उन घोड़ोंका कोई संघात (देह) है; न असलमें चढ़ना है, न जाना है।

उपनिषद् कहती है–

यत्र वा अस्य सर्वम् आत्मैवभूत् तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कं पश्येत् तत्केन कं शृणुयात् तत्केन कं अभिवदेत् तत्केन कं मन्वीत् तत्केन कं विजानीत्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद् विज्ञातारमरे केन विजानीयात् इति। (वृहदा. 2.4.14)

जहाँ जिसके अनुभवमें सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ फिर कौन, किसको किसके द्वारा यह सब जाना जाता है, उसको भला किसके द्वारा जानेगा; जाननेवालेको किसके द्वारा जाना जाय।

यदि मैं आत्मा रूपके समान दृश्य होता तो आँखसे देखा जा सकता था; यदि शब्दके समान श्रव्य होता तो कानसे सुना जा सकता था और वाणीसे बोला जा सकता था; यदि मननीय पदार्थोंके समान होता तो मनसे मनन किया जा सकता था; यदि कोई बौद्ध मान्यता होती तो उसको बुद्धिसे जाना जा सकता था, परन्तु मैं तो चक्षु-का-चक्षु, श्रोत्र-का-श्रोत्र, वाणी-की-वाणी, मन-का-मन और बुद्धि-की-बुद्धि हूँ, तब इन करणोंसे भला मैं कैसे पकड़में आ सकता हूँ। मैं तो इन सब प्रमाणोंसे, करणोंसे पूर्व सिद्ध हूँ, उनके पश्चात् सिद्ध हूँ, इनके रहनेपर भी और न रहनेपर भी सिद्ध हूँ। उस सिद्ध पदार्थमें भला किसी करण या प्रमाणकी गति कैसे हो सकती है–

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो न विद्मो।

तब कहो कि मैं अज्ञेय और अज्ञात है? बोले–नहीं; उसके जाननेकी युक्ति है।

एक दार्शनिक गाय दुह रहे थे। जब गायने दूध दे दिया और बछड़ेको बाँधना हुआ तो उसके गलेमें पगहा लगाकर खींचने लगे, लेकिन बछड़ा उनसे खिंचे नहीं, खींचते-खींचते वे थक गये। इतनेमें उनका नौकर आया और बोला–देखो बछड़ा गायसे ऐसे नहीं हटाया जाता, हम हटाकर बताते हैं। उसने बछड़ेके मुँहमें अपनी अँगुली डाल दी और वह उसको पीने लगा जैसे कोई थन पी रहा हो! तो सबकी युक्ति होती है। आँखको घुमानेकी भी युक्ति होती है। अनिन्दित युक्तिके बिना चित्त आत्मोन्मुख नहीं होता।

जिनको 'मैं' सिद्ध करनेके लिए प्रमाण चाहिए वे बुद्धिमानोंकी कक्षामें नहीं आते। 'मैं' को सिद्ध करनेके लिए प्रमाण? 'मैं'की सत्ता स्वयं सिद्ध है- मैं हूँ। आँखसे देखकर यह निर्णय नहीं होगा कि मैं हूँ-'न तत्र चक्षुर्गच्छति', वाणीसे बोलकरके यह परीक्षा नहीं होगी कि मैं हूँ-'न वाग्गच्छति'। नो मनः-मनसे ध्यान करके यह परीक्षा नहीं होगी कि मैं हूँ।

योगभाष्यमें एक बड़ा विलक्षण श्लोक लिखा हुआ है, श्लोक तो ज्यों-का-त्यों हमको याद नहीं है, पर उससे मिलता-जुलता मैं दूसरा श्लोक बोल देता हूँ-वह श्लोक यह है-

त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते, ध्यानेन चेतः परताः हता ते।
स्तुत्यामया वाग् परता हता ते, क्षमस्व शम्भो त्रिविधापराधान्॥

'त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते'-हे प्रभु, तुम्हारे लिए तीर्थयात्रा करके मैंने तुम्हारी व्यापकतापर चोट पहुँचायी है, तुमको घायल किया है, अपराध हुआ है मुझसे-

'ध्यानेन चेतः परतः हता ते'-ध्यान करके तुम जो चित्तसे पर हो, बुद्धिसे परे हो उसके ऊपर मैंने चोट की है-तुम स्वयं हो, ध्यानगम्य नहीं हो-

'स्तुत्या मया वाग्परतः हता ते'-बोल करके, स्तुति करके मैंने-तुम जो वाणीसे पर हो-इसपर चोट की है-

'क्षमस्व शम्भो त्रिविधापराधः'-हे शंकर, तुम हमारे इन त्रिविध अपराधोंको क्षमा करो!

तो, 'यह घड़ी है' यह मालूम ही इसलिए पड़ती है कि मैं हूँ; यह आँख है यह मालूम ही इसलिए पड़ता है कि मैं हूँ, यह मन है-यह मालूम ही इसलिए पड़ता है कि मैं हूँ, यदि मैंकी सत्ता न हो-यदि यह मैं सद्रूप न हो, तो किसी भी दूसरी वस्तुकी सत्ता नहीं मालूम पड़ सकती। किसको मालूम पड़ेगी? तो हम अपनी सत्तासे सबको सत्तावान करते हैं।

एक ग्रन्थमें मैंने वचपनमें पढ़ा था कि पदार्थका दो विभाग कर दो-एक इदं और दूसरा अहं-एक यह और एक मैं; तो यहके होनेपर और यहके किस्म-किस्मके होनेपर और यहके बदलनेपर और यहके न होनेपर भी 'मैं' रहता है, लेकिन, 'मैं' के न होनेपर 'यह'-चौपटानन्द, कुछ नहीं है; तो तुम्हें

परमात्माको ढूँढ़ना है तो 'यह'में मत ढूँढ़ो। कहाँ ढूँढें? कि 'मैं' में ढूँढ़ो। अविनाशी वस्तु अविनाशीमें रहेगी, अचल वस्तु अचलमें रहेगी, परमार्थ-सत्ता परमार्थमें मिलेगी–इसलिए यहमें मत ढूँढ़ो। बोले–वहमें ढूँढ़ें तो? कि 'वह' तो 'यह' का बच्चा है, पहले 'यह' मालूम पड़ लेगा तब 'वह' की कल्पना होगी-सबसे पहले 'मैं', उसके बाद 'यह' और उसके बाद 'वह'– अन्य पुरुषसे निकट मध्यम-पुरुष होता है और मध्यम पुरुषसे निकट उत्तम पुरुष होता है–यह तो आपलोग व्याकरणमें जानते ही होंगे! 'सः गच्छति, त्वं गच्छसि, अहं गच्छामि–इसमें निकट कौन है? सः दूर है, त्वं निकट है, अहं स्वयं है और मैंके बिना न त्वं की प्रतीति होगी, न सः की प्रतीति होगी। इसलिए परमात्माको यदि ढूँढ़ना है बाबा तो परमात्माको 'मैं' में ढूँढ़ो।

देखो–'सः तौ ते'–ठीक है। 'वह' का बहुवचन–वह, वह, वह हो गया–पूरबवाला वह, पश्चिमवाला वह, दक्षिणवाला वह, ऊपरवाला वह, नीचेवाला वह; और तुम, तुम, तुम–यह भी चलेगा; पर जरा मैं, मैं, मैं चलाओ तो नहीं चलेगा। हाँ! इसीलिए ऐसे व्याकरण हैं संस्कृतमें जिनमें आत्मा शब्दका बहुवचन नहीं होता है–पाणिनी व्याकरणमें तो होता है, पर दूसरे जो व्याकरण हैं उनमें 'आत्म शब्दो नित्यं एकवचनः'–आत्मा शब्द नित्य एकवचन है–आत्मा-बस आत्मानम्, आत्मनः आत्मने–बस-यह व्याकरणकी रीति है, विलक्षण है।

तो, आप आँखसे ढूँढ़ने जायेंगे तो केवल रूप मिलेगा, परमार्थ नहीं मिलेगा; कानसे ढूँढ़ने जायेंगे तो केवल शब्द मिलेगा, परमार्थ नहीं मिलेगा; त्वचासे ढूँढ़ने जायेंगे तो केवल स्पर्श मिलेगा–परमार्थ नहीं मिलेगा; नाकसे ढूँढ़ने जायेंगे तो केवल गन्ध मिलेगा, परमार्थ नहीं मिलेगा; जिह्वासे ढूँढ़ने जायेंगे तो केवल रस मिलेगा, परमार्थ नहीं मिलेगा और मनसे ढूँढ़ने जायेंगे तो? ये पाँचों मिलेंगे, पाँचोंकी जातियाँ मिलेंगी, पाँचोंका अभाव मिलेगा। और मनमें सबका अभाव कर दो तो–न शब्द है, न स्पर्श है, न रूप है, न गन्ध है, न रस है–न इनकी जातियाँ हैं, न इनका अभाव है। नारायण! ऐसी स्थितिमें मनको ले जाओ तो? बोले कि शून्य है। कि इस शून्यका जो साक्षी है वह कौन? इस शून्यको जो देख रहा है सो कौन है? इसको वेदान्त

परमार्थ, ब्रह्म बताता है–'न तत्र चक्षुर्गच्छति'–पहले मन्त्रमें बताया कि 'चक्षुषश्चक्षु': अर्थात् चक्षुका चक्षु है–माने वह चक्षु नहीं है यह बात अतिमुच्यसे भी निकल आयी। दूसरे मन्त्रमें यह बता रहे हैं कि जहाँ आँख जाती है वह नहीं है–यह गच्छति जो क्रिया है इसमें एक तो गमन है, एक ज्ञान है, एक प्राप्ति है और एक मुक्ति है–गच्छति क्रियाका चार अर्थ होता है–

गमनज्ञानमोक्षे तु प्राप्तोचातुर्गतिर्मताः।

तो चक्षुः न गच्छतिका क्या अर्थ हुआ–आँख चलकर वहाँ नहीं जाती–गमन क्रियाका विषय आत्मा नहीं है, ज्ञानका विषय आत्मा नहीं है, व्याप्ति नहीं होती, (जैसे घटमें चक्षुवृत्ति व्याप्त होती है वैसे व्याप्त नहीं होता) और प्राप्ति नहीं होती।

घटका ज्ञान कैसे होता है–जब नेत्र द्वारा घट मनोदेशमें पहुँचता है–ऐसे समझो कि जब नेत्र घड़ेको उठाकारके मनमें पहुँचा देता है–तब मन घटाकार हो जाता है–आपको बाहरवाले घरका ज्ञान नहीं होता है वह तो निमित्त है–घट-ज्ञानका निमित्त है वाध्य-घट, उससे वृत्ति हुई घटाकार–उस वृत्तस्थ घटका ज्ञान होता है और बाह्य घटपर वह ज्ञान आरोपित हो जाता है। इस बातको आप ध्यानमें बैठा लो–किसी भी वस्तुका जब ज्ञान होता है तब वृत्तिके तदाकार होनेके बाद होता है–वृत्तिव्याप्तिके बाद होता है–शास्त्रमें इसके लिए शब्द है वृत्ति-व्याप्ति। अब देखो, आपकी वृत्ति है घटाकार-वृत्तिमें आया हुआ वृत्तिस्थ घट है-तो वहाँ वृत्तिका प्रकाशक चैतन्य और घटका प्रकाशक चैतन्य एक है कि नहीं है? वहाँ वृत्तिका अधिष्ठान चैतन्य और घटका अधिष्ठान चैतन्य एक है कि नहीं है। तो, ज्ञान कब होता है कि जब वृत्ति और विषय दोनोंका अधिष्ठान चैतन्य एक होता है–जब अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य वृत्ति द्वारा घटावच्छिन्न चैतन्यसे एक होता है तब घटका ज्ञान होता है; तो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य घटावच्छिन्न चैतन्यसे एक कब होगा जब घट और अन्तःकरण एक हो जायेंगे। माने जब वृत्ति घटाकार हो जायेगी तब। जब वृत्ति घटाकार हो जायेगी तब जिस देशमें वृत्ति है उसी देशमें घट है, घट और वृत्तिका देश पृथक्-पृथक् नहीं है और दोनोंका अधिष्ठान एक है और दोनोंका प्रकाशक एक है।

अब आप जरा ईश्वरके ज्ञानकी बात लो। ईश्वरका ज्ञान कब होगा कि

जब ईश्वराकार-वृत्ति होगी। देशमें परिपूर्ण, कालमें परिपूर्ण और सर्व-विषयक-ज्ञानमें परिपूर्ण जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान चैतन्य है, उसके साथ जब तदाकार-वृत्ति होगी, तब वृत्यवच्छिन्न चैतन्य और सर्वज्ञ 'सर्वशक्तिमत्'–अवच्छिन्न चैतन्य दोनों एक होंगे। सर्वज्ञाकार-वृत्ति अर्थात् देशमें परिपूर्णाकार-वृत्ति कालमें परिपूर्णाकार-वृत्ति, वस्तुमें परिपूर्णाकार-वृत्ति जहाँ चित्तमें हुई–अर्थात् जब हमारी वृत्तिमें ईश्वर आकर स्थित हुआ–माने देशकल्पना, कालकल्पना, वस्तुकल्पना, सर्वज्ञान कल्पनाका जो पिण्डीभूत-रूप ईश्वर जब हमारे हृदयमें आकरके अवस्थित हुआ–तो जो हृदयावच्छिन्न चैतन्य है, अन्तःकरणा-भासावच्छिन्न जो चैतन्य है और ईश्वरावच्छिन्न चैतन्य है, उन दोनोंकी एकता हो जायेगी और तब ईश्वरका ज्ञान होगा। जो कूटस्थ चैतन्य है, जो अन्तः-करणका अधिष्ठान है वह चैतन्य कूटस्थ ही ब्रह्म है–अन्तःकरणमें जो आभास चैतन्य है सो जीव है और उसके ज्ञानमें, उसके ध्यानमें जो सर्वज्ञता आदि गुणोंको लेकर चैतन्याभास है सो ईश्वर है; और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और ध्यानमें भासते हुए ईश्वरावच्छिन्न चैतन्य, दोनोंका ऐक्य जब होगा तब ईश्वरका ज्ञान होगा–माने जो चैतन्य जीव-साक्षी है वही ईश्वर-साक्षी है, जो जीवत्वावच्छिन्न है वही ईश्वरत्वावच्छिन्न है।

तो, यह ब्रह्मज्ञानकी जो प्रक्रिया है वह प्रत्यक्षज्ञानकी प्रक्रियासे भिन्न है। जब देहको मैं मानोगे तब आँखसे प्रत्यक्ष करने जाओगे, कानसे प्रत्यक्ष करने जाओगे? असलमें ईश्वरको आँखसे देखनेकी जो इच्छा है वह स्थूल-सूक्ष्म-देह-तादात्मकके कारण है; जब हम आँखमें हैं तब आँखसे ईश्वर चाहिए और जब हम मनमें है तब मनसे ईश्वर चाहिए, जब हम अल्पज्ञ जीवरूपमें हैं तब सर्वज्ञ रूपमें ईश्वर चाहिए, जब हम दीन-रूपमें हैं तब दयालु रूपमें ईश्वर चाहिए, जब हम अल्प-शक्ति रूपमें हैं तब सर्वशक्ति रूपमें ईश्वर चाहिए और जब हम स्वयं अशुद्ध रूपमें हैं तब हमको शुद्ध रूपमें ईश्वर चाहिए; और वही जो ईश्वरका शुद्ध रूप है वह बीजमें कोई उपाधि न होनेके कारण, अवच्छेदकावच्छिन्न न होनेके कारण, अवच्छेदक-अवच्छिन्नके भेदसे सर्वथा विनिर्मुक्त है। वह कूटस्थ चैतन्य ही है जो मायावच्छिन्न-चैतन्य ईश्वर है और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है। यह असलमें शुद्ध ही है और अवच्छेदकत्व जो मायामें और

अन्तःकरणमें है, उस अवच्छेदकत्वको अपवादित कर देनेपर, उसका बाध कर देनेपर अवच्छेदकत्व और अवच्छिन्नत्वसे सर्वथा विनिर्मुक्त यह अखण्डचैतन्य ब्रह्म ही है; यही अपना स्वरूप है–ऐसा वेदान्तका सिद्धान्त है। तो–

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः।

पहले यह बात बतायी कि श्रोत्रादिका भी वह श्रोत्रादि है–आत्मभूत अधिष्ठान प्रकाशक आत्मरूप ब्रह्म–इसलिए उसमें आँख नहीं जाती है क्योंकि अपने-आपमें जाना-आना नहीं होता; इसको शास्त्रमें कर्तृकर्म-विरोध बोलते हैं। कर्त्ता कर्म नहीं हो सकता और कर्म कर्त्ता नहीं हो सकता। एक है चढ़नेवाला और एक है चढ़ा जानेवाला–दूसरेके कन्धेपर आप चढ़ जाओगे–तो चढ़नेवाला चढ़नेकी क्रियाका कर्ता हुआ और जिसपर चढ़ा जायेगा वह चढ़नेकी क्रियाका कर्म हुआ; लेकिन यदि कोई चाहे कि हम अपने ही कन्धे पर चढ़ बैठें तो स्वयं चढ़नेवाला और स्वयं चढ़ा जानेवाला नहीं हो सकता, इसी प्रकार यदि कोई चाहे कि द्रष्टा ही दृश्य हो जाये तो वह दृश्य कभी नहीं हो सकता, इसलिए द्रष्टाका भला देखनेका क्या प्रश्न है! देखना नहीं है, देखनेका अपवाद करो–देखा जानेवालेको कहो कि तुम ईश्वर नहीं हो और देखनेवाली इन्द्रियको कहो कि तुम भी ईश्वर नहीं हो और जो देखनेवाला बना अभिमानी बैठा है उससे भी कहो कि तुम ईश्वर नहीं हो और इन तीनोंका जो साक्षी है वह कौन है? कि वह जो तुम हो, इसीको श्रुति ब्रह्म बताती है।

'न वाग्गच्छति'–वाणीके द्वारा जब शब्दका उच्चारण करते हैं तब वह अपने वाच्यको, अभिधेयको प्रकाशित करता है, तब उस समय कहा जाता है कि वाग् अभिधेयके पास गयी, परन्तु उस शब्दका और शब्दके उच्चारण करनेका जो कारण है वाणी, उसकी आत्माका नाम ब्रह्म है; तो प्रत्यक्को छोड़करके पराक्की ओर कहाँ भगे जा रहे हो? बहिर्मुख होना पराक्में जाना है–सामनेकी ओर जो दिखायी पड़ा उसीपर टूट पड़े–इसका नाम पराक् है। और प्रत्यक् क्या है कि 'प्रतीपं अञ्चति इति प्रत्यक्'–जो प्रतीप माने उल्टी दिशामें बैठा हुआ जानता है वह प्रत्यक् है। देखो बीचमें है यह आँख-आँखके आगे है पराक् और इसके पीछे है प्रत्यक्। जैसे शीशेके भीतर बैठकर कोई शीशेके बाहरकी किसी वस्तुको झाँक रहा हो!

एक बार कहीं अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगोंकी पार्टी थी, तो हमने उस समयतक कभी पार्टी देखी नहीं थी। यह सन् 49-50 की बात है—ये बाबू लोग कैसे पार्टीमें चलते-फिरते खाते हैं-मैंने कभी देखा नहीं था। तो हमको श्रीपदमपत सिंहानियाने कहा कि चलो आज हम आपको दिखलाते हैं। मैंने कहा—कैसे देखेंगे? तो बोले कि देखिये, पार्टी तो हमारे ही घरमें है—'रिट्रीट'में (उनका बगीचा है) आपको हम नीचे-वाले कमरेमें बैठा देंगे और उसमें रोशनी नहीं रखेंगे और आप बाहर रोशनीमें क्या हो रहा है सो सब देखते रहियेगा! तो महाराज मैंने देखा—सब चलते-फिरते खायें और अपने हाथसे ही ट्रेमें-से चम्मचसे निकाल लें और घूमें और खायें और खूब गप्प हाँकें—मैं बहुत देरतक देखता रहा। तो, शीशेके भीतरसे मैं देखनेवाला प्रत्यक् हो गया और शीशेके बाहर जो दीखनेवाले थे वे पराक् हो गये। तो यह जो आँखसे दीखता है यह आँखके शीशेके भीतर बैठा हुआ मैं प्रत्यक् और इससे बाहर दीखते हुए जो विषय हैं—शब्द-रस-रूप-स्पर्श-गन्ध है और इनके आश्रयत्वेन निश्चित जो द्रव्य हैं—इनमें जो देश है, इनमें जो काल है और इनमें जो भेद है वह सब-का-सब पराक् है।

तो मैंको जब देखना है तो दिलकी कोठरीमें बैठकरके जो मैं देख रहा है उस मैंकी ओर जाना पड़ता है। वहाँ चक्षुकी गति नहीं है—न वह चक्षुका विषय है, न वह चक्षु इन्द्रिय है-'चक्षुषश्चक्षु' कहकर तो यह बताया कि वह चक्षु-इन्द्रिय नहीं है और 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' कहकर बताया कि वह चक्षुका विषय नहीं है—न वह विषयग्राम है और न इन्द्रियग्राम है और है अपना-आपा। अच्छा, वाणीसे जब किसी शब्दका उच्चारण करते हैं तो वाणी भी कायदेसे उच्चारण करती है इसका भी एक व्याकरण होता है। यह नहीं समझ लेना कि वाणी चाहे जिस चीजको चाहे जैसे बता दें। शब्दोंकी जाति होती है, शब्दोंके प्रकार होते हैं। हम लोग हिसाब करके बैठा रखते हैं कि आखिर शब्द कितने प्रकारसे दुनियामें अपना बोधन करवाते हैं। जैसे देखो, कहीं क्रियासे वस्तुका बोध होता है—किसीको आप बतावेंगे कि यह ड्राइवर है, किसीको बतावेंगे कि यह रसोइया है। यह क्रियासे उस व्यक्तिका बोध कराया। किसीका सन्बन्धसे बोध करायेंगे—आप उन मेमसाहबको जानते हैं न, उनके ये 'हसबेण्ड' हैं; ये राजपुरुष हैं माने

राजाके सिपाही हैं। कोई को गुणसे बतावेंगे कि वह जो सफेद-सफेद दिख रहा है-यह क्या हुआ कि सफेद रंगके गुणसे बता दिया। जातिसे बताना यह है कि वह हरिण है, वह भैंस है, वह गाय है। किसी बातको रूढ़िसे भी समझाया जाता है–जैसे यह 'अ' है, यह 'ब' है, यह 'स' है--ऐसे कल्पना होती है–तो क्रियासे, गुणसे, जातिसे, रूढ़िसे, सम्बन्धसे–ऐसे शब्द वस्तुको समझाते हैं। तो वाणी केवल उतनी ही चीजोंको समझा सकती है-कहीं अभिधा-वृत्तिसे समझाती है, कहीं व्यञ्जना-वृत्तिसे समझाती है–(व्यञ्जनाको कोई वृत्ति मानते हैं, कोई नहीं मानते हैं।) कहीं लक्षणासे समझाते हैं–लक्षणाको कोई वृत्ति मानते हैं, कोई नहीं मानते हैं।

तो अब ये जो परब्रह्म परमात्मा है उसको कैसे समझावेंगे? वह ड्राइवर है कि रसोइया? क्रियाके द्वारा उसको नहीं समझा सकते, पर क्रियाके द्वारा भी समझानेकी पद्धति है–क्रिया है नहीं ब्रह्ममें, पर क्रियाके द्वारा समझाते हैं। कैसे? कि सृष्टि-कर्तृत्वादिका उसपर अध्यारोप करते हैं और फिर बादमें उसका अपवाद कर देते हैं। वह पाचक नहीं है, वह सारथि नहीं है–वह घोड़ोंका संचालन करनेवाला नहीं है, किसीका सम्बन्धी भी नहीं है, यहाँतक कि उसमें व्याप्य-व्यापक-भाव-सम्बन्ध भी नहीं है। श्रुतिने तो स्पष्ट ही कह दिया कि 'व्याप्य-व्यापकता मिथ्या'; कार्य कारण-भाव नहीं है, कार्य-कारण-भावके अध्यारोपके द्वारा पहले उसकी अद्वितीयताको लखाते हैं और फिर कार्य-कारण-भावका अपवाद कर देते हैं–यह उसकी पद्धति है। तो आखिर शब्द उसका उच्चारण कैसे करेगा–यह प्रश्न होता है न! तो जब शब्दकी गति नहीं है तो वाक् क्या करे? तो, आप देखो इसकी भी बहुत विलक्षण गति है–ब्रह्मका उच्चारण वैखरी वाणीसे भी नहीं हो सकता, मध्यमा और पश्यन्ती वाणीसे भी नहीं हो सकता। बोले परा वाणीसे हो सकता है? कि नहीं हो सकता। परा वाणी तो चैतन्यमें अध्यस्त है। चिन्मात्रमें वागत्व ही नहीं है, वागत्वका ही अपवाद है। तो असलमें वाक्का अध्यारोप करके परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीका अध्यारोप करके–फिर इसका अपवाद कर देते हैं। पहले साबुन लगाया शरीरमें फिर लगानेके बाद धो दिया। तो साबुन लगाया यह अध्यारोप हुआ और उसको धो दिया–यह अपवाद हुआ। काहेको यह गड़बड़ अपने सिरपर ली? बोले–

मैल छुड़ानेके लिए। साबुन शरीरमें पोते रखनेके लिए नहीं लगाया जाता, वह तो अपने साथ-साथ मैलको छुड़ाकर ले जाये इसके लिए लगाया जाता है। तो, यह जो सर्वशक्तिमत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वकारणत्व माने सर्वोपादनत्व, सर्वनिमित्तत्व, सर्वाधिष्ठानत्व–ये सब बातें जो परब्रह्म परमात्मापर आरोपित की जाती हैं वे, यह संसार और मायाका मैल जो चढ़ गया है उसको धोनेके लिए, अध्यारोप-रूप साबुन है और इन सबका नेति-नेतिके द्वारा अपवाद किया जाता है। सम्पूर्ण कल्पनाओंका निरास हो जानेके बाद बचा कौन? कि केवल बचा मैं। बोले–इसीको तो श्रुति कहती है कि यह जो अपवाद करनेके बाद बचा हुआ शुद्ध तत्त्व है वह देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है; ब्रह्म है–यह सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे आक्रान्त नहीं है; ब्रह्म है।

'नो मनः न विद्मः'–कि बुद्धिकी भी वहाँ पहुँच नहीं है। जो लोग बुद्धिकी पहुँचमें आत्माको बताते हैं वे वेदान्तके विपक्षी हैं, जो लोग यह समझते हैं कि बौद्ध प्रत्ययके रूपमें ब्रह्मका साक्षात्कार होता है वे असलमें विज्ञानको ही, विज्ञानवादियोंके विज्ञानको ही ब्रह्म बताते हैं–बौद्ध-प्रत्यय तो क्षणिक है–बुद्धि तो सोती है और जागती है, वह तो कालके पेटमें है। तो जो बौद्धके प्रत्ययको वेदान्त बताते हैं वे विज्ञानवादी बौद्ध हैं–जो बुद्धिकी शान्तिको निर्वाण ब्रह्म बताते हैं वे शून्यवादी हैं–ये दोनों वेदान्तके विपक्षी हैं। एकने कहा कि वेदान्त तो एक मान्यता ही है–तो उनका अभिप्राय तो यही हुआ न कि अनुभव-स्वरूप मैं एक मान्यता है! अनुभव-स्वरूप आत्मा मान्यता नहीं है, यह सम्पूर्ण मान्यताओंका प्रकाशक है, सम्पूर्ण मान्यताओंका अधिष्ठान है, मान्यताएँ इसमें आरोपित हैं। इन सब मान्यताओंका अपवाद हो जानेके बाद तब त्वं पदार्थका शोधन होता है।

बोले–'न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्'–कि बाबा, हमको तो पता भी नहीं है कि इसकी शिक्षा किस प्रकार देनी चाहिए–माने मैं हूँ तो सही–मैं स्वयं हूँ, परन्तु तुम्हारी भ्रान्तियोंका पता लगाकरके इसको कैसे सिखलाऊँ? मैं किस जातिवाचक शब्दसे, क्रियावाचक शब्दसे या गुणवाचक-शब्दसे या रूढ़िसे या सम्बन्धसे कैसे मैं तुमको समझाऊँ, कैसे इसका अनुशासन करूँ, कैसे इसकी अनुशिक्षा दूँ? अथवा–'विशेषतो न विद्मःसामान्यतोपि न

विजानीमः'–विशेष रूपमें भी हम उसको बुद्धिसे नहीं जानते और सामान्य-रूपसे भी नहीं जानते, वह सबके निषेधके बाद जो शून्य है वह भी नहीं है और कहो कि वह अमुक प्रकारका है–ऐसा भासता है, वह भी नहीं है। क्यों? बोले कि–

दूरमथो विदितात् अविदितात् अधिः।

वह विदित और अविदितसे परे है। यह सदंश सम्बन्धमें कार्य-कारणका आरोप होता है और चिदंशमें विदिताविदितका आरोप होता है और आनन्दांशमें भोगभागका अध्यारोप होता है। तो परमात्मामें न भोग है न भोगाभाव, न ज्ञात है न अज्ञात और न कार्य है न कारण, न व्यक्त है न अव्यक्त। व्यक्त और अव्यक्तसे विलक्षण, ज्ञात और अज्ञातसे विलक्षण, सुख और सुखाभावसे विलक्षण। ऐसी यह अद्वितीय-वस्तु है कि वेदान्तके सिवाय दूसरे किसी प्रमाणसे, दूसरी प्रक्रियासे, दूसरी प्रणालीसे इसका अधिगम होना शक्य नहीं है।

बोले–बाबा! इस स्वयंप्रकाशमें अविद्या कहाँसे आ गयी? कि अरे, पहले परप्रकाशका अपवाद करके तुम स्वयंप्रकाश रह तो जाओ!

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृति।
इत्यादि तर्क - जालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ॥

(पंचदशी 6.28)

स्वयं प्रकाशमें अविद्या कहाँसे आयी और अविद्याके बिना आवरण कहाँसे हुआ? यह सब तर्कजाल है, तार्किकोंका षडयन्त्र है–जब अपनेको 'स्वयंप्रकाश रूपमें जानते हो कि तुम कालके प्रकाशक, कालभावके प्रकाशक, कालके भावाभावकी कल्पनाके प्रकाशक और स्वयं अधिष्ठान-स्वरूप हो जिसमें न देश है, न काल है, न वस्तु है–ऐसी अद्वितीय आत्मसत्ता हो तब कोई संशय नहीं रहता। ऐसी आत्मसत्ताका बोध वेदान्तके द्वारा होता है, यह बिलकुल ठसाठस ठोस बोध है, इसका बाध कोई नहीं कर सकता है–न प्रमाणान्तरसे इसका अधिगम होता है और न प्रमाणान्तरसे इसका बाध होता है, प्रमाणान्तरका निषेध करके यह वेदान्त आत्माकी अद्वितीयताका, ब्रह्मताका बोध कराता है। ●

प्रवचनः 3.2

आत्मा विदित अविदित दोनोंसे परे है : 'अन्यदेव तद्विदितात्० - 1

वेद का कहना है कि इसी जीवनमें यदि परब्रह्म परमात्माको जान लिया तब तो यह जीवन सफल है और नहीं तो महान् विनाश है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।

(केन. 2.5)

इसी जीवनमें परमात्माको जानो। जो अल्प वस्तुको जानते हैं, छोटी वस्तुको जानते हैं, वे दुःख पाते हैं–पहले छोटी वस्तुको दिलमें बसाना पड़ता है और फिर वही मर जाती है। 'यदल्पं तन्मर्त्यम्'–ये छोटी वस्तुएँ दुनियाकी–मर जाती हैं। 'नाल्पे सुखमस्ति'–छोटी वस्तुमें सुख नहीं है; 'भूमा वै सुखम्'–अनन्त ही सुख है। फिर 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनायः'–जो परमात्माको जान लेता है वह मृत्युसे मुक्त हो जाता है और अमृतत्वके लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है–'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'–परमात्माका ज्ञान हो जाय तो सारे बन्धन कट जाते हैं। बन्धन ही तो है संसारमें–देखो, मोहका बन्धन लिये-लिये फिरते हैं, नहीं तो किसीके साथ कोई रस्सी थोड़े ही बँधी है। 'मोह एवं महान् रज्जुः'–लोभके वश। लोभके बन्धनसे इधर-उधर फिरते हैं-यह कमा लें, यह कमा लें, यह कमा लें। यह कमाई कोई साथ थोड़े ही जाती है; कामके चक्करमें फिरते हैं–कई लोगोंको ऐसी दुश्मनी होती है–किसीपर ऐसा क्रोध आता है कि कहते हैं कि हम इस दुश्मनसे बदला लिये बिना अब रह नहीं सकते–जिन्दा नहीं रहेंगे और बदला लिये बिना मर भी नहीं सकते–ऐसा भी होता है। तो, यह शत्रुसे बन्धन क्यों है? क्रोधके कारण। स्त्री-पुरुषका बन्धन क्यों हैं? कामके कारण। धन और पुरुषका बन्धन क्यों है?

लाभके कारण। परिवार और मनुष्यका बन्धन क्यों है? मोहके कारण; और आदमी विवश होकरके घसीटा-घसीटा फिर रहा है। नाम तो होगा निरञ्जनलाल, लेकिन, असलमें वह घसीटा ही है, क्योंकि एक दूसरेके पीछे घसीटे-घसीटे फिर रहे हैं और इसको सिद्ध मान लेते हैं कि यह तो अब है ही भाई, इसको कैसे काट सकते हैं। किसीसे घृणा होती है–यह बन्धन है। अपनी मान्यताओंको दूसरेके ऊपर लादते हैं कि यह हमारे अनुसार नहीं चलता है तो उससे घृणा हो जाती है। चरित्र सम्बन्धी धारणा सबकी अलग-अलग है। पारसियोंकी अलग, ईसाइयोंकी अलग, मुसलमानोंकी अलग–जाति-जातिकी अलग, देश-विदेशकी अलग। भारतवर्षमें कोई डेढ़ सौ प्रकारसे विवाह करनेकी प्रथा है। आदिवासियोंमें अलग है, हूणोंमें अलग है, यह नहीं कि प्रान्त-प्रान्तकी अलग-अलग नहीं है, जाति-जातिकी अलग-अलग नहीं है। एक जातिके ही कई फिरकें है। कहारोंमें अलग ढंग है, भरोंमें अलग ढंग है, विन्दोंमें अलग ढंग है, अहीरोंमें अलग ढंग है। अब वे अपनी रीति-नीतिको तो बहुत प्यारी, बहुत श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरेको बुरा मानते हैं, तो किसीसे घृणा होती है, किसीपर शंका होती है, किसीसे शरम आती है, किसीसे डर लगता है। यह सब क्या है कि ये सब फन्दे हैं, पाश हैं, जिन्होंने मनुष्यको बाँध रखा है–कुल है, शील है, जाति है, प्रान्त है, राष्ट्र है–बन्धन ही तो है न? पार्टी है–बोले, देखो तुम हमारी पार्टीके हो–उधर मत देखना। तो पार्टीमें बँध गये कि नहीं? दलके दलदलमें फँस गये, ये सब बन्धन हैं, बन्धन। और ये सब मनुष्यके स्वातन्त्र्यमें बाधक हैं, अपना एक दल मान लिया, एक पार्टी मान ली–अपनी जाति, अपना सम्प्रदाय, अपना प्रान्त, अपना राष्ट्र! जो शास्त्रीय संस्कारसे प्राप्त बन्धन था बन्धनकी मुक्तिके लिए, उसको तो छोड़ दिया–यह वर्ण है, यह आश्रम है–यह जो सब संस्कारके रूपमें प्राप्त था कि इन घरोंके द्वारा, इन मर्यादाओंके द्वारा, मर्यादासे परे होना। मर्यादासे परे होनेके लिए जो अध्यारोपित संस्कार थे, अपवाद करनेके लिए, वह पद्धति तो छोड़ दी और अक्लमन्दोंसे सत्य-सत्य समझकरके, और-और विशेषताओंको ग्रहण कर लिया–इसके चक्करमें मनुष्य फँस रहा है। 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः'–परमात्माको जान लो तो तुम्हारे सारे फन्दे कट जायेंगे–'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'–परमात्माके

ज्ञानसे सारे फन्दे कट जाते हैं, मृत्युका अतिक्रमण हो जाता है–'ज्ञात्वा देवं हर्षशोको जहाति'-परमात्माको जान ले तो मनुष्य हर्ष और शोकसे छूट जाय। आज मनुष्यकी क्या दशा है?

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे-दिवसे मूढं आविशन्ति न पण्डिताः॥

यह 'भारत-सावित्री' है–महाभारतकी गायत्री है–दिन भरमें हजार बार तो रोते हैं, शोक करते हैं, अरे वह छूट गया रे। वह बिछुड़ गया रे, यह बिगड़ गया रे, यह जल गया रे, यह मर गया रे–हजार बार रोते हैं–'शोकस्थानसहस्राणि' और 'भयस्थानशतानि च' और सैकड़ों बार डरते हैं–रोज-रोज। कौन? कि मूढ़ लोग। यही मूर्खताका लक्षण है-हजारों बार दिन भरमें डरते हैं, हजारों बार रोते हैं और सौ-सौ धक्के खायें तमाशा घुसकर देखें। तो यह कोई जिन्दगी है, इसमें-से ऊपर उठनेकी इच्छा होनी चाहिए।

हमने बचपनमें एक कहानी सुनी थी–एक महात्मा थे, विरक्त। उनके मनमें एक दिन गुड़ खानेकी इच्छा हुई। गाँवमें जहाँ गुड़ बनता था–कोल्हूपर वहाँ गये। बोले–भाई, हमको गुड़ चाहिए। गाँवका किसान बोला–बाबा, गुड़ कहीं मुफ्तमें मिलता है? देखो, पूरे वर्ष हमको परिश्रम करना पड़ता है–खेत जोतना पड़ता है, सींचना पड़ता है, गन्ना बोना पड़ता है, गुड़ाई करनी पड़ती है, काटना पड़ता है, पकाना पड़ता है, तुम मुफ्तमें ही गुड़ खाओगे? तो बाबाजीने कहा कि भई,कोई काम बता दो, कर देंगे। बोला–गन्नेकी पेराई हो रही, कोल्हू हाँको। तो बाबाजी कोल्हू हाँकने लगे और दिन भर कोल्हू हाँकने पर उनको एक पैसा मिला। नया नहीं, पुराना पैसा। नये पैसेसे भीख माँगनेवालोंको तो बड़ा भारी घाटा हुआ है, जो लोग पुराना एक पैसा देते थे भिक्षामें वे अब नया एक पैसा देने लगे हैं–तो एक पैसा मिला बाबाजीको। फिर उन्होंने कहा भाई, एक पैसेका गुड़ दे दे। दे दिया। बाबाजी आसन बाँध कर बैठ गये, गुड़ हाथमें ले लिया। बोले–क्यों बेटा, गुड़ खायेगा, दिन भर कोल्हू हाँकना पड़ेगा अगर गुड़ खाना होगा! हाथको उठाकर मुँहतक ले जाते, फिर कहते अच्छा, अभी थोड़ी देर ठहरो और वे रात भर इसी तरह आसनपर बैठे रहे और मुँहको गुड़ दिखाते रहे, खाया नहीं उन्होंने गुड़ और सबेरे उठकर

कुएँमें फेंक दिया गुड़। यह वासना बड़ा कष्ट देती है। आदमी उसीमें रच-पच गया है इसलिए उसे मालूम नहीं पड़ता।

साधुओंमें ऐसा रिवाज है। अब वेदान्तकी बात आपको सुनाता हूँ कि जब आमकी फसल आती है तब वे होशियारपुर चले जाते हैं। वहाँ आमके बहुत बगीचे हैं और बढ़िया-बढ़िया आम होते हैं और खूब खानेको मिलते हैं और जब लीचीकी फसल आती है तब जाते हैं मुजफ्फरपुर, बिहारमें। एक साधुके मनमें आया कि हम मुजफ्फरपुर चलकर लीची खायेंगे और वे देहरादूनसे रवाना हो गये। गंगा-किनारे चल पड़े। एक जगह देखा कि गंगाजीके किनारे एक साधु पड़ा हुआ है और उसपर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, तो उन्होंने कहा कि महात्माजी, ऐसे क्यों पड़े हुए हो, जरा उठो और मक्खियोंको उड़ा तो दो अपने चेहरेपरसे। वे बोले कि देखो, हमारे तो बाहर-बाहर इस चामपर ही मक्खी बैठी है हमको कोई तकलीफ नहीं होती है और दुम्हारे भीतर तो एक ऐसी काटनेवाली मक्खी बैठी हुई है जो देहरादूनसे तुमको मुजफ्फरपुर ले जा रही है। तो, ये जो मनमें वासनाएँ हैं न, ये बड़ी-बड़ी मक्खी हैं। जब मनुष्यको यह मालूम पड़े कि हम यह खाये बिना नहीं रह सकते, इनसे मिले बिना नहीं रह सकते, यह किये बिना नहीं रह सकते, तो वह मनुष्य अपनेको स्वतन्त्र भले ही मानता हो कि हमको बीस वर्ष पहले स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी है–पहलेके तो सब परतन्त्र थे, अब बीस वर्षसे हम स्वतन्त्र हैं, तो भले ही अपनेको मालूम पड़ता हो कि हम स्वतन्त्र हैं, लेकिन, जब तुम अमुक काम किये बिना नहीं रह सकते तो स्वतन्त्र काहेको हो, परतन्त्र हो; जब अमुक चीज भोगे बगैर नहीं रह सकते तो स्वतन्त्र क्यों हो परतन्त्र हो, जब अमुकसे मिले बगैर नहीं रह सकते तो स्वतन्त्रता क्या है, परतन्त्रता है। तो, इस चमड़ीके कारण महाराज–यह चामकी पुड़ियामें रखा हुआ जो हड्डी-मांस-चाम-विष्ठा-मूत्र है–इसमें 'मैं' करके यह मनुष्य इतना पराधीन हो गया है, इतना दुःखी हो गया है जिसकी कोई हद नहीं, छोटी-छोटी चीजके लिए–जिसके बिना अपना कोई नुकसान नहीं है, कोई हानि नहीं है, जिसके बिना हमारे जिन्दा रहनेमें कोई बाधा नहीं पड़ सकती, उन चीजोंके लिए मनुष्य अपने हृदयमें काम-क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य बसाता है। तो, इस फन्देसे छूटनेके लिए यह जरूरी है कि हम

अनन्तको जानें, हम ब्रह्मको जानें, हम सत्यको पहचानें। सत्य यह नहीं है जिसमें साधारण मनुष्य उलझा हुआ है, यह इन्द्रियोंका सत्य जो है–जिसको हमारी इन्द्रियाँ बताती हैं कि यह सच्चा है, यह तो वासनाका खेल है। 'अन्यदेव तद्विदितात् अथो अविदितादधि'-उस परब्रह्म परमात्माको जानो जो 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'–स्वयं प्रकाश स्वरूप है और इस अज्ञानान्धकारसे परे है। सत्यके जिज्ञासु बनो। अपनी ईमानदारीको नष्ट मत होने दो। जो चीज तुम्हारी दृष्टिमें बुरी है उसको स्वीकार क्यों करते हो?

प्रश्न यह है कि उस अनन्त ब्रह्मको कैसे समझावें–'यथा एतत् अनुशिष्यात्'-कि भाई, हमको तो पता ही नहीं लगता, क्योंकि आँखसे दीखता नहीं, कानसे सुनायी नहीं पड़ता और मनके सामने आता नहीं, बुद्धिका विषय होता नहीं, तो उसको कैसे समझावें? सचमुच यह संशयका जो पाप है वह मनुष्यको बहुत दुःख देता है। जिज्ञासा दूसरी वस्तु होती है और संशय दूसरी वस्तु होती है–जिज्ञासा तो एक लक्ष्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा है और संशय तो दुविधा है–उभयकोट्यावगाही ज्ञानका नाम संशय है। संशयमें और जिज्ञासामें बड़ा फर्क है। 'संशयात्मा विनश्यति'–जिसके मनमें शंका है उसका तो नाश हो जायेगा। और 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म'–ब्रह्मकी जिज्ञासा करो, यह बात वेद-शास्त्र-पुराण कहते हैं–जिज्ञासा करो यानि जाननेकी इच्छा करो। संशय करो ब्रह्ममें यह नहीं कहते हैं। जिज्ञासा करो और भगवान् कहते ही हैं–संशयात्मा विनश्यति–जो संशय करेगा उसका विनाश होगा, तो संशयमें और जिज्ञासामें अन्तर होता है।

अच्छा, जो बात अपने आप समझमें आनेको नहीं होती है उसके लिए आप दुनियामें क्या तरीका अपनाते हैं? कोई बच्चा हो और उसे घड़ी देखनी न आती हो और घड़ी आँखके सामने हो तो इसके लिए वह क्या युक्ति अपनावेगा? पूछ लेगा कि पिताजी, इस समय घड़ीमें कितने बजे हैं? कोई मशीन है, उसको चलाना नहीं आता है, उसके पुर्जे समझमें नहीं आते हैं और समझनेकी कोशिश करके वह हार जाता है। तब उस समय वह जानकारसे, मिस्त्रीसे पूछ लेगा कि इसके पुर्जे कैसे चलते हैं, क्या है, कैसे है? आप व्यवहारमें अपने द्वारा अन-समझी वस्तुके लिए, अनबूझी पहेलीके लिए यह

तरकीब अपनाते हैं कि नहीं अपनाते हैं? हमलोग पहले बुझव्वल बूझते थे- पहेली, तो नहीं आती समझमें तो कहते, तुम बता दो। हमको समझमें नहीं आयी। बोले कि नहीं, हम तुम्हारी बतायी हुई बात नहीं मानेंगे, नयी ढूँढ़कर निकालेंगे। तो नयी ढूँढ़कर निकालनेमें इतनी तकलीफ होगी, इतनी तकलीफ होगी तुमको कि सच्चाई तक पहुँचनेमें सारी जिन्दगी गुजर जायेगी और नहीं पुहँच पावोगे। तो, संशय पाप है, क्योंकि वह हृदयको कहीं टिकने नहीं देता, जीवनको कहीं टिकने नहीं देता। पति पत्नीपर शंका करे तो घरमें नरक बनेगा कि नहीं? और पत्नी पतिपर शंका करे तो घर नरक हो जायेगा कि नहीं? मालिक नौकरपर शंका करे और नौकर मालिकपर शंका करे तो हर समय डर रहेगा कि नहीं रहेगा? तो, जब यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है कि श्रद्धासे शान्ति मिलती है और संशयसे दुःख होता है तो इतने सुगम मार्गको मनुष्य आखिर छोड़ता क्यों है? तो बोले, भाई हमने देख लिया, क्या देख लिया? कि यह जो इन्द्रियोंका विषय है संसार, यही सत्य है। अब देखो इतने भोले-भाले लोगोंके लिए हम कौन-सी बात सुनावें। एक जगह हम गये, गाँवमें व्याख्यान देने। घण्टेभर व्याख्यान दिया-पं० रामकिंकरजीके गाँवमें गया था। बिलकुल, निखालिश गाँव-ही-गाँव है, शुद्ध गाँव है, शहरकी हवा नहीं पहुँची है। घण्टेभर वहाँ व्याख्यान दिया मैंने। अन्तमें एक श्रोता–जो बड़े अच्छे लगते थे, उन्होंने आकर पूछा कि स्वामीजी, यह जो आप इन्द्रियोंका विषय, मनका विषय बोलते हैं, तो यह विषय माने क्या होता है; आपका सारा व्याख्यान तो सभझमें आ गया, लेकिन, यह विषय शब्द हमारी समझमें नहीं आया! तो आप समझो कि जिसको विषय शब्द समझमें नहीं आया उसको और व्याख्यान कैसे समझमें आया होगा? एक पण्डितजी रामायणकी कथा करते थे। तीन महीनेतक उन्होंने कथा की और एक व्यक्ति सुनता रहा नियमसे। अन्तमें उसने कहा कि पण्डितजी आपने बहुत बढ़िया कथा कही, बहुत आनन्द आया और सब बात समझमें आयी, केवल एक बात समझमें नहीं आयी, वह आप समझा दो! कि क्या? कि सीताजी असलमें रामकी पत्नी थीं कि रावणकी पत्नी थी? सारा रामायण सुननेके बाद भी उसकी समझमें यह बात नहीं आयी–अब पण्डितजीने अपना सिर ठोंक लिया।

तो जो कुछ इन्द्रियोंके सामने आता है, जो कुछ मनके सामने आता है, जो कुछ बुद्धिके सामने आता है–बौद्ध प्रत्यय जो है अथवा साक्षीके सामने जो आता है, उसको बोलते हैं विदित। विदित माने जाना हुआ, जो जाना जाये सो विदित। तो ब्रह्मको जाननेके लिए एक नया तरीका बताते हैं–देखो, तुम जिस विदितको जानते हो वह ब्रह्म नहीं है, और जिस अविदितकी कल्पना करते हो वह भी ब्रह्म नहीं है। बोले–इन दोनों चीजोंके अलावा तो तीसरी कोई चीज हो ही नहीं सकती। जैसे–जाग्रत्-स्वप्न मालूम पड़ते हैं और सुषुप्तिमें कुछ मालूम नहीं पड़ता–तो बोले कि न तुम जाग्रत्-स्वप्न हो, न सुषुप्ति हो। कि तब तो हम कुछ हैं ही नहीं। कि ऐसे मत सोचो। तो विदित वह होता है जो ज्ञानका विषय होता है, ज्ञानका कर्म होता है–'वेद्यते इति।' यह विद् धातु भी कई तरहका है। एकका अर्थ होता है 'विदति'–यह लाभार्थक है, एकका अर्थ ज्ञान होता है, एकका अर्थ विचारण होता है, एकका अर्थ होता है सत्ता। तो 'विदितम्'–ऐसे समझो कि जो विचारका विषय होता है, जो प्राप्तिका विषय होता है, जो ज्ञानका विषय होता है उसको बोलते हैं विदित। अच्छा, वह परिच्छिन्न है कि नहीं? कटा-पिटा–'अल्पं, मर्त्यं, दुःखात्मकं' चाहे जिस देशमें, चाहे जिस कालमें और चाहे जिस व्यक्तिके द्वारा जो कुछ जाना जाता है। 'क्वचित् किञ्चित्, कस्यचित् विदितं स्यात् इति सर्वमेव व्याकृतं विदितमेव'-जो नामरूपवाली वस्तु है और जो एकसे अलग करके दूसरेके रूपमें और दूसरेसे अलग करके पहलेके रूपमें जो चीज जानी जाती है उसको बोलते हैं व्याकृत–अलगाव करके जानते हैं। जब ब्रह्मके बारेमें कोई कहता है कि हाँ-हाँ समझ गये, कैसा? कि ब्रह्म ऐसा है। ऐसा है माने ऐसा नहीं है यह बात तो हो ही गयी न–जब कहेगा कि ऐसा है, तब ऐसा नहीं है यह बात तो हो ही गयी और फिर बोला कि हम ब्रह्मको जान गये। तो यह जो तुम्हारे द्वारा जाना हुआ ब्रह्म है, यह ब्रह्म नहीं है। यह तुम्हारा बच्चा है भला, बेटा है बेटा! जो 'आइडिया' तुम्हारे मनमें ब्रह्मके बारेमें एक बना है उड़ता हुआ-सा–उड़ता हुआ-सा एक ख्याल बना है ब्रह्मके बारेमें, उस उड़ते हुए ख्यालका नाम ब्रह्म नहीं है–जो ख्याल सुषुप्तिमें नहीं रहता, मिट जाता है; समाधिमें

जो नहीं रहता मिट जाता है; प्रलयमें जो नहीं रहता मिट जाता है, तुम्हारे उस उड़ते हुए ख्यालका नाम ब्रह्म नहीं है, आओ ब्रह्मको समझनेकी रीति सुनावें।

सम्पूर्ण व्याकृत और अव्याकृतसे परे ब्रह्म है। यह व्याकृत शब्द जैसा है, ऐसा ही व्याकरण शब्द भी है। विशेष–विशिष्ट आकृति जो प्राप्त करावे उसका नाम व्याकरण और जिसको प्राप्त हो वह व्याकृत। जैसे 'रामः रामौ रामाः'–यह व्याकरणसे सिद्ध व्याकृत शब्द है। ऐसे ही प्रकृतिसे सिद्ध (जो इन्द्रियगम्य पदार्थ हैं वे) व्याकृत हैं। मूल उपादानको लो–मिट्टीको उठाओ, तो मिट्टी हुई प्रकृति। मान लो कि मिट्टी प्रकृति है। और उससे घड़ा बना दिया तो विशेष आकृति हुई, उससे सकोरा बना दिया–यह विशेष आकृति हुई, उससे खपरैल बना दिया, यह विशेष आकृति हुई, मिट्टीकी गोली बना दी, यह विशेष आकृति हुई; तो अलग-अलग जो सारी आकृतियाँ मालूम पड़ती हैं–जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें-उन सबका नाम है व्याकृत-विदित और 'यद् किञ्चित् अज्ञातं उपादाय'–जिस किसी अज्ञात द्रव्य प्रकृतिका उपादान करके, लेकर, उठाकर यह बताते हैं–उसको बोलते हैं-अविदित। ऐसा समझो कि दुनियामें जितनी चीजें हैं वे कभी-न-कभी, कहीं-न-कही, किसी-न-किसी इन्द्रियसे विदित हो जाती हैं, इसलिए वे सब व्याकृत हैं और जो कभी, कहीं, किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं होतीं, वह मूल वस्तु होती है। उपादान कारण-वेदान्तमें उसको अविद्या बोलते हैं, उसीको प्रकृति, प्रधान, अव्याकृत नामसे बोलते हैं; उस अविद्याको अविदित बोलते हैं। तो, अब परमात्माकी पहचान क्या हुई कि जो न कभी जाना गया और न जानी जानेवाली वस्तुओंका उपादान कारण ही हुआ वह वस्तु–परमात्मा या ब्रह्म है। समझो एक साथ तीन आदमी जा रहे हैं–एकने पूछा कि भाई, इसमें राम कौन है। तो बतानेवालेने यह कहा कि जो दाहिने जा रहा है वह मोहन है और बायें जा रहा है सो सोहन है, तो पता लग गया कि राम कौन है। तो यह कहते हैं कि जो जाना जाता है सो भी परमात्मा नहीं है और जो नहीं जाना जाता है सो भी परमात्मा नहीं है-दोनों ओर काट दिया। तो बोले, फिर तीसरी तो कोई चीज ही नहीं है, चीज तो दो ही तरहकी हो सकती

है–जानी हुई या अनजानी। तो बोले कि नहीं है–एक ऐसी वस्तु है जो जानी हुईको भी प्रकाशित करती है और न जानी हुईको भी। बोले कि बाबा, शायद कभी वह भी मर जाती हो। नहीं, वह मरनेको भी जानती है। कि अच्छा, शायद वह कहीं न हो? कि कहीं न होनेको भी वह जानती है। कि अच्छा, शायद कुछ न हो? बोले कि कुछ न होनेको भी वह जानती है–ऐसी वस्तु है। कि ऐसी वस्तु है ज्ञान-स्वरूप–विदित और अविदितसे न्यारी; कार्य और कारणसे न्यारी, विद्या और अविद्यासे न्यारी; दुःख और सुखसे न्यारी और वह वस्तु तुम स्वयं हो।

जो अल्प है सो तो मरनेवाला है–देखो, आपका एक बाल कभी टूटकर गिर जाये तो आप रोते कहाँ हैं–कहते हैं कि भाई, वह तो टूटकर गिरनेवाला ही था। कभी-कभी कितने बाल टूट जाते हैं; कभी पाँवका नाखून टूट जाता है, तो कहाँ रोते हैं, कभी काँचका बर्तन टूट जाता है तो कहते ही हैं–काँच तो टूटने ही वाला होता है–यह तो उसका सहज स्वभाव है–जैसे काँचके बर्तनका टूटना कोई आश्चर्यकी वस्तु नहीं है, वैसे ही संसारमें किसी चीजका मर जाना, नष्ट हो जाना आश्चर्यकी वस्तु नहीं है, यह तो सहज स्वभाव है। बोले, कि मर जानेके बाद भी उस मुर्देको क्या तुम अपने मनमें रखते हो? जो मर गया सो मुर्दा और मुर्दा अगर दिलमें रहेगा तो श्मशान रहेगा, वहाँ सियार रहेंगे, वहाँ गीदड़ रहेंगे, वहाँ भूत-प्रेत रहेंगे, वहाँ कौवे रहेंगे, वहाँ गन्दगी रहेगी–निकाल फेंको अपने दिलसे गन्दी चीजको; गन्दी चीजको अपने दिलमें मत रहने दो, यह स्वयं प्रकाश परमात्माका निवास स्थान है। अपनी वृत्तिमें क्यों मुर्देको रखते हो? श्मशान मत बनाओ अपने दिलको। बोले–हीरा-मोती-सोना-चाँदी–इनको अपने कलेजेमें रखेंगे, अरे, तुम्हारा दिल जड़ हो जायेगा। अपने दिलमें जड़को क्यों रखते हो? कहो कि अपने दिलमें हम किसको रखते हैं–यह तो कुछ नहीं मालूम पड़ता। बोले–बाबा कि यह अन्धकार पालने लायक नहीं है, कहते है कि महाराज, हम बैठते हैं आँख बन्द करके तो बस हमको कुछ मालूम नहीं पड़ता और खुश होते हैं कि समाधि लग गयी। तो, यह बात हँसकर आपको हम बोल रहे हैं, पर यह हँसीकी बात मैं नहीं कर रहा हूँ,

यह बड़ी गम्भीर वेदान्तकी चर्चा है–मुर्दा पालोगे तो दुःख होगा, अन्धकार रहेगा, अज्ञान रहेगा। अज्ञान–अन्धकार, दुःख और मृत्यु–ये तीनों एक साथ रहते हैं, इनको आजतक कोई भी अलग नहीं कर सका, जहाँ अज्ञान है वहीं मृत्यु है और वहीं दुःख है। माने मृत्यु और दुःख दोनों अज्ञानसे ही सिद्ध हैं–

साधो, तुम मरते नहीं, पल्टू करो विचार।

तो, मौत तुमको तब लगती है जब तुम अपने आपको भूल जाते हो; दुःख तब लगता है जब तुम अपने आपको भूल जाते हो, यह केवल अज्ञान-दशामें ही दुःख होता है; तैयारी रखो–एक दिन सब छोड़ना है, ऐसा क्या है जो नहीं छोड़ सकते? यह शरीर भी तो छूट जाना है और शरीर तो बेचारा सौ-पचास वर्ष रहता हुआ भी दीखता है, पर यह मन जो है यह तो क्षण-क्षणमें छूटता है। संसारमें ये जितने दुःखी हैं वे यह समझनेके कारण ही हैं कि हमने अपना मन पकड़ रखा है। एक जगह अपने मनको हमने बाँध दिया है–ऐसे ही आदमी दुःखी हैं। एक जगह जापानमें एक सन्त रहते थे,उनसे किसीने पूछा कि महाराज, ध्यान क्या करें? तो बोले कि कहीं मन लगने न पावे-बस, यही ध्यान करो।

●

प्रवचन : 3.3

आत्मा विदितसे अन्य है : अन्यदेव तद्विदितात्० - 2

अब सार-सार बात लो कि जो अपनेसे अलग होगा उसकी केवल दो ही गति है—या तो वह ज्ञात, जानी हुई होवे या वह अज्ञात, अनजानी होवे। श्रुतिने कहाकि जो जानी हुई है उससे भी ब्रह्म अलग है और जो न जानी हुई है उससे भी अलग है। इसका मतलब यह निकला कि जो जाननेवाला है वह जानी हुईसे भी अलग है और अञ्जानीसे भी अलग है, तो वह अपना आत्मा ही है। उसीको ब्रह्म बतानेके लिए कि यह जो जानी-अञ्जानी दोनों प्रकारकी वस्तुओंसे जुदा, दोनोंको जाननेवाला, विदित और अविदितका ज्ञात–वेदिता आत्मा है यही ब्रह्म है—यह बतानेके लिये यह श्रुति प्रवृत्त हुई है—इसका अभिप्राय यही है।

अब पहले एक सर्वसाधारण सी बात करते हैं—दुनियामें सुख चाहनेवाले तो सभी लोग हैं—सब चाहते हैं कि हमको सुख मिले, पर सुख कैसे मिले—इसको भी पक्का कर लेते हैं कि सुख ऐसे मिले—आप देखो, हमारे वृन्दावनमें बिहारीजीके मन्दिर जाते हैं तो कहते हैं कि हे बिहारीजी हमको सुख चाहिए। बिहारीजी चुप रहे, कि यह तो मैं जानता ही हूँ बोलनेकी कोई जरूरत नहीं है। फिर बोले कि महाराज, वह सुख हमको बेटेके रूपमें चाहिए—बेटा मिले तब हम सुखी होंगे। तो बिहारीजीने सोचा कि यह बात तो हमको नहीं मालूम थी, इसने हमको अज्ञानी बनाया। फिर बोले कि महाराज, बेटेके रूपमें जो सुख चाहिए वह एक वर्षके भीतर ही चाहिए। समयका भी बन्धन लगाया बिहारीजी-के और महाराज बेटी न हो, बेटा ही हो और वह गोरा हो, हृष्ट हो, पुष्ट हो,

बलिष्ठ हो, सेवा करनेवाला हो–माने बिहारीजीको बुद्धिपर तो कुछ छोड़ा ही नहीं–सारा अपनी बुद्धिमें ले लिया। तो सुख चाहते हैं और उसको अपने माने हुए तरीकेसे चाहते हैं–इसमें न ईश्वरकी बात मानें, न गुरुकी बात मानें, हमें तो हमारी वासनाके अनुसार जो वस्तु है उससे सुख मिलना चाहिए। अब कभी-कभी ईश्वरकी इच्छामें और अपनी वासनामें मेल नहीं खाता है तो रोना पड़ता है। रोना कहाँसे आता है कि जब हमारा ईश्वरसे मतभेद होता है तभी आता है। अगर ईश्वरके मतसे हमारा मत मिलता जाये तो रोना कहाँ आवेगा? 'जो थारी राय सो म्हारी राय।'

गाजीपुरमें हमारे दो ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट थे–सेक्रेटरी रखते थे क्योंकि दोनों पढ़े-लिखे नहीं थे, कोई मुकदमा आता तो सेक्रेटरीसे सुनते, फिर पूछते–इसमें तुम्हारी क्या राय है, क्या फैसला है, तो बोलता कि जो थारी राय सो म्हारी राय। तो दूसरा पूछता–तुम्हारी क्या राय है, तो वह बोलता जो थारी राय सो म्हारी राय-माने जो तुम्हारी राय सो हमारी राय। तो जिसने अपनी राय ईश्वरकी रायके साथ मिला दी। 'स देवो यदेव कुरुते तदेव मङ्गलाय'–ईश्वर जो करता है उसीमें अपना मङ्गल है–रातमें अपना मङ्गल, दिनमें अपना मङ्गल, प्रातः अपना मङ्गल है, सायं अपना मङ्गल है, पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण अपना मङ्गल है–मरना-जीना सब अपना मङ्गल है। दिशाओंमें पूरब-पश्चिम होता है और कालमें सायं-प्रातः होता है और वस्तुओंमें आना-जाना-मरना-जीना होता है–यह सब एक ही चीज है, जैसे सायं-प्रातःका भेद है वैसे ही मरने-जीनेका भेद है। तो जो ईश्वर करता है वह मङ्गल-ही-मङ्गल है–अब जब ईश्वरकी रायसे अपनी राय मिल गयी तब दुःखका सवाल कहाँ रहा?

अब आपको इसमें जो मर्म है वह सुनाता हूँ–तुम सत्यसे सुखी होना चाहते हो कि असत्यसे भी सुख लेना चाहते हो? भले असत्यसे मिले लेकिन हमको सुख मिले; भले बेईमानीसे मिले लेकिन हमको सुख मिले; चोरीसे मिले लेकिन हमको सुख मिले; दूसरेके धनसे मिले लेकिन हमको सुख मिले–हमको तो सुख चाहिए, हम धर्म-अधर्म, ईमानदारी-बेईमानी कुछ नहीं जानते। तो बोले–बेटा, अभी 'जायस्व म्रियस्व' अभी तुम संसारमें पैदा होओ और मरो, तुम्हारे लिए ईश्वरकी क्या चर्चा है? जब मनुष्य कहता

है कि सत्यसे ही हमको सुख चाहिए, असत्यसे हमको सुख नहीं चाहिए, चोरी-बेईमानी-व्यभिचारसे हमको सुख नहीं चाहिए, हमको अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहसे सुख चाहिए, हमको बेईमानीसे नहीं; ईमानदारीसे सुख चाहिए, हमको असत्यसे नहीं, सत्यसे सुख चाहिए। तब तुम ईश्वरके मार्गमें चलनेके अधिकारी होते हो। यह बात प्रारम्भमें इसलिए कह देता हूँ कि सबके कामकी कोई बात इसमें-से निकले। असलमें सत्य ही सुख है, जहाँ तुम सत्यसे च्युत हो जाते हो वहाँ ज्ञानसे भी च्युत हो गये और सुखसे भी च्युत हो गये, क्योंकि जो सत्य है वही ज्ञान है और वही सुख है। जो सत्यके ज्ञानके लिये व्याकुल है, सत्यकी प्राप्तिके लिए व्याकुल है वही सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेके लिए भी व्याकुल है और वही सच्चा सुख प्राप्त करनेके लिए व्याकुल है, नहीं तो झूठी चीजसे जो ज्ञान होगा वह सच्चा तो होगा नहीं, वह झूठा ज्ञान भी होगा और झूठा सुख भी होगा। इसीलिए, ये झूठे लोग जो हैं, एक बार इनके पास दस-बीस लाख रुपया आ भी जाय, पर बादमें उनको छटपटाना ही पड़ता है–रुपया आय तो कहाँ रखें, कैसे छिपावें, चोरसे कैसे बचावें, पुलिससे कैसे बचें, घरवालोंसे कैसे बचें–यह बेकली रहती है। रख दिया तो किसीको पता न लगे या अभिमान बढ़ गया कि हमारे पास इतना है। सबको पैसेसे तोलते हैं–कि यह साधु हमारे पास आया है तो पैसेके लिए आया होगा; और पाना चाहते हैं ईश्वर और जिस दिलमें ईश्वर रहना चाहिए, सत्य रहना चाहिए, उस दिलमें आकर बैठ गया पैसा। तो, सत्यकी जिज्ञासा तुम्हारे हृदयमें कितनी है इससे तुम अपने दिलको ठीक-बजा लो, दूसरेको बतानेकी जरूरत नहीं है, असलमें जो सत्य है वही सुख है और सत्य ही ज्ञान है, सत्य ही सुख है, ज्ञान ही सत्य है और ज्ञान ही सुख है। जो लोग असत्यमें सुख लूटना चाहते हैं उनको सुख मिलनेवाला नहीं है और जो लोग असत्यमें सुख लूटना चाहते हैं उनको सुख मिलनेवाला नहीं है, उनको सुख मिलेगा ही नहीं। वे सोचते ही रह जाते हैं–यह करेंगे, यह करेंगे और पैसा उठाकर कोई दूसरा ले जाता है, विष्णु-पुराणमें लिखा है कि पूर्वजन्मके जितने दुश्मन होते हैं–जिनका पैसा लेकर पूर्वजन्ममें मार लिया होता है–माने पूर्व जन्मका जिनका कर्ज रहता है

वे सब इस जन्ममें बेटा बनकर आते हैं कि इस जन्ममें इनसे सब वसूल करेंगे। ये मरेंगे तो हम सब-का-सब ले लेंगे, या तो मार करके ले लेंगे- बेटा बनकर आते हैं, मित्र बनकर आते हैं, रिश्तेदार बनकर आते हैं! यह भी लिखा है कि पाँच प्रकारके पुत्र होते हैं। उनमें-से एक जिनकी धरोहर रखी है वे, एक-जिनका कर्ज लिया हुआ होता है–वे; एक जिनकी चोरी की हुई होती है वे–ऐसे पाँच प्रकारके बेटे होते हैं। तो, सत्य और सुखको जिन्होंने अलग-अलग कर दिया वे परमार्थसे वंचित हो गये और जिन्होंने सत्य और सुखको एक कर दिया वे सत्यके जिज्ञासु हो गये, वे सुखके जिज्ञासु हो गये, परमार्थ-पथके पथिक हो गये।

तो, देखो दूसरी कोई चीज होवे–जानी कि अनजानी, उसके झूठ होनेकी सम्भावना है, पर मैं हूँ–इसके झूठ होनेकी कोई सम्भावना नहीं है। तो यह मैं कौन है? कि यह जानी हुई और अनजानी दोनों चीजोंकी कल्पना करनेवाला अपना आत्मा है और यह है ब्रह्म–ब्रह्म माने देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न परिपूर्ण अद्वय।

●

प्रवचन : 3-4

'अन्यदेव तद्विदितात्० - 3'

(जो मन, प्राण, इन्द्रियोंका प्रेरक है) वह विदितसे भी अन्य है और अविदितसे भी अन्य है। 'यद्विदितं तदल्पम्'–जो जाना जाता है वह छोटा होता है–जबतक अधिष्ठानका, ब्रह्मका ज्ञान नहीं है तभी तक वह रह सकता है। परिच्छिन्नकी उम्र कबतक? जबतक अनन्तका ज्ञान न हो–परिच्छिन्नका ज्ञान होनेसे परिच्छिन्न बाधित हो जाता है–यही उसकी अल्पता है।

अच्छा, आप कभी विचार करें कि आकाशकी लम्बाई-चौड़ाईमें घटाकाशका कितना स्थान है, जबतक आप पूरे आकाशकी लम्बाई-चौड़ाईपर विचार नहीं करते तभीतक घटाकाशका स्थान है–यह अद्भुत' है। इसको लोग ऐसे बोलेंगे–अरे, कुछ-न-कुछ तो होगा ही–ऐसे। कुछ-न-कुछ माने अज्ञान; कुछ-न-कुछ माने अनिर्वचनीय–यही न! दो ही बात हो सकती है। अच्छा, कोई गणितज्ञ सृष्टिका, वह चाहे सूर्य सिद्धान्त शिरोमणिके प्रवक्ता हों और चाहे आईन्स्टीन आदि वैज्ञानिक हों–उनसे पूछो कि तुम गणित निकालकर बता दो कि आकाशके कौनसे हिस्सेमें-सौवें, हजारवें, लाखवें, अरबवें, खरबवें–किस हिस्सेमें घटाकाश है? घड़ेसे घिरा हुआ जो पोल है वह समूचे पोलके किस हिस्सेमें घिरा हुआ पोल है, यह नाकके अन्दर जो पोल है वह आकाशके किस हिस्सेमें है? नारायण, आकाशका हिस्सा ही नहीं होता है। आकाशकी बात मैंने आपको सुनायी! आकाश-भूताकाश, तो हमलोगोंकी दृष्टिमें बहुत स्थूल वस्तु है। यदि कहें कि

आकाशके पचासवें हिस्सेमें घड़ेका आकाश है तो घड़ेके आकाशका पचास-गुना आकाश होगा न! तो क्या आकाश घड़ेके आकाशसे पचास गुना ही है? क्या करोड़ गुना ही है? क्या अरब-गुना ही है? क्या अरब-खरब-गुणा ही है? जिसका ओर छोर ही नहीं है वह किसीका अरब-गुना भी नहीं हो सकता और उसका कोई अरबवाँ-हिस्सा भी नहीं हो सकता। इसलिए महाकाशकी दृष्टिसे घटाकाश नामकी वस्तु कहीं भी नहीं है, न महाकाशसे बाहर, न भीतर। यह तो बड़ी सीधी बात है!

अच्छा, आप यह बताओ कि आकाशकी उम्रमें घटाकाशकी उम्र कितनी है? बोले–भाई, घड़ा यदि सौ वर्ष जिन्दा रहे–टूटे नहीं, फूटे नहीं–सौ नहीं हजार वर्ष रहे तो आकाशके अनादि और प्रवाह रूपसे नित्य उसके अवस्थानमें कितना काल घटाकाशका होता है? कि भाई, आकाशकी उम्रमें अरबवाँ हिस्सा–एक सेकेण्ड घड़ेकी उम्र है। बोले कि तब फिर घड़ेकी उम्रका अरब-गुणा आकाशकी उम्र हो जायेगी न! आकाशकी उम्रको भी परिच्छिन्न बनाना पड़ेगा। जिसका हिस्सा होगा वह हिस्सेवाला भी परिच्छिन्न होगा।

अब ब्रह्मकी दृष्टिसे देखो–ब्रह्म-चैतन्यके कितने स्थानमें यह जीव चैतन्य है? और ब्रह्म-चैतन्यके कितने कालमें यह जीव चैतन्य है? सीताराम! आप ईश्वरके कौनसे हिस्सेमें साढ़े तीन हाथ रहते हैं? ईश्वरमें पूरब है कि पश्चिम हैं, कि नीचे हैं कि ऊपर हैं, कि बीचमें हैं? असलमें जितना दिखता है उतना ही है–अनन्तपर दृष्टि डाले बिना माने उसकी अविद्याको स्वीकार करके जितना दिखता है उतना ही है–यह प्रपञ्चका स्वरूप ऐसा ही है, यह दृष्टि ही सृष्टि है। स्वप्नमें एक आदमी पचास वर्षका दिखता है-अधेड़ और एक अस्सी वर्षका दिखता है–बुड्ढा और एक पन्द्रह वर्षका किशोर दिखता है और एक पच्चीस वर्षका दिखता है–जवान, तो सपनेमें सबकी उम्र एक ही है कि अलग-अलग है? पन्द्रह वर्षका किशोर, पच्चीस वर्षका जवान, पचास वर्षका अधेड़, अस्सी वर्षका बुड्ढा–सपनेमें एक साथ आये, तो उनकी उम्र अलग-अलग है कि एक ही है? केवल दृष्टि समकाल ही है! तो ईश्वरकी उम्रमें आपकी उम्र कितनी है जरा देखिये–शरीरधारी

मनुष्य ईश्वरकी उम्रका सौवाँ हिस्सा है? तो ईश्वरको भी मनुष्यका सौगुणा होकर मरना पड़ेगा। ब्रह्माको मरना पड़ता है। बहुत मामूली बात है यह–यह समझो कि ब्रह्मा अपनी उम्रसे सौ वर्षका होता है और सौ वर्षमें एक वर्ष उसका महाकल्प होता है और उसके एक दिनमें कल्प होता है–एक दिनमें उसके चौदह मन्वन्तर होते हैं–चौदह घण्टे समझो, चौदह घण्टे एक दिनमें–हमारा बारह घण्टेका दिन होता है और बारह घण्टेकी रात होती है और ब्रह्माकी घड़ीमें चौदह घण्टेका दिन होता है और चौदह घण्टेकी रात होती है और उसके चौदह घण्टेमें चौदह मन्वन्तर होते हैं, माने चौदह इन्द्र बदल जाते हैं। आप यह देखो–ब्रह्माके एक दिनमें चौदह इन्द्र स्वर्गमें आते हैं और चले जाते हैं; चौदह मनु पैदा होते हैं और मर जाते हैं और एक मन्वन्तरमें इकहत्तर चतुर्युगी होती है और एक चतुर्युगीमें तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं और उसमें एक कलियुग चार लाख बत्तीस हजार वर्षका होता है और कलियुगमें हम लोगोंकी उम्र अधिक-से-अधिक सौ,डेढ़-सौ वर्षकी होती है। तो, ब्रह्माजीकी सभामें घड़ी लगी है और वही चौदह घण्टेका दिन और चौदह घण्टेकी रात बताती है। एक घण्टेमें तो इन्द्रकी ड्यूटी बदल जाती है जैसे घण्टे भरमें पहरेदार बदल जाता है और उस घड़ीमें जो टिक-टिक-टिक आवाज बोलती है उसमें हमारे युग-युग बीत जाते हैं और उसमें हमारी उम्र है! और अभिमान यह है कि हम जीते रहेंगे; और वह ब्रह्मा भी डरता रहता है कि अब हमारी उम्र गयी, महाकल्प बीता; क्योंकि विष्णुके एक क्षणमें ही ब्रह्माका महाकल्प होता है–समूची उम्र-अब उस क्षणका घण्टा बनता है, फिर दिन बनता है, फिर पक्ष बनता है,मास बनता है, ऋतु बनती है, वर्ष बनता है और अपने वर्षके हिसाबसे विष्णु भी सौ वर्ष रहते हैं और वह शंकरजीका एक निमेष है–वे तो महाप्रलयके देवता हैं। अब उस निमेषसे शंकरजीकी उम्र बनती है–उस निमेषका फिर दिन बनता है, दिनमें फिर पक्ष, मास, वर्ष बनता है और फिर शंकरजी अपनी उम्रमें-से सौ वर्षके होते हैं–वह निराकार ईश्वरका एक संकल्प है। क्योंकि ये ब्रह्मा-विष्णु-महेश तो हर ब्रह्माण्डमें अलग-अलग होते हैं। अरे बाबा, हमलोग कहाँ फँसे हैं इसका कुछ हिसाब है? कि कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड होते हैं और उनमें ब्रह्मा-

विष्णु-महेश होते हैं, तो जो महाविष्णु हैं–उनके एक-एक रोम-कूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड होते हैं–जाके रोम-रोम ब्रह्माण्ड-निराकार ईश्वरका एक संकल्प और निराकार ईश्वरमें संकल्प है ही नहीं, आरोपित है–

'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'–विदितकी उपाधिको लेकर जो बैठा है उसको जीव बोलते हैं और अविदितकी उपाधिको लेकर जो बैठा है उसको ईश्वर बोलते हैं! इसमें भी विवेक है। यह कहानी ऐसी है कि इसको सुननेसे अपरिच्छिन्नकी कथा सुननेसे धीरे-धीरे परिच्छिन्नताके संस्कारका जो पाप है वह घटता है! आपको जबतक यह देह, यह इन्द्रिय, यह अन्तःकरण मेरा है और मैं हूँ माने जबतक हमने स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरको अपने विशेषणके रूपसे ग्रहण कर रखा है तबतक हमारा नाम जीव है। विशेषणके रूपमें ग्रहण करना क्या? कि शरीरका चलना मेरा चलना, शरीरका बैठना मेरा बैठना, शरीरका करना मेरा करना, इसका पाप मेरा पाप, इसका पुण्य मेरा पुण्य, इसका सुख मेरा सुख, इसका दुःख मेरा दुःख–इसको जो आपने ओढ़ लिया है न-इसीका नाम जीवत्व है, यह जीव है। कौन जीव है? कि देखो, दो तरहका रंग है चाहे रंग अध्याहार्य होवे–उधार लिया हो और चाहे रंग स्वाभाविक हो, दोनों विशेषण हो जाता है। यह कपड़ेपर लाल रंग चढ़ा दिया, यह कपड़ेका विशेषण हो गया–लाल कपड़ा–कपड़ेका विशेषण हो गया–लाल; इसको युतसिद्ध विशेष बोलते हैं। और कमल नीला है या लाल है, तो उसको रँगा नहीं जाता है, बाहरसे रंग नहीं आया है, उसमें स्वभावसे आया है, तब भी 'नीलं कमलम्, श्वेतं कमलम्, पीतं कमलम्'–नीला, श्वेत, पीला विशेषण होता है; इसको अयुतसिद्ध विशेषण बोलते हैं। तो यदि इस जन्मे हुए देह-इन्द्रियादिकोंको अथवा साथ रहनेवाले देहेन्द्रियादिकोंको, सूक्ष्म शरीरको अथवा स्थूल शरीरको, हम मैं और मेरा मानते हैं, तो हम विशेषण युक्त हो गये–विशेषण युक्त हो जानेसे इसका पाप, इसका पुण्य, इसका सुख, और दुःख हमको लग रहा है। जब विवेक होता है तब हम इसके द्रष्टा हो जाते हैं और देह इन्द्रियादि उपाधि हो जाते हैं। तो विशेषणसे युक्त होनेपर–जीवत्व है। चाहे वह विशेषण युतसिद्ध हो या कि अयुतसिद्ध। विशेषण चाहे पीछेसे लग

गया हो चाहे पहलेसे लगा हो, यदि हम इस विशेषणको अपना विशेषण मानते हैं तो हम विशेषणवाले हैं, पापी हैं, पुण्यात्मा हैं, सुखी हैं दुःखी हैं और अल्प ज्ञानवान हैं, अल्प शक्ति हैं, जीव हैं। और यदि इस विशेषणसे अपनेको न्यारा जान जाते हैं–जैसे घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे न्यारा होता है वैसे ही देहेन्द्रियादिको देखनेवाला मैं इससे न्यारा हूँ–तब यह विशेषण उपाधि बन जाती है। तब उपाधि बलात् अपना धर्म हमारे अन्दर संचारित-सा कर देती हुई मालूम पड़ती है; जैसे बिल्लौरी पत्थर, स्फटिकमणि, स्वयं तो श्वेत होता है लेकिन जपाकुसुमके उपधानसे वह लाल मालूम पड़ता है, वैसे ही आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है लेकिन इस सूक्ष्म देह और स्थूल-देहकी उपाधिसे यह अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी मानता है। तो जब अपना उपाधिसे विवेक हो जायेगा तो उपाधिके गुण-धर्मोंसे अपना आत्मा बिलकुल असंग अनुभवमें आ जायेगा, उप माने पास और आधि माने आधान करनेवाला–जो पास रहकर अपने गुण-धर्मका दूसरेमें आधान कर दे उसका नाम उपाधि; जैसे जपाकुसुम या लाल कपड़ेपर शीशा रख दें तो शीशा लाल दिखेगा, पर क्या शीशा वास्तवमें रँग गया। बोले कि नहीं रँगा, वह तो पासवाले कपड़ेका रङ्ग है, पासवाले कपड़ेका रङ्ग शीशेमें मालूम पड़ता है। शीशा तो साफ है और कपड़ेका रंग शीशेमें मालूम पड़ता है। यह औपाधिक रँग हुआ। फिर बोले कि यह उपाधिमें पाप है, उपाधिमें पुण्य है, उपाधिमें सुख है, उपाधिमें दुःख है, उपाधिमें परिच्छिन्नता है, लेकिन इस उपाधिके धर्मका अपनेमें आरोप करके और अपनी चेतनताका उपाधिमें आरोप करके हम अपनेको परिच्छिन्न-सुखी-दुःखी आदि मानते हैं। परन्तु विवेक करनेपर उपाधिसे हम अलग हो जाते हैं। तब हम द्रष्टा हो गये। जबतक ये देह-इन्द्रियादि विशेषण रहते हैं और हम विशिष्ट रहते हैं तबतक हमारा नाम जीव और जब ये उपाधि हो जाते हैं और हम इनसे न्यारे, इनके द्रष्टा हो जाते हैं तब हमारा नाम द्रष्टा, आत्मा हो जाता है–

इसी तरहसे जो अविदित है वह कारणावस्था है। यह कारणावस्था जबतक ईश्वरका विशेषण मालूम पड़ती है, ब्रह्म-चैतन्यका विशेषण मालूम पड़ती है, तबतक ईश्वरने संसार बनाया–बनाती तो है उपाधि, परन्तु बनानेवाले

चैतन्यके साथ इसका सम्बन्ध हो जाता है। तो जबतक विशेषणके धर्मसे युक्त ईश्वर मालूम पड़ता है–तबतक ईश्वर कर्त्ता है, ईश्वर भोक्ता है, ईश्वर अन्तर्यामी है, ईश्वर नियन्ता है–तबतक उसका ईश्वरत्व है और जब यह माया विशेषण न रहकरके उपाधि हो जाती है, तब ईश्वर-चैतन्य मायासे बिलकुल न्यारा है, चिन्मात्र है, प्रकाशक है; तब वह हो गया साक्षी, ब्रह्म, और जब दोनोंको महावाक्यसे एकता हो गयी, तब आत्मा और ब्रह्मकी एकताका बोध हो गया और एकताका बोध होनेसे यह उपाधि मिथ्या हो गयी–अखण्डमें उपाधि मिथ्या हो जाती है। इसलिए अखण्ड ब्रह्ममें, अनन्त ब्रह्ममें, अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें यह उपाधि मिथ्या है! तो, विशेषणके साथ सम्बन्ध होनेसे जीवत्व और ईश्वरत्व है और उपहितत्व होनेसे द्रष्टृत्व और साक्षीत्व है और अखण्डार्थका बोध होनेसे विशेषण और विशिष्ट, उपाधि और उपहित–ये सब-के-सब बाधित हो जाते हैं, अनन्त-सत्तामें इनका कोई अस्तित्व नहीं है। अब, आप एक व्याख्यान सुनकरके आवो और बात समझनेकी कोशिश न करो और मान बैठो कि हम ऐसे हैं, वैसे हैं तो उसका कोई क्या करे?

तो, यह विदित और अविदित–विदित माने कार्य, यह कार्यकरण संघात, और अविदित माने कारण। तो, देखो, कार्यको तो आप छोड़ सकते हैं, यह हेय है और अपने आत्माको नहीं छोड़ सकते, अतः वह अहेय है माने विदितसे अन्य है। और कारणको लेकर कार्य बनाया जाता है–कारणं उपादाय कार्यं निर्मीयते; अन्येनान्यत उपादानं उपादाय कार्यं निर्मीयते–अन्य कर्त्ताके द्वारा अन्य कारणको लेकरके कार्यका निर्माण होता है। बीजको लेकर अङ्कुर उगता है। परन्तु यह जो परमात्मा है वह अविदित उपादान नहीं है, वह अनङ्कुर बीज भी नहीं है। वह क्या है कि उससे भी अन्यत् है। अर्थात् कार्य-कारण न तो ब्रह्मके विशेषण हैं और न तो उसकी उपाधि है। वह जो ब्रह्म-वस्तु है अखण्ड चैतन्य है वह तो निर्विशेष और निरुपाधि है–यह वाक्यार्थ हुआ।

अब देखो विदित माने प्रत्यक्ष और अविदित माने परोक्ष; विदित माने ज्ञात और अविदित माने अज्ञात; विदित माने कार्य, अविदित माने कारण और विदित माने सुख और दुःखकी वृत्ति और अविदित माने अव्यक्त; और परमात्मा कैसा है कि 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'–परमात्मा इन

दोनोंसे न्यारा है–न वह हैय है–न उपादेय है। कोई कहे कि हम परमात्माको छोड़ देंगे कि जरा अपनेको आलेपर रखकर आओ पहले तब परमात्माको छोड़ना-नास्तिक भी परमात्मा को नहीं छोड़ सकता; वह जो यह कहता है कि हम परमात्माको नहीं मानते हैं वह उसका झूठा ख्याल है। वह बहुत श्रद्धालु है, बस, उसकी श्रद्धाका मार्ग बदल गया है। क्या? कि हमलोग 'ईश्वर हैं' कहनेवालोंपर श्रद्धा करते हैं और वह 'ईश्वर नहीं है' कहनेवालोंपर श्रद्धा करता है–वह नास्तिकोंपर श्रद्धा करता है और हम आस्तिकोंपर श्रद्धा करते हैं इतना ही तो फर्क है! अच्छा कहो कि नहीं, उसने तो खोज करके देख लिया है कि ईश्वर नहीं है, तो पूछो उससे कि उसकी खोज पूरी हो गयी? तो अपनेको तो माने पट्ठा कि इस शरीरमें मैं हूँ और सम्पूर्ण विश्व प्रपञ्चमें जो है उसको न माने तो बेवकूफ हुआ न! तो, नास्तिकके सामने तो यह चुनौती है कि क्या उसकी खोज पूरी हो गयी? खोज पूरी हो गयी तो हार गया और अभी खोज कर ही रहा है, तो उसको ईश्वरको न करनेका हक कहाँ, श्रद्धालु है वह–नास्तिकोंपर श्रद्धा करता है, उनकी बुद्धिके सामने हार गया उनके तर्कके सामने हार गया है, घुटने टेंक दिये हैं, मुँहकी खा गया है–जिसने कहा कि ईश्वर नहीं है, उसने नास्तिकोंके सामने घुटने टेक दिये हैं। क्या खोज पूरी हो गयी सृष्टिकी? अरे, अभी अणुकी खोज तो पूरी नहीं हुई, अभी परमाणुकी खोज तो पूरी नहीं हुई, अभी शरीरके रोगोंकी खोज पूरी नहीं हुई, अभी इनकी दवाओंकी खोज तो पूरी नहीं हुई, अभी बच्चा पैदा करनेका तरीका तो मालूम नहीं हुआ-अभीतक-आगे हो जाये यह बात दूसरी है, तो अभी तुम्हारा विज्ञान जो है वह कण-कणकी खोजमें तो पराजित हो रहा है-अणु-अणु और परमाणु-परमाणुकी खोजमें तो पराजित हो रहा है-यह महान्‌की, अनन्तकी खोज कब पूरी हो गयी कि तुमने कह दिया कि ईश्वर नहीं है। इसलिए, ये ईश्वरको न कहनेवाले नास्तिकोंके प्रति श्रद्धा करनेवाले लोग हैं। नास्तित्व उनका अनुभव नहीं है। अनुभवकी प्रणाली है यह-विदित और अविदितसे परे ईश्वर है। यदि कोई विदितको ही ईश्वर मानता है तो गलत और अविदितको ईश्वर मानता है तो गलत। बोले-दोनोंसे परे तो कुछ है ही नहीं। कि है क्यों नहीं? है, वही तो है, उसीको तो जानकीजीने बताया था– *'खंजन-मंजु तिरीछे नयननि–बोली नहीं-*

इशारा कर दिया कि वे तो ये हैं–इशारा कर दिया–*'निज पति तीन्हि कह्यो सिय सयननि'*–तो विदित और अविदित दोनोंसे विलक्षण बतानेकी प्रक्रिया क्या है? कि अरे है, जो जाना गया वह नहीं है और जो नहीं जाना गया वह भी नहीं है। कि तब कौन है? कि जो जाना गयाको जाान गया जानता है और जो न जाना गयाको न जाना गया जानता है वह है, वह दोनोंसे जुदा है, वह दोनोंसे न्यारा है, अरे, वही तो है।

तस्मात् न हि आत्मनोऽन्यस्मात् अन्योभावः निरूपितः।

ज्ञात और अज्ञात, स्थूल और सूक्ष्म, कार्य और कारण, सुख-दुःख और सुख-दुःखका अभाव, विद्या-वृत्ति और अविद्या-वृत्ति-दोनोंका जो साक्षी है, दोनोंका जो प्रकाशक है वही ब्रह्म है–यह वाक्यार्थ निकलता है-वही ब्रह्म है, वही परमात्मा है। 'आत्माब्रह्म इत्येष वाक्यार्थः' (शांकरभाष्य)। इसीसे यह जो 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'-श्रुति है-इस वाक्यका अर्थ है कि आत्मा ब्रह्म है, सबका साक्षी, सबका प्रकाशक-सबसे अन्य-कालसे अन्य, देशसे अन्य, वस्तुसे अन्य-देश-काल-वस्तुका प्रकाशक, परोक्ष और प्रत्यक्षका प्रकाशक, कार्य-कारणका प्रकाशक, वृत्तिके विक्षेप और शान्तिका प्रकाशक यह जो आत्मा है असलमें यही ब्रह्म है। महावाक्यमें जो बात कही गयी है वही यहाँ भी कही गयी है-'अयमात्मा ब्रह्म' (माडूक्य02)-यह आत्मा ब्रह्म है; 'य आत्मा अपहत पाप्मा' (छां0 8.7.1)–जो आत्मा पापसे रहित है; 'यत साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म' (वृहद0 3.4.1)–जो यह आत्मा साक्षात् अपरोक्ष रूपसे ब्रह्म है; 'य आत्मा सर्वान्तरः'–जो आत्मा सर्वान्तर है; 'इत्यादि श्रुत्यन्तरेभ्यः इति'-इत्यादि अन्य श्रुतियोंमें भी प्रमाणित है।

महापुरुष बोलते हैं–'अयम् आत्मा ब्रह्म'–पहले अपने बारेमें बोलते हैं–'अयम् आत्मा'–यह अंगुलि निर्देशन करके 'अभिनयेन दर्शयति'-कि यही हमारा अपना आपा ब्रह्म है। आत्मा शब्दका अर्थ चार प्रकारसे बताया गया है-

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् इह।
यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मात् आत्मेति कथ्यते॥

'यच्चाप्नोति'–जो ज्ञान रूपसे सबमें व्याप्त होता है–जो कारणत्वको

स्वीकार करके प्राज्ञ रूपसे सबमें व्याप्त है; 'यदादत्ते'-जो स्वप्न कालमें सबका आदान करता है; 'यच्चात्ति विषयानिह'–जो जाग्रत् कालमें विषयोंका भोग करता है; अर्थात् जो विश्वरूपसे इन्द्रियोंकी उपाधिसे जाग्रत्कालमें विषय-भोग करता है और जो तेजसरूपसे विषयोंके वाह्य-संस्कारको अन्तरमें धारण करके स्वप्न देखता है; और जो प्रज्ञाके घनीभावमें व्याप्त होता है–वह प्राज्ञ; और 'यच्चास्या संततो भावः'-और जो तुरीयरूपमें तीनोंमें एकरस रहता है। इसलिए उसे आत्मा कहते हैं-तस्मादात्मेति कथ्यते।' इस प्रकार 'आप्नोति इति आत्मा; आदत्ते इति आत्मा, अत्ति इति आत्मा; अतति इति आत्मा' ये चार परिभाषाएँ आत्माकी हैं। तो 'अयमात्मा' कहनेका अभिप्राय क्या हुआ कि यही आत्मा-यही मैं जो खाता-पीता-हँसता-बोलता है–यही मैं जो सपना देखता है, यही मैं जो सुषुप्तिकालमें सोता जागता है; यही मैं जो सुषुप्तिका साक्षी रहता है और यही मैं जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें-तीनों एक है–यही मैं ब्रह्म है। 'अयं अभिनयेन दर्शयति'–यह चेष्टा है-इसको चेष्टा प्रमाण बोलते हैं। इशारेसे ही सारी बात कर लेते हैं।

प्रमाणोंके सम्बन्धमें चार्वाक लोग केवल एक प्रमाण मानते हैं- प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष माने उनके यहाँ भी सिर्फ आँख नहीं होती, प्रत्यक्ष माने सब इन्द्रियाँ 'अक्षं अक्षं प्रति यज्जायते'-एक-एक इन्द्रियके प्रति (सामने आकर) जो ज्ञान होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं-अलग-अलग इन्द्रियोंसे अलग-अलग प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्षके पीछे जो चले सो अनुमान ! बौद्ध लोग दो प्रमाण मानते हैं-प्रत्यक्ष और अनुमान। जैन लोग तीन प्रमाण मानते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। न्याय-वैशेषिक चार प्रमाण मानते हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान। प्रभाकर-मीमांसक पाँच प्रमाण मानते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति। कुमारिल-भट्ट छह प्रमाण मानते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। वेदान्ती भी यही छह प्रमाण मानते हैं। ऐतिहासिक लोग सात प्रमाण मानते हैं–एक ऐतिह्य (इतिहास और मानते हैं। पौराणिक लोग आठ प्रमाण मानते हैं–वे संभव नामका एक प्रमाण और मानते हैं–नाट्य-शास्त्रमें नौ प्रमाण मानते हैं–एक चेष्टा नामक प्रमाण और माना जाता है, इस प्रकार-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति,

अनुपलब्धि, ऐतिह्य, संभव और चेष्टा-प्रमाणके सम्बन्धमें ये नौ प्रकारके मत हैं और नवों प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि यह जो मैं-मैं-में बाहरको जो कूड़ा-करकट लग गया है उसको छोड़करके यह जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा है, यह न पापी है; न पुण्यात्मा; है यह न सुखी है न दुःखी यह न संयोगी है न वियोगी, न इसका आवागमन है और न इसका पुनर्जन्म और न इसका लोक-लोकान्तर है और न इसका कभी उच्छेद होता है। जैन लोग लोक-लोकान्तरगामी ही आत्माका स्वरूप मानते हैं और बौद्ध लोग मानते हैं कि यह जो वासनासे युक्त विज्ञानकी धारा बह रही है, इसमें-से यदि वासनाका उच्छेद हो जाये तो विज्ञान तो क्षणिक है ही है, इसलिए वासनायुक्त विज्ञानकी धाराका जो उच्छेद है उसीका नाम निर्वाण है।

यः आत्मा अपहृत पाप्मा–यह साक्षादपरोक्ष जो आत्मा है इसमें पाप नहीं है। काटना-पिटना पाप है; पाप-पुण्य तुमको पीटते रहते हैं, दिन भरमें दस बार पछाड़ते हैं-कभी पाप-वासना पछाड़ देती है, कभी पुण्य वासना पछाड़ देती है-पाप-और पुण्य तुमको पीटतते रहते हैं, काल तुमको काटता रहता है और देश तुमको भगाता रहता है और देहने तुमको जड़ बनाकर रख दिया है!–अपनेको स्थूल देह माननेके कारण तुम जड़ हो गये, हड्डी-मांस-चाम हो गये; अपनेको पापी-पुण्यात्मा माननेके कारण बस पटके जाते हो, पछाड़े जाते हो; देशमें तुमको भागना पड़ता है, काल में तुमको कटना पड़ता है और कितने रंग बदलते हैं महाराज दिन भरमें-सत्रह बार सुखी हो जायें-यह कोई जिन्दगी है? हम तुमको बहादुरीका खिताब देते हैं, हम बहादुरीका पदक तुमको देंगे-यदि जागनेपर पहले तुम अपने को मानो दुःखी और सोनेतक-सोलह घण्टे तक बराबर अपनेको दुःखी मानकर दिखा दो तो। अरे! इस बीचमें न जाने कितनी बार हँस जाओगे-अपने ब्याहकी बात याद आवेगी तो हँसने लगोगे, बेटा होनेकी बात याद आवेगी तो खुश हो जावोगे, नानी मरनेकी बात याद आवेगी तो जरा-जरा दुःख हो जायेगा और पतिसे या पत्नीसे लड़ाईकी बात याद आ जायेगी तो धड़कन जरा बढ़ जायेगी और दिन-भरमें ऐसा सत्रह बार होगा!

तुम दुःखी हो–यह तुम्हारा बिलकुल भ्रम है! अच्छा कहो कि हम सुखी

हैं-तो सबेरे तुम अपनेको मान लो कि हम सुखी हैं और सोने तक अपनेको सुखी ही मानना। दुःखी मत मानना। अरे बाबा, कितनी बार मच्छर काट जायेगा, खटमल काट जायेगा-दुःखी मानोगे; कपड़ेपर कोई दाग लग जायेगा तो दुःखी हो जाओगे और दालमें नोन ज्यादा निकल गया तो अपनेको दुःखी मान लोगे! कितनी छोटी-छोटी बातपर अपनेको दुःखी-सुखी मान लेते हैं– अपना सत्यानाश करके फेंक दिया है। न तुम अपनेको सुखी मान सकते, न तुम अपनेको दुःखी मान सकते–न तुम अपनेको पापी मान सकते, न पुण्यात्मा मान सकते। यह सब तो तुम्हारे सामने सिनेमाके दृश्य आते हैं; कि अच्छा, चलते ही रहो; कि अच्छा, मरते ही रहो-दो-चार बार, दस बार मरकर ही देख लो-ये लोग हैं न-धन गया तो बोले-हाय रे, मर गया; किसीने आँख तिरछी करके देख लिया तो बोले हाय रे मर गया-ये प्रेमी लोग जो हैं ये दिनभर मरते ही रहते हैं-ये जो दिलके टुकड़ेकर-करके फेंकते रहते हैं, ये दिन भरमें कितनी बार मरते हैं इनसे ही पूछ लो आप; जैसे ये प्रेमी लोग दिलके कितने टुकड़े बनाते हैं और फेंकते हैं और फिर भी मरते नहीं है, ऐसे ही लोग भी अपनेको सुखी-दुःखी मानते हैं पर हैं एक ही; कितनी बार पापी-पुण्यात्मा मानते हैं; लेकिन एक ही हैं, कहाँ-कहाँ जाते-आते हैं लेकिन एक ही हैं-इसी प्रकार यह शरीर और मनोवृत्तियाँ और स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर-ऐसे ही बदलते रहते हैं, परन्तु, ये आत्मदेव जो हैं महाराज, इनको कोई पाप लगता है, न विष्ठा-मूत्रका पाप लगता है, न रक्त-पीबका पाप लगता है, न जन्म-मरणका पाप लगता है-कुछ नहीं-पाप लगता ही नहीं-अपहत पाप्मा-अपना जो स्वरूप है वह साक्षी अखण्ड द्रष्टा-कितनी सृष्टि बनी और कितनी बिगड़ गयी-यह ज्यों-का-त्यों। क्षुदा-पिपासा आदि जो पाप्मा है, वह इसमें नहीं है! जरा, मृत्यु, बुढ़ापेका पाप भी इसको नहीं लगता, मौतका पाप भी इसको नहीं लगता, जन्मका पाप भी इसको नहीं लगता, भूख-प्यास भी इसको नहीं लगती; यह दुर्वासना-सद्वासना कुछ नहीं लगता; माया-छल-कपट इसको नहीं लगता, अज्ञानका पाप भी इसको नहीं लगता-अपहत पाप्मा। कई लोग तो ऐसे हैं जो दिन भरमें दो-चार बार ज्ञानी और दो-चार बार अज्ञानी हो जाते हैं-पूछो उनसे-दोनोंमें वे कौन हैं-बोले अज्ञानीपना आया और चला गया और तुम ज्यों-के-त्यों और ज्ञानीपना

आया और चला गया और तुम ज्यों-के-त्यों? न होवे तो मैं ज्ञानी हूँ इस अभिमान और इस वृत्तिका भी प्रकाशक जो चैतन्य है वह उससे जुदा होगा, तो तुम ज्ञानी हो, न अज्ञानी हो।

एक बार सत्सङ्ग हो रहा था भेरियामें, सब महात्मा लोग बैठे थे, अच्युत मुनिजी महाराज थे, उग्रानन्दजी महाराज थे, श्री उड़िया बाबाजी महाराज थे। बोले-ब्रह्मज्ञानी ऐसा होता है, ब्रह्मज्ञानी ऐसा होता है। उड़ियाबाबाजी महाराज बैठे थे अपना आसन बाँधकर। सारी रात सत्सङ्ग होता रहा और उन्होंने अपना आसन नहीं बदला, ज्यों-के-त्यों, उनका आसन बड़ा ही पक्का था-सिद्धासनसे बैठते थे। महात्माओंने पूछा कि और सबोंने तो कहा कि ब्रह्मज्ञानी ऐसा होता है, ऐसा होता है और बारह घण्टेके सत्सङ्गमें तुमने तो एक शब्द भी नहीं बोला, चुपचाप बैठे रहे और आसन भी तुमने नहीं बदला, तो तुम बताओ तुम्हारा क्या ख्याल है? इसपर बाबा बोले कि देखो, इतना तो हम सब जानते हैं कि मैं ब्रह्म, तुम ब्रह्म, हम सब ब्रह्म-परब्रह्म परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं, पर यह ज्ञानी नामका क्या मर्ज है यह हमको मालूम नहीं है; दण्ड हाथमें लेकरके जैसे कोई दण्डी हो गया, जैसे धर्मको अपना मानकर कोई धर्मी हो गया, वैसे ज्ञान क्या ऐसी चीज है कि मुट्ठीमें लेकरके कोई ज्ञानी बनेगा? ज्ञानका भी कोई धर्मी होगा क्या कि मैं ज्ञानी हूँ? मैं ज्ञानी हूँ यदि धर्मी होवे तो मैं ज्ञानी हूँ, इस अभिमान और इस वृत्तिका भी प्रकाशक जो चैतन्य है वह उससे जुदा होगा, तो ज्ञानी-अज्ञानीका सुख-दुःख कहाँ रहा? वह तो उड़ गया-ज्ञानी-अज्ञानी दोनों मर गये, ज्ञानी-अज्ञानी दोनों बाधित हो गये। यह तो जिज्ञासु लोग श्रद्धासे ज्ञान प्राप्त करनेके लिए महात्माओंको ज्ञानी मानते हैं, ज्ञान-दृष्टिसे कोई ज्ञानी नहीं होता, ज्ञान-दृष्टिसे ब्रह्म ही होता है।

श्रुति कहती है–'यत् साक्षात् अपरोक्षाद्ब्रह्म'-बोले, देखो-परोक्ष तो हो नहीं; लेकिन कोई औजार लेकर देखना भी नहीं पड़े–और साक्षीके द्वारा भी भास्य हो नहीं तो बताओ कि वह क्या चीज है? यह एक पहेली है। इसीको बोलते हैं-साक्षात् अपरोक्ष अपना आपा स्वयं साक्षी। 'यत्साक्षात् अपरोक्षात्'–मैं साक्षात्का अर्थ हुआ कि इसमें इन्द्रियका प्रयोग करनेकी जरूरत नहीं है और अपरोक्षात्का अर्थ हुआ कि हमसे न्यारी है-तो प्रत्यक्ष

नहीं है-माने विदित नहीं है और परोक्ष नहीं है-माने अविदित नहीं है, तो ऐसी चीज जिसको देखनेके लिए इन्द्रियोंकी जरूरत नहीं और यहाँतक कि जो हमको भी नहीं दिखती है और हमसे न्यारी भी नहीं है-ऐसी चीज है अपना 'मैं'। श्रुति इसीको बोलती है-ब्रह्म। इसीको बोलती है-'यत्साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म।'

बोले कि जाग्रत् अवस्थाकी यह पुस्तक साक्षात् है या नहीं? कि नहीं है। क्योंकि पुस्तकके और मैंके बीचमें एक आँख नामका चश्मा आ गया है-इसके और हमारे बीचमें मन आ गया है; अरे, इसके और हमारे बीचमें देखनेवाला और देखे जानेवालाका भेद हो गया है। इसी प्रकार स्वप्नके पदार्थ भी साक्षात् अपरोक्ष नहीं हैं। सुषुप्ति और हमारे बीचमें क्या है? बोले कि चश्मा तो नहीं है, वहाँ न बुद्धि है, न मन है, न आँख है-कुछ नहीं है। सुषुप्ति है तो साक्षात्; परन्तु साक्षी-भास्य है-वह साक्षीको मालूम पड़ती है। अतः सुषुप्ति साक्षात् अपरोक्ष नहीं है। तो सुषुप्तिको साक्षी अपना स्वरूप क्यों नहीं समझता? बोले-अविद्या है, अविद्या न होती तो साक्षी सुषुप्तिको अपना स्वरूप ही समझता, क्योंकि उसके सिवाय तो वहाँ कुछ है ही नहीं। यही जो देशका भासक, कालका भासक, वस्तुका भासक है और जो इनके अभावका भी भासक है वही यह सर्वान्तर आत्मा जो ब्रह्म है। 'यः आत्मा सर्वान्तरः।'

अब यह जो सर्वात्मा सर्वविशेष-रहित चिन्मात्र ज्योति ब्रह्म है इसका प्रतिपादक ही 'अन्यदेव विदितादथो अविदितादधि'-यह वाक्य है। वाक्य दो तरहके होते हैं—एक ज्ञानजन्य ज्ञान-बोधक और एक ज्ञानाजन्य ज्ञान-बोधक। एक वचन ऐसा होता है कि जो हम इन्द्रियोंसे जानते हैं, मनसे जानते हैं, बुद्धिसे जानते हैं, साक्षीसे जानते हैं—वह हमारी जानी हुई चीजको जाननेवाली बात होती है, वचन होता है-वह अनुवादक वचन कहा जाता है। जो वस्तु प्रत्यक्षसे, अनुमानसे या दूसरे प्रमाणसे सिद्ध है, उस जाने हुएको बतानेवाला वाक्य अनुवादक मात्र है। यह घड़ी है-इसमें क्या बताना है कि देखो, आँखसे घड़ी दिख रही है-इसका नाम बता दिया कि घड़ी है; यह स्त्री है, यह पुरुष है-एक इन्द्रियसे दिख रहा है, अब उसका नाम बता दिया, तो जो वचन ऐसा होता

है कि प्रमाणान्तरसे सिद्ध वस्तुका निरूपण करता है-वह ज्ञानजन्य ज्ञान-जनक वचन होता है-माने अन्तःकरण-इन्द्रिय आदिसे जन्य जो विषयज्ञान-उसका बोधक होता है। और एक वचन ऐसा होता है जो ज्ञानाजन्य ज्ञानका बोधक होता है-जो चीज किसी तरह न जानी जाये उसका स्वरूप बतानेवाला है। तो अपना जो आत्मा है वह इन्द्रियसे तो जाना कहाँसे जाये, मनसे तो जाना कहाँसे जाये, बुद्धिसे तो जाना कहाँसे जाये-अपने आपसे भी दृश्य नहीं होता, अपने आपसे भी नहीं जाना जाता, तो उसको बतानेवाला जो वचन है उसको बोलते हैं वेद, उसका नाम है श्रुति।

तो, यह जो चिन्मात्र ज्योतिषी है, ज्योति है यह आचार्योपदेश परम्परासे प्राप्त है-जिन्होंने सर्वका निषेध करके अपने आपको ब्रह्म रूपसे जाना है उनकी जो अनादि परम्परासे यह उपदेश चला आ रहा है वहाँ यह प्राप्त होता है, यह तर्क-वितर्कके गड्ढेमें नहीं मिलता है।

●

प्रवचन : 3.5

आत्मा अविदितसे परे है : 'अथो अविदितादधि'

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।।

अपने आप जो चीज नहीं दिखती वह दूसरोंके बतानेपर दिख जाती है। तो बोले कि फिर विश्वास क़र लिया जाता है? कि नहीं, विश्वास तो उसपर किया जाता है जो बतानेपर भी न दिखे-और बतानेपर दिख जाये, अनुभवमें आ जाये तब विश्वास करनेकी क्या बात रही, वह तो अपरोक्ष हो गया। साक्षात्कार ही हो गया। इसलिए, जिन बाबू लोगोंका ऐसा ख्याल है कि बतायी हुई वस्तु केवल विश्वासकी ही होती है उनका ख्याल गलत है। बतायी हुई वस्तु केवल स्वर्गमें रहती है-ऐसा कोई बतात्रे तो केवल विश्वास करना पड़ेगा; या मिलती न हो बतायी हुई हो, तो केवल विश्वास करना पड़ेगा, ये पण्डित लोग स्वर्ग-नरक बताते हैं, पर उनके बताने मात्रसे ही स्वर्ग-नरक नहीं मिलता, तब वह विश्वासकी वस्तु हो गयी; पुनर्जन्म पण्डित लोग बताते हैं, परन्तु वह बताते ही नहीं मिल जाता, तो वह विश्वासकी वस्तु हो गयी। लेकिन, अपने आत्माके बारेमें अनुभवी पुरुष जैसा बताते हैं वह तो बताते ही वैसा मिल जाता है। तो बतानेसे जो वस्तु प्राप्त होती है वह विश्वासकी होती है या आचार्यका उपदेश या सम्प्रदायका उपदेश केवल विश्वास है-ऐसा कहनेवाले कहाँतक सोच-विचार करके बोलते हैं इसपर आप ही निर्णय दे लो।

अच्छा, तो आत्मा अपरिच्छिन्न है माने देशसे, कालसे, वस्तुसे आत्मा परिच्छिन्न नहीं होती, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे आत्मा परिच्छिन्न नहीं होती-यह बात आपको बताने मात्रसे मालूम हो जायेगी–

'इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्व्यचिचक्षिरे'–धीर और व्याख्याता-धीर माने ब्रह्मानुभवी और व्याख्याता माने शास्त्रज्ञानी–

'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'-तुम्हें तत्त्वदर्शी ज्ञानी ज्ञानका उपदेश करेंगे; 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठ'-तो ब्रह्मनिष्ठ अनुभवी है और श्रोत्रिय विद्वान् है। जो अपने नामके आगे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अपनेसे ही जोड़ लेते हैं या अपने चेलोंसे जुड़वा लेते हैं, उनकी बात हम नहीं करते, हम असलीकी बात करते हैं, डालडाकी नहीं करते हैं। जैसे नकली घी चलता है ऐसे ही नकली श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ भी चलते हैं, तो हम उनकी बात नहीं करते हैं। पहले एक प्रकारका चित्र बनता था और बाजारमें आता भी था-उसमें जंगल बना हुआ है, पहाड़ बना हुआ है, मैदान बना हुआ है, तो वह चित्र हमलोग देखते थे। तो कोई जानकार आदमी कहता कि इसमें एक गधा कहीं छिपा हुआ है उसको ढूँढ़कर निकालो। अब हम ढूँढ़कर थक जाते, हमको उसमें गधा नहीं मिलता था-हमको उसमें पेड़ मिलता, पहाड़ मिलता, नदी मिलती, पर गधा नहीं मिलता; और बादमें जब वह आदमी हाथ रखकर दिखाता कि देखो यह गधा यहाँ छिपा पड़ा है तो बिलकुल साफ-साफ दिखने लगता था। अच्छा तो जब दिखने लगता तब क्या हम उसके बतानेपर विश्वास करते होते थे? नहीं, वह तो हम देख रहे होते थे। परन्तु, देख कब पाते थे कि जब वह बता देता था। आप अपने आप भी देख सकते हैं-अपने ब्रह्मपनेको अपने आप भी आप देख सकते थे-कब? कि यदि ब्रह्म आँखसे दिखता, मनके ध्यानमें आता, बुद्धिके विचारकी वहाँ तक पहुँच होती या शान्तिमें अज्ञानको निवृत्त करनेका सामर्थ्य होता! शान्ति, समाधि अथवा शून्यतामें तो अज्ञानको निवृत्त करनेका सामर्थ्य नहीं है और जहाँ बुद्धि है, विवेक है, विचार है, मन है वहाँ वह दृश्य नहीं है; तो इसलिए वस्तु होनेपर भी बतानेके बाद उसका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है, यही इसका नियम है, यही इसकी मर्यादा है।

एक बार मैं अलीफ क्लासमें था-पहले अलीफ और 'बे' क्लास पास करके तब कक्षा एकमें आते थे-ए, बी जैसे होता है, ऐसे ही 'अलीफ' 'बे' होता था। उन दिनों सरकण्डेकी कलमसे पट्टीपर लिखते थे, तो मैं उसके लिए रोज चाकू स्कूल ले जाता और जब कलम टूट जाती तो उससे बना लेता। एक दिन चाकू मिला ही नहीं-बस्तेमें रखकर रोज ले जाता था, अब सारा बस्ता ढूँढ़ लिया-चाकू मिला ही नहीं! मैंने मोलवी साहबसे शिकायत कर दी कि हमारा

चाकू किसीने चुरा लिया। मौलवी साहबने तुरन्त सब लड़कोंको खड़ा करके पूछा कि इनका चाकू किसने चुराया है? एक लड़का जो हमारे पास बैठा था उसने कहा कि मैंने तो देखा है कि चाकू इन्होंने अपनी अण्टीमें रखा है। वह हमारी ही अण्टीमें मौजूद था, लेकिन हम भूल गये थे और उसके बताये बिना न वह हमारी आँखसे सूझता था, न वह विचारसे मिलता था, न समाधि लगानेसे मिलता था, वह तो पहलेसे हमारी अण्टीमें रखा हुआ था, उस लड़केने बताया तो तुरन्त मिल गया। तो, यह जो अपना आपा है आत्म-तत्त्व-इसकी जो प्राप्ति है वह-'इति शुश्रुम पूर्वेषां' ये 'नस्तद्व्याचचक्षिरे'–यह मैंने अपने पूर्व गुरुओंसे यह बात सुनी है–उन्होंने उपदेश किया है कि विदित-अविदितका साक्षी आत्मा ब्रह्म है।

'व्याचचक्षिरे' भी बहुत विचित्र है–इसमें दर्शन भी है, केवल व्याख्यान नहीं है। कैसे? कि चक्षुमें जो चक्ष है वही व्याचचक्षिरेमें है–वही चक्ष है। चक्षण किया, माने दिखा दिया–इसका चक्षण, दर्शन, अनुभव हो गया–उसके बताने मात्रसे हो गया, तो क्या बताया उन्होंने कि शिष्यने आग्रह किया कि महाराज, हमें तो आप ब्रह्मका दर्शन करायें तो उन्होंने कहा–विदित और अविदितसे विलक्षण है ब्रह्म। अब जरा वाक्य-भाष्यका अभिप्राय आपको सुनाते हैं। केनोपनिषद्पर एक पद-भाष्य है और एक वाक्य-भाष्य है! एक श्लोक देखिये–

अन्यत्वेनाप्रमेयत्वं प्रमेयत्वे तु दृश्यता।
अतोऽप्रमेयता श्रौती प्रत्यञ्चं न विमुञ्चति॥

यदि परमात्मा हमसे अन्य होवे तो वह अप्रमेय नहीं होगा और श्रुति तो कहती है कि परमात्मा अप्रमेय है, प्रमाणका विषय नहीं है। जैसे आँखसे रूप दिखता है या जैसे मनसे मूर्त्तिका ध्यान होता है या जैसे बुद्धिसे हित-अहित, शत्रु-मित्रके बारेमें विचार होता है ऐसे यह आत्मा आँखका विषय नहीं है, मनका विषय नहीं है, बुद्धिका विषय नहीं है। तो यदि परमात्मा अन्य है तो प्रमेय होगा-किसी-न-किसी प्रमाणका विषय होगा-और प्रमाणका विषय नहीं होगा तो या तो हमारा विषय होगा और नहीं तो होगा ही नहीं-अगर किसीके अनुभवका विषय नहीं है तो होगा ही नहीं। बोले कि अच्छा, आत्माको प्रमेय

ही मानें तो क्या हर्ज है? कहते है कि 'प्रमेयत्वे तु दृश्यता'–यदि प्रमेय मानोगे तो आत्मा दृश्य होगा और दृश्य होगा तो विकारी होगा, विकारी होगा तो विनाशी होगा, विनाशी होगा तो काल-परिच्छिन्न होगा, काल-परिच्छिन्न होगा तो बाध्य होगा, बाध्य होगा तो मिथ्या होगा। इस प्रकार प्रमेय होनेपर आत्मा मिथ्या हो जायेगा और अन्य होगा तो उसका प्रमेय होना जरूरी है। तो बोले भाई कि फिर अप्रमेय कहनेका अभिप्राय क्या है? तो 'अतोऽप्रमेयता श्रौती प्रत्यञ्चं न विमुञ्चति। इसलिए, वेदमें जो परमात्माको अप्रमेय कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि हम ही परमात्मा हैं–हम अन्य भी नहीं हैं और प्रमेय भी नहीं हैं और अप्रमेय भी हैं।

एक बार कोई एक बालकका फोटो मेरे पास ले आया-बड़ा भोला-भाला बालक था और उसके सिरपर टोपी थी! चित्र दिखानेवालेने मुझसे कहा इसमें एक सरदारजी हैं। मैंने कहा-बाबा, बालक दीखता है इसमें सरदारजी कहाँ हैं? उसने कहा-हैं! हमने कहा-हमको दीखता तो है नहीं, हम तुम्हारे कहेपर विश्वास कर लेते हैं। उसी समय उसने चित्रको जो घुमाकर उल्टा किया वह सरदारजी दिखने लगा-सीधा तो बालक दिखता था-उलट दिया तब वही चित्र सरदारजी दिखने लगा-उसमें दाढ़ी भी, उसमें चोटी भी। तो असलमें, यह देखनेका फर्क है, जब आप अपनेसे अन्यको देखते हैं कि हम आत्माको, परमात्माको पकड़ेंगे तो वह ऐसे नहीं पकड़ा जायेगा। जो ज्ञाता है वही आत्मा है :–'यो हि ज्ञाता स एव सः'–

'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' कहनेका अभिप्राय क्या है? देखो-यह माला है, यह विदित है–माने ज्ञात है। यह माला अपनी एक जगह (देश) रखती है, वह देश ज्ञात है और यह जितनी देरमें है वह देर (काल) भी ज्ञात है–वर्तमानमें है; इसको बोलेंगे विदित। तो यह ज्ञात माला और उसका ज्ञात स्थान और उसका ज्ञात समय, इससे न्यारा है ब्रह्म–यह बात कही गयी। तो बोले कि फिर यह माला बननेके पहले जैसी थी वह ब्रह्म होगा या सूत टूट जानेके बाद जैसी होगी वैसा ब्रह्म होगा, तो, यह पहले क्या थी? तो बोले–किसी पेड़-पौधेमें थी। कि वह पेड़-पौधा पहले क्या था? बोले–माटीमें, बीजमें था। कि बीज पहले कहाँ था? कि पञ्चभूतमें

था। ऐसे ही आप एक पीढ़ी, दो पीढ़ी, चार पीढ़ी चलो तो अन्तमें आपको कह देना पड़ेगा कि बाबा हम नहीं जानते-माने अज्ञानमें था अच्छा। तो यह आगे क्या हो जायेगी? बोले–कि पञ्चभूतमें मिल जायेगी और बादमें क्या हो जायेगी कि प्रकृतिमें मिल जायेगी। अच्छा, फिर बादमें क्या हो जायेगी? कि बोले, हम नहीं जानते बाबा! जब यह माला अज्ञात थी, अज्ञात देशमें थी और अज्ञात कालमें थी और अज्ञात देशमें जायेगी, अज्ञात होगी और अज्ञात स्थानमें रहेगी या नहीं रहेगी-दोनों बात देख लो। तो इस ज्ञात और अज्ञात दोनोंसे अन्य कौन है? वही जो इसके पूर्वकी कल्पना करनेवाला है, इसके पश्चात्की कल्पना करनेवाला है, इसके वर्तमानकी कल्पना करनेवाला है। तो वर्तमानमें भी यह (माला) ज्ञात है अपने हृदयमें और इसकी पूर्वमें अथवा पश्चात्में जो अज्ञातता है वह भी हृदयमें है, तो यह अज्ञात वस्तु, अज्ञात काल, अज्ञात देश और यह माला, ज्ञात वस्तु, ज्ञात काल और ज्ञात देश-दोनों हृदयमें ही मालूम पड़ रहे हैं। बोले, उससे अन्यत् ब्रह्म है। अब देखो जो अज्ञात देश, अज्ञात काल, अज्ञात वस्तुसे अवच्छिन्न चैतन्य है-ज्ञाताज्ञातात्मकताकी जो कल्पना है उस कल्पनाका जो अधिष्ठान है सो ही प्रकाश है और वह तुम स्वयं हो। जो अपना अत्मा है वह भूत, वर्तमान, भविष्यत् काल और बाह्य-अन्तरङ्ग और अन्तराल देश और कार्य-कारण-करणात्मक स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च-सबकी कल्पनाका अधिष्ठान और सबकी कल्पनाका प्रकाशक है और वह इससे बिलकुल विलक्षण है। वह कौन है? कि वह जो जान रहा है वही है। इस मालाको जो जानता है-मालाके वर्तमान कालको, मालाके वर्तमान देशको, मालाके वर्तमान नाम-रूपको जो जानता है वही मालाके पूर्व देश-काल-वस्तुको भी जानता है और पश्चात् देश-काल-वस्तुको भी जानता है-इसकी अज्ञातताको भी वही जानता है; तो श्रुति ब्रह्म किसको बताती है? कि इसी जाननेवालेको श्रुति ब्रह्म बताती है।

अच्छा आप मनको यदि रोकेंगे तो समाधि हो जायेगी। समाधि होती है, यह मत समझना कि समाधि नहीं होती है, समाधि होती है। लेकिन, क्या समाधि ब्रह्म होगी? आप बताओ!बोले कि लगेगी तो हो जायेगी। यदि आपकी ऐसी मान्यता हो तो कहो तो हम आपको बिलकुल बेवकूफ ही बता दें! कैसे?

कि जो समाधि पहले नहीं थी और अब लगी है वह पूर्वमें विद्यमान न होनेके कारण भूतकालसे परिच्छिन्न हुई। अच्छा, ब्रह्म भी क्या पहले नहीं था? यदि आप यह मानते हो कि जब समाधि लगेगी तब ब्रह्म, तो समाधि तो अभी नहीं है इस समय, तो क्या इस समय ब्रह्म नहीं है? तो, ब्रह्म तो इस समय भी है और समाधि इस समय नहीं है, इसलिए समाधि ब्रह्म नहीं है। समाधि लगकर टूट जाती है इसलिए भी समाधि ब्रह्म नहीं है, समाधि लगनेसे लगती है इसलिए भी ब्रह्म नहीं है।

अच्छा, आओ-इष्टाकार वृत्ति करें-अब, इष्टमें किसीका नाम लेनेकी जरूरत नहीं है-मनमें एक आकृतिको रोकें-असलमें समाधि भी मनमें एक आकृति है, क्योंकि पूर्व-आकृति और पश्चात्-आकृति और पश्चात्-आकृतिसे विलक्षण है, तो बहुत लोग ऐसे होते हैं जो हाथ-पाँवको तो आकृति मानते हैं-जैसे सोनेमें कङ्गन बन गया, हार बन गया, कुण्डल बन गया तब तो आकृति है और सोनेकी सिल्ली हो या पासा हो तो आकृति नहीं मानते हैं। अरे, वह सिल्ली भी सोनेकी आकृति है, शक्ल है और वह पासा भी आकृति है, उसको गलाकर प्यालेमें रख लो तब भी वह आकृति है। अच्छा तो आओ, इष्टाकार वृत्ति करें, तो वह वृत्ति एक आकारकी प्राप्त हुई। आप निश्चय करो-एक आकारकी वृत्ति प्राप्त हुई, तो आकार बाहरसे घुसता नहीं है। जैसे हम आपको कहें कि एक डण्डेका ध्यान करो, तो क्या डण्डा आपके दिमागमें घुस गया? अरे, डण्डा तो बाहर रखा है, दिमागमें डण्डा नहीं आया, आपका दिमाग ही डण्डेके रूपमें मालूम पड़ने लगा। तो, असलमें आपकी बुद्धिकी जो डण्डाकार प्रतीति है, इष्टाकार प्रतीति-असलमें यह बुद्धि ही है आपकी। तो चाहे द्रव्यको, एक नीलम सामने रखकर त्राटक करो और चाहे नाककी नोकका ध्यान करके उसपर नीला-पीला-काला देखो-यह त्राटककी पद्धति है; चाहे आँखको अधखुली रखकर ध्यान करो, चाहे खुली रखकर या बन्द रखकर ध्यान करो, मनमें किसी शक्लको आने दो कि मत आने दो मनकी एकाग्रता हो कि समाधि हो, विदित दशा हो कि अविदित दशा हो, जाग्रत् हो कि सुषुप्ति हो, सृष्टि हो कि प्रलय हो, विक्षेप हो कि समाधि हो–ब्रह्म तो वह है जो उसको देख रहा है, जो उसका अनुभव कर रहा है वह ब्रह्म है, तुम ब्रह्म हो–'यो हि ज्ञाता स एव

सः, सर्वात्मत्वात् ।'क्योंकि असलमें वही सर्वरूपसे भास रहा है-जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति,सृष्टि-स्थिति-प्रलय, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, हिरण्य-गर्भ, प्रकृति-सर्व रूपोंमें। श्री उड़िया बाबाजी महाराज कभी-कभी छत पर बैठते थे। तो हम लोग दो-चार होते बैठ जाते, बोलते-जैसे आगमें-से चिन्गारी निकलती है ऐसे अपने स्वरूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और उनमें देवता और दानी प्रकट होते हैं और लुप्त होते हैं-क्षण-क्षणमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्डका उदय और विलय होता है। तो, यह उदय और विलय काहेमें होता है? क्या भौतिक अग्निमें जैसे चिन्गारी निकलती है वैसे होता है? कि नहीं, चिद्घनमें जो चित्कण निकलते हैं सो। कि अरे बाबा, चिद्घनमें कोई अवकाश रखा है कि चित्कण निकलें उसमें-से? वह कोई लोहा है कि उसमें-से चिन्गारी निकलेंगी? उसमें कोई काल है कि उदय होंगे और विलय होंगे? कि नहीं, यह सब भासमान है, भानमात्र।

तो देखो, यह सर्वात्मा अपना ज्ञाता जो आत्मा है इसका दूसरा कोई ज्ञाता नहीं है-यह बात ध्यान करो। बोले कि देखो भाई, हम जैसे सबको जान रहे हैं वैसे ही हमारा जाननेवाला भी कोई होवे। बोले-कि अच्छा, हमारा जाननेवाला कोई है यह भी हम ही जानेंगे या और कोई दूसरा जानेगा? बोले-कि हाँ, यह आपने समझाया कि दृश्य ईश्वर नहीं हो सकता तो हमने मान लिया कि हमारे सामने तो नहीं है लेकिन, शायद पीछे बैठा वह हमको देख रहा हो तो? बोले-बाबा, कि वह हमको पीछे बैठा देख रहा है–यह भी तो हम ही जानते हैं, तो हमारे ही अन्तःकरणमें यह वृत्ति है कि कोई परोक्ष ईश्वर है, कोई कारण-रूप ईश्वर है और कोई व्यापक ईश्वर है, व्यापी ईश्वर है, कारण-रूप ईश्वर है, अनन्त-ईश्वर है, परोक्ष-रूप ईश्वर है, ऐसा भी तो हम ही जानते हैं–तो इस विदितसे भी ब्रह्म अन्य है, सर्वान्तर है। इसलिए आप इस श्रुतिको ध्यानमें रखें–'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' (श्वेता0 3.19) माने कहीं कोई छोटी-मोटी चीजको परमात्मा बनाकर और आपकी बुद्धिको परिच्छिन्न न कर दे, अल्प न कर दे, इसलिए इस बातको देखो-स वेत्ति वेद्यं न-यह सबको जानता है और उसको जाननेवाला कोई नहीं है। तो सबको जाननेवाला मरेको और जिन्देको-दोनोंको

जाननेवाला कौन कि मैं। अगर कोई मेरे सिवाय जाननेवाला है तो उसको जाननेवाला भी मैं-न च तस्यास्ति वेत्ता। बोले कि मैं को कोई जानता है? यह मैं किसीका ज्ञेय नहीं है–विदितादन्य–मैं किसीका ज्ञेय नहीं है। 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (बृहदा0 2.4.14) सबको जानता है उसको भला कौन जानेगा?

एक बारकी बात है, हम लोग बाँधपर श्रीहरिबाबाजी के पास थे। वहाँ एक आर्यसमाजी सज्जन आते थे। वे कहते थे कि ईश्वर बिलकुल निराकार ही है-आप तो जानते ही हैं। तो, एक दिन हमारे पास ही बैठे थे और बड़े जोर-शोरसे उनके तर्क-वितर्क चल रहे थे, युक्ति-प्रयुक्तिका तो क्या पूछना-बड़े तेज आदमी थे-महाशयजी प्रतिपादन कर रहे थे; तो मैंने उनसे पूछा कि अच्छा, निराकार ईश्वर कभी किसीके अनुभवमें आया कि नहीं आया? तो तुम्हारा मतलब क्या है पहले साफ कर लो, तब हम बतावेंगे। वे जल्दी पकड़में आनेवाले लोग नहीं होते हैं–यह तो आप जानते ही हैं। बोले-तुम्हारा मतलब क्या है पहले यह बताओ। हमने कहा कि हमारा मतलब यह है कि यदि ईश्वर कभी किसीके अनुभवमें नहीं आया तब तो उसके होनेमें कोई प्रमाण नहीं है, वह आकाश-कुसुमवत् मृषा है, और यदि अनुभवमें आया तो पहले अनुभवमें नहीं था फिर आया और फिर अनुभवमें नहीं रहा या रहा-दोनों बात हो सकती है, तो अनुभवका पहले जो आकार था उससे विलक्षण आकार आया कि नहीं आया? ईश्वर साकार है या ईश्वर निराकार है-तो ईश्वर निराकार है ऐसा अनुभव भी एक आकार है, यदि अनुभवमें आया तो ईश्वर साकार है यह बात सिद्ध हो गयी और यदि अनुभवमें नहीं आया तो ईश्वर है यह सिद्ध नहीं हुआ, ईश्वर ही कट गया। अभिप्राय यह कि ईश्वर अनुभवमें आया तब तो वह नाशवान हो जायेगा, वैसे मरा, क्योंकि जो अनुभवमें आयेगा सो जायेगा, जो आयेगा सो जायेगा, और नहीं आया तो असिद्ध हो गया, अप्रामाणिक हो गया। तो तुम कैसे ईश्वरकी स्थापना करते हो? हम कहते हैं कि ईश्वर न साकार है, न निराकार है, जिस अनुभवसे साकार-निराकार दोनों प्रकाशित होते हैं वह अनुभव ही ईश्वर है-हमारी स्थापना यही है। देखो, इससे क्या हुआ कि साकारमें भी ईश्वर-बुद्धि करके आराधना कर सकते हैं और निराकारमें भी ईश्वर-

बुद्धि करके आराधना कर सकते हैं-आराधना करनेके लिए तो निराकार-रूप और साकार-रूप दोनों ठीक हैं-न हम साकार उपासनाका खण्डन करें, न निराकार उपासनाका खण्डन करें-लेकिन, असली जो ईश्वरका रूप है वह साकार और निराकार दोनोंसे विलक्षण है। वह दोनोंसे क्या विलक्षण है कि अनुभव-स्वरूप है–ये साकार इसमें आते और जाते हैं और निराकार इसमें आते और जाते हैं; निराकार इसमें पैदा होता और मर जाता है और साकार इसमें पैदा होता और मर जाता है और यह निराकार और साकार-दोनोंका अधिष्ठान, दोनोंका प्रकाशक-यह स्वयं-प्रकाश जो आत्मदेव है, आत्म-चैतन्य है इसीको श्रुति ब्रह्म बताती है।

तो 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'–इसका मतलब है कि तुम अक्लसे जितना जानते हो उससे आगेकी बात श्रुति बताती है, तुम्हारी अक्लके पीछे जो बैठा हुआ है उसको श्रुति लखाती है। तुम बारम्बार परमात्माको अपनी अक्लके आगे बैठाकर जैसा बनाना चाहते हो और वह बराबर तुम्हारी अक्लके पीछे जमकरके, तुम्हारा स्वरूप रहकरके, वह अक्लके चकल्लससे बच जाता है, तो, इसका मतलब यह हुआ कि व्यक्तसे विलक्षण है, अव्यक्तसे विलक्षण है-व्यक्त काल जो सावयव है संवत्सर, मन्वन्तर कल्पादि रूप-इससे भी विलक्षण है और अव्यक्त जो निरवयव काल है, अधिष्ठानमें कल्पित है, उससे भी विलक्षण है। व्यक्त जो पूर्व-पश्चिम आदि दिशा है उनसे भी विलक्षण है और अव्यक्त जो निरवयव दिक् जो अधिष्ठानमें कल्पित है, उससे भी विलक्षण है। यह सावयव जो व्यष्टियाँ हैं स्त्री-पुरुष आदि, देवता-दानव आदि इनसे भी विलक्षण है और इनका जो निरवयव प्रधानमें, प्रकृतिमें, अध्यस्त कल्पित रूप है, बीजरूप है उससे भी विलक्षण है और असलमें इसमें ये दोनों हैं नहीं। अच्छा इसको भी अज्ञात ही मानें तो क्या दोष है? तो यह प्रक्रिया ले लो, कि जो-जो विदित होता है वह अन्य होता है और अन्य माने काल-परिच्छिन्न, देश-परिच्छिन्न होता है-इसका कोई-न-कोई विरोधी होता है, वह अनित्य होता है, अनेक होता है और अनेक होनेके कारण अशुद्ध होता है। विदित जो होगा वह एक इंच या इंचोंका मेल होगा, एक वस्तु या अनेक वस्तुओंका मेल होगा और एक कालमें या अनेक कालमें होगा; और जो जानता है, यह जो अनुभव है,

यह इससे विलक्षण होगा। जिसमें अनेकता होगी वह अशुद्ध होगा और अनुभव इस अशुद्धिसे विलक्षण है।

एक बात आपको प्रसङ्गवश सुनाकर आगे बढ़ते हैं-यह जैसे सर्व और अद्वैत शब्द हैं, इन दोनोंमें कुछ फर्क मालूम पड़ता है कि नहीं? तो विवेक करना-जैसे एक-एक-एक करके तीन हुए, तो उसको बोलेंगे-सर्व। तो सर्व अनेकताका मिश्रण होता है, इसलिए ब्रह्म सर्व नहीं है, सर्व-पदवाच्यका नाम ब्रह्म नहीं है। यह जो बोलते हैं कि सब ब्रह्म ही है जो-स्त्री भी ब्रह्म, पुरुष भी ब्रह्म-मैंने पंजाबमें सुना था कि वहाँ असी ब्रह्म-तुसी ब्रह्म कोई लीला होती है, मैं भी ब्रह्म, तूँ भी ब्रह्म-ब्रह्मसे ब्रह्म मिल गया; तो यह ब्रह्म नहीं है यह तो अनेकका पुञ्ज है, अनेकका गुणित है। अद्वैत माने सर्व नहीं, ब्रह्म माने सर्व नहीं-सर्व और सर्वाभावका अधिष्ठान, सर्व और सर्वाभावका प्रकाशक और अद्वितीय। जो है वह ब्रह्म होता है। एक और अद्वितीयमें भी फर्क है। ब्रह्म एक नहीं होता; एक तो संख्या होती है, गिनती होती है तो एक-एक दो होता है, तो फिर ब्रह्म-ब्रह्म दो ब्रह्म हो गये कि नहीं हो गये? ब्रह्म एक होगा तो कट जायेगा। एक बटे दो होता है कि नहीं? कि होता है। कि ब्रह्म बटे दो होगा कि नहीं होगा? तो अद्वितीय और अद्वितीयका जोड़ दो अद्वितीय नहीं होता। एक-एकका जोड़ तो होता है, लेकिन अद्वितीय अद्वितीयका जोड़ दो नहीं होता; सर्वके कई हिस्से होते हैं, ब्रह्मके कई हिस्से नहीं होते; एकका एक बटे दो होता है; परन्तु ब्रह्मका, अद्वितीयका एक बटे दो नहीं होता।

तर्हि अविदितम् न, विज्ञानापेक्षत्वात् ।

अच्छा भाई, विदितको तो तुमने काट दिया, अब जरा अविदितपर विचार करो, बोले-देखो, अविदित जो होता है वह विज्ञानकी अपेक्षा रखता है माने उसका अनुभव होना चाहिए-यदि कोई वस्तु अविदित है तो विज्ञानके द्वारा इन्द्रियोंके द्वारा, ध्यानके द्वारा, योगके द्वारा उसके विज्ञानकी अपेक्षा है; नहीं जानते हैं तो जान लेंगे! बोले कि यह आत्मा ऐसा है कि इसे विज्ञानकी अपेक्षा नहीं है: 'विज्ञानानपेक्षत्वात्-आओ हम, अपनेको विज्ञानकी कसौटीपर चढ़ावें! आप क्या कभी यह भी शङ्का करते हैं कि हम हैं कि नहीं हैं? सीताराम! आपके मनमें कभी यह शङ्का होती है कि मैं हूँ कि नहीं हूँ देखो,

यह शङ्का तो आपको हो सकती है कि मैं रहूँगा कि नहीं-यह शङ्का भी हो सकती है कि मैं था कि नहीं, माने मैं कालसे अपरिच्छिन्न हूँ कि नहीं? यह शङ्का तो हो जायेगी, परन्तु मैं हूँ कि नहीं, यह शङ्का आपको नहीं हो सकती। तो, इसका मतलब हुआ कि जिस कालमें 'मैं हूँ'-ऐसी जो वृत्ति है, उस कालमें वर्तमानकालके साक्षीके रूपमें आप विद्यमान हैं, तो जो वर्तमानकालातीत है, वर्तमानकालाधिष्ठान है, वर्तमानकालसाक्षी है वह भूतकालिकवृत्ति और भविष्यत्कालिकवृत्तिका साक्षी होगा कि नहीं होगा? जितना भूत बीत गया है वर्तमानकालके स्तरपर ही तो बीत गया है न? और जितना भविष्य आवेगा वर्तमानकालके स्तरपर ही तो आवेगा न? जितना भूत बीता है वह वर्तमानके पेटमें-से निकला है और जितना भविष्य आवेगा वह वर्तमानके पेटमें आवेगा और हर वर्तमानमें आप यह अनुभव करेंगे कि मैं वर्तमानका साक्षी हूँ, तो कालमें आपको काटनेका सामर्थ्य कहाँ है? तो, कहनेका अभिप्राय क्या है कि यह स्वयं जो स्व है यह विज्ञानका विषय नहीं है, इसको जाननेकी अपेक्षा नहीं है बल्कि छोटी-मोटी जाननेकी वस्तुओंके जाननेके फिराकमें तुम्हारी पराकवृत्ति हो गयी है-अपने-आपको जाननेके लिए किसी विज्ञानकी जरूरत नहीं है। न यन्त्रकी, न इन्द्रियकी, न मनकी, न ध्यानकी, अविदित विज्ञानके लिए लोगोंकी प्रवृत्ति होती है और अपना आपा तो विज्ञान-स्वरूप है, सबको यही जानता है। तो जो सबको जानता है-अपना-आपा-सूर्यको यह जाने, चन्द्रमाको यह जाने, समुद्रको यह जाने, धरतीको यह जाने, कार्यको यह जाने, कारणको यह जाने, यह तो अनपेक्ष सिद्ध है–जैसे दीयेको देखनेके लिए टार्च जलानेकी जरूरत नहीं होती, वैसे अपने आपको देखनेके लिए किसी बाहरके विज्ञानकी जरूरत नहीं होती।

अच्छा अब एक बात आपको और सुना देता हूँ-देखो, जो प्रत्यक्ष और अपरोक्ष है उसका नाम विदित है और जो परोक्ष है उसका नाम अविदित है-यह माला प्रत्यक्ष है, स्वर्ग परोक्ष है और सपना और नींद अपरोक्ष है। हम आपको चार विभाग करके बताते हैं-एक तो होता है प्रत्यक्ष-इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है; और एक होता है-अपरोक्ष। अपरोक्ष क्या होता है कि हमारे मनमें राग है कि द्वेष है, कि दुःख है कि हर्ष है-यह आपको अपरोक्ष होता है। आप कैसे

जानते हैं कि आपके मनमें शोक है कि हर्ष है–आँखसे? आँखकी जरूरत नहीं पड़ती है उसमें। नाकसे, कानसे, कोई आकार नहीं बताता है कि आपको शोक है। शोक आपको अपरोक्ष है। अच्छा, आज आपको सपना आया-इसका कोई गवाह है दुनियामें? हमारे दादाजी सोते हैं हालमें तो रातको किसी-किसीका नाम लेकर पुकारते हैं-अब रातको तो वहाँ कोई दूसरा होता ही नहीं है। तो हमारी नींद टूट जाती है तो हम सुनते हैं मजेसे। (नींदमें बोलते हैं) कि किसका नाम लेकर पुकार रहे हैं। अब, हम कहें कि तुमको ऐसा सपना आया दादाजी, तो कहेंगे न, ऐसा नहीं आया, ऐसा आया-हम उस सपनेके गवाह नहीं हो सकते; उस सपनेका गवाह कौन है? कि ये खुद हैं, वह स्वप्न इनको अपरोक्ष है। अच्छा, इनको नींद आयी कि नहीं आयी, इसको ये ही जान सकते हैं, उसमें हमारा अनुमान लगाना बिलकुल व्यर्थ है, बल्कि कभी-कभी अनुमान लगाकर लोग गड़बड़ कर देते हैं। लेकिन, स्वर्ग-नरक कहाँ है? तो बोले परोक्ष हैं। यह माला प्रत्यक्ष है, इन्द्रियोंसे मालूम पड़ती है; और हमारे मनमें हर्ष है, कि शोक है, कि स्वप्न है, कि निद्रा है-यह साक्षी-भास्य हैं-हम ही देखते हैं कि ये हैं-यह परोक्ष कभी नहीं होता। तो माला कभी प्रत्यक्ष होती है और कभी परोक्ष होती है और इसके दूसरे भी गवाह होते हैं-हम सौ आदमी, दो सौ आदमी इस मालाको देख रहे हैं एक साथ और एक सरीखी, लेकिन, जो अपरोक्ष होता है वह केवल हमको ही दिखता है, दूसरेको नहीं दिखता है। और जो परोक्ष होता है वह न इन्द्रियोंको दिखायी पड़ रहा है और न इस समय मनको दिखायी पड़ रहा है–साक्षीको भी नहीं दिखायी पड़ रहा है–वासना-विशिष्ट जब होंगे तब सपनेकी तरह दिखायी पड़ेगा कि हम स्वर्गसे आये हैं कि नरकसे आये हैं या हम स्वर्गमें जायेंगे उसमें हूरे होंगी यह कल्पना करेंगे।

तो, यह ब्रह्म कैसा है? ब्रह्म माला मिलनेके पहले जैसे परोक्ष थी क्या वैसा है? कि नहीं। तो देखनेके बाद जैसी परोक्ष हो जायेगी क्या वैसा है कि नहीं। कि जैसी इन्द्रियोंसे माला दीख रही है वैसी है? कि नहीं। अच्छा कि जैसे अपने मनमें राग-द्वेष स्वप्न-निद्रा अपरोक्ष रूपसे भासती है वैसा है? कि नहीं। अच्छा, तो स्वर्ग-नरकादि जैसा है वैसा है? कि नहीं। तो लो, सबके लिए

नहीं-नहीं करते जा रहे हैं। कि भाई, बात यह है कि यह जितने प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्ष पदार्थ आते हैं; वे आते हैं और जाते हैं और ब्रह्म तो ऐसा है जो न आता है न जाता है। कि तो वह कौन है? कि वह तुम्हारा 'मैं' है-आत्मा है। बोले कि भाई, आत्मा तो हमारी नन्हीं मुन्नी प्यारी-प्यारी छोटी-सी है तो बोले, इतना जो तुमको मालूम होता है कि हमारी आत्मा है यह भी ठीक है और प्यारी है यह भी ठीक है और आत्माको मालूम पड़ता है यह भी ठीक है–आत्मा है यह सद्भाव है, सत् है और आत्माको ही मालूम पड़ता है यह चिद्भाव है और आत्मा प्यारी लगती है यह आनन्द-भाव है-इसीको सच्चिदानन्द बोलते हैं–कि आत्मा सच्चिदानन्द है-है, जानती है और प्यारी है; है, प्रकाशती है और प्रिय है-कि यह ठीक है-इसका नाम सच्चिदानन्द है इतना तो तुमको मालूम पड़ता है, इतना तो अक्लसे मालूम पड़ेगा, समाधिसे भी मालूम पड़ेगा, ध्यानसे भी मालूम पड़ेगा, विचारसे भी मालूम पड़ेगा-इतना तो मालूम पड़ेगा। लेकिन, श्रुति इतना ही नहीं कहती है, वह कहती है कि देखो, यही जो तुम्हारी है और प्रकाशती हुई प्यारी आत्मा है-सच्चिदानन्द यही अद्वितीय ब्रह्म है। माने यह कालकी कल्पनाके उदयसे पूर्व और कालकी कल्पनाके विनाशके अनन्तर है; देशकी कल्पनाके उदयसे पूर्व और देशकी कल्पनाके विनाशके अनन्तर है, वस्तुकी कल्पनाके उदयसे पूर्व और वस्तुकी कल्पना के विनाशके अनन्तर है; माने देश-काल-वस्तुकी जो धारा प्रतीतिमें बह रही है, केवल मालूम पड़ रही है, उस धाराके उदयसे पूर्व और लयके पश्चात् भी जो है, वह यही तुम्हारा आत्मा है।

प्रतीति होना माने मालूम होना। प्रतीति शब्दका अर्थ है बाहरसे भीतर, भीतरसे बाहर; जो बाहर सो ही भीतर; जो भीतर सो ही बाहर। 'इति' माने ज्ञान और 'प्रति' माने उल्टा-बाहरसे भीतर आना, भीतरसे बाहर जाना-उलटते रहना, धाराका उलटते रहना, इसको प्रतीति बोलते हैं, भान बोलते हैं। घट-ज्ञान क्या है कि घट-घटके प्रति वह बदलता है, घटके प्रति बदलता है, मठके प्रति बदलता है, पटके प्रति बदलता है, इसलिए वह प्रत्येक पदार्थका पृथक्-पृथक् ज्ञान होनेके कारण प्रतीति है–प्रत्येक इति और यह जो अखण्ड ज्ञान है वह एक है–यह घट आया और गया और ज्ञान बिलकुल एक, जैसे एक

लालटेन लेकर आप खड़े हों या म्युनिसिपैलिटीकी लालटेन जल रही है और उसके नीचेसे दस आदमी आये और गये, तो दस आदमी तो बदल गये लेकिन लालटेन तो नहीं बदली न, वह तो एक ही है। ऐसे ही स्वयं-प्रकाश आपका आत्मदेव जो है वह तो एक है और उसके सामने दस ईश्वर आते हैं और जाते हैं और दस जीव आते हैं और जाते हैं और दस जगत् आता है जाता है और वह तो बिलकुल स्वयं प्रकाश-स्वयं प्रकाश प्रकाशक है, उसमें हृदय भी कितने आते हैं और हृदय भी कितने जाते हैं-उन हृदयोंसे भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तो प्रतीति वह है जो प्रत्येक क्षणके साथ बदलती है, प्रति और इति-प्रति उपसर्ग है और उसी धातुसे यह ति प्रत्यय करनेपर इति बना हुआ है, तो यह जो इति है-प्रतीति-यह हर घटके साथ-घटके साथ, पटके साथ, मठके साथ, हर विषयके साथ बदलती है–यह हर क्षणके साथ बदलती है, यह हर इञ्चके साथ बदलती है–यह (प्रतीति) बाहर बदलती है, यह भीतरकी बदलती है; यह कार्यकी बदलती है, करणकी बदलती है, यह क्षण-क्षणकी बदलती है, यह कण-कणकी बदलती है, इसको बोलते हैं प्रतीति-बदले हुए ज्ञानका नाम प्रतीति है और उस बदलते हुए ज्ञानमें जो अखण्डता है, अखण्ड-ज्ञान-रूपता है उसका नाम है आत्मा और उस आत्माको कभी काल नहीं छू सकता–काल नहीं छू सकता इसलिए वह विनाशी-अविनाशी दोनोंसे विलक्षण है; उसको देश नहीं छू सकता, इसलिए वह इंच और पूर्ण महान् दोनोंसे विलक्षण है; उसको कोई कण नहीं छू सकता, इसलिए अणु और सर्व-दोनोंसे विलक्षण है-यह जो ज्ञान-स्वरूप आत्मा है इसको ब्रह्म बतानेके लिए उपनिषद्की श्रुतिकी प्रवृत्ति हुई है।

तो नारायण, अविदितसे भी ब्रह्म अधि है अर्थात् अन्य है । यह विज्ञानस्वरूप है इसलिए इसको और विज्ञानकी अपेक्षा नहीं है-अनपेक्ष यह सिद्ध है कि स्वरूपकी अभिव्यक्तिमें यह स्वयं प्रकाश-स्वरूप है, स्वतः-सिद्ध है।

●

प्रवचन : 3.6

महावाक्य क्यों ?

अब दूसरा प्रसंग प्रारम्भ करते हैं। ज्ञानको ज्ञानकी जरूरत नहीं होती। दीपकको देखनेके लिए दीपककी आवश्यकता नहीं होती; आँखको देखनेके लिए आँख की जरूरत नहीं होती, मैं हूँ कि नहीं-यह देखनेके लिए टार्च जलानेकी जरूरत नहीं होती; दूसरेको देखनेके लिए रोशनीकी जरूरत होती है, अपने आपको देखनेके लिए रोशनीकी जरूरत नहीं होती। फिर बोले कि अच्छा तत्त्वमस्यादि जो महावाक्य हैं, ये भी तो वृत्तिज्ञान ही हैं न, यह भी एक तरहकी रोशनी देती है, तो तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्य जो ज्ञान है उस ज्ञानकी रोशनीमें आत्माका दर्शन होता है, यह बात तुम मानते हो कि नहीं?

नहीं मानते हैं।

सर्व-वेदान्त-विरुद्ध भाषण क्यों करते हो? वेदान्तियोंका तो कहना है कि तत्वमस्यादि महावाक्य जन्य ब्रह्मात्मैक्य-बोध वृत्तिके बिना अविद्याकी निवृत्ति ही नहीं होती, तो तुम यह क्यों नहीं कहते कि अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्य जो ब्रह्मात्मैक्य-बोध-रूप दीपक है उस दीपककी रोशनीमें आत्माका दर्शन होता है? माने विज्ञानकी अपेक्षा है।

नहीं-नहीं, इस भ्रममें मत पड़ना। फिर महावाक्यकी जरूरत है कि नहीं है?

है जरूरत तो है, लेकिन, अपनेको देखनेके लिए महावाक्यकी ज़रूरत नहीं है; अपनेको दृश्य बनानेके लिए महावाक्यकी जरूरत नहीं है; अपनेको ज्ञेय बनानेके लिए, प्रमेय बनानेके लिए, अनुभाव्य बनानेके लिए महावाक्यकी जरूरत नहीं है।

तब महावाक्यकी जरूरत किस कामके लिए है?

अब तुमसे एक सवाल है कि तुम अपनेको देह मानकरके कि मेरा जन्म हुआ और मेरी मृत्यु होती है, तुम अपने ऊपर जन्म-मरणका आरोप करते हो कि नहीं? अरे बाबा, तुम तो अजन्मा हो, अमर हो-अजन्मा प्रकाश हो, अमर प्रकाश हो, तुमने अपने ऊपर यह जन्म और मृत्युका कालिख क्यों पोता? इसको हटानेके लिए महावाक्यकी जरूरत है-तुम जन्मते-मरते नहीं हो; यह जो जन्म-मृत्युका अध्यारोप है इसके निवारणके लिए महावाक्यकी जरूरत है। अच्छा, तुम अपनेको पापी-पुण्यात्मा मानते हो कि नहीं? कुछ करनेसे ग्लानि होती है, कुछ करनेसे खुशी होती है कि नहीं-अपनेको जब कर्त्ता मानते हो तभी तो कर्मसे ग्लानि और कर्मसे सन्तोष होता है-

यत्कर्म कुर्वतोऽस्यस्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

तो धर्मका लक्षण ही यही है कि जो कर्म करनेके बाद अन्तरात्मा बाग-बाग हो जाये, खुश हो जाये, हर्ष-रूप विकारका उदय हो जाये चित्तमें-कि बहुत बढ़िया हुआ, आज एक गरीबकी भलाई हुई, आज एक अन्धेको रास्ता बताया, आज एक भूखेको भोजन दिया, आज एक रोगीको दवा दी-वह धर्म है; और यदि अपनेसे कोई कीड़ा-मकोड़ा मर जाये तो मनमें आया-हाय-हाय, मर गया, ग्लानि हो गयी–तो वह अधर्म है। तो बुरा काम करनेपर मैं इस बुरे कामका कर्त्ता हूँ और अच्छा काम करनेपर मैं इस अच्छे कामका कर्त्ता हूँ–यह अभिमान होता है कि नहीं? बोले, होता है। कि इसीको हटानेके लिए महावाक्य है-वस्तुका अभिमान-हमारे पास इतना धन, इतनी दौलत है, इतनी गरीबी है; शरीरका अभिमान, पाप-पुण्य कर्मका अभिमान। सुख-दुःखका अभिमान-दिन भरमें सत्रह बार सुखी और सत्रह बार दुःखी होते हो-तो महावाक्य इसी सुखीपने और दुःखीपनेके अभिमानको काटनेके लिए है। मतलब यह कि अज्ञान के कारण अपने ऊपर जो-जो आरोप हम कर लेते हैं, उस आरोपके निवारणके लिए महावाक्यकी जरूरत है-आत्माके ज्ञानके लिए महावाक्यकी जरूरत नहीं है, ब्रह्मको प्रकाशित करनेके लिए महावाक्यकी जरूरत नहीं है,यह जो अज्ञानसे अपने आपसे

बुरी-बुरी बातें आरोपित कर ली गयी हैं मैं इस देहमें परिच्छिन्न हूँ, मैं पाप पुण्यके कारण नरक और स्वर्गमें जाने-आनेवाला हूँ, मैं वासनाओंके कारण पुनर्जन्म लेनेवाला हूँ-अच्छे बुरे कामका कर्त्ता मैं हूँ, सुख-दुःखका भोक्ता मैं हूँ, देहके जन्म-मरणसे जन्म-मृत्यु हमारी-यह सब जो दुनिया भरका कचरा-कूड़ा अपने ऊपर लगा लिया है, इस लगाये हुए कचरे और कूड़ेको साफ करनेके लिए महावाक्यजन्य-वृत्तिरूप उद्वर्तनकी उबटनकी जरूरत है। वह हमारे अज्ञानसे आरोपित जो 'अहं मम' हैं जो परिच्छेद भेद आदि हैं उनको काटनेके लिए महावाक्यकी जरूरत है। इस महावाक्यजन्य वृत्तिके द्वारा आत्मा प्रकाशित नहीं होता, ब्रह्म प्रकाशित नहीं होता। उस आत्मा और ब्रह्मकी एकताको वृत्त्यारूढ़ करके वृत्तिमें जो अहं-अहं-अहं हो गया है उसको निवारण करना-यह वेदान्त-जन्य-बोधका काम है, वेदान्त आत्माको प्रकाशित नहीं करता, ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करता, बल्कि अध्यारोपको अपवादित करता है-

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चते।

अध्यारोप और अपवादके द्वारा वेदान्त एक अध्यारोपको काटनेके लिए दूसरा अध्यारोप करता है, दूसरा अध्यारोप काटनेके लिए तीसरा अध्यारोप करता है, तीसरा अध्यारोप काटनेके लिए नितान्त अपवाद कर देता है-'नेति-नेति'-यह भी नहीं, यह भी नहीं। तो, अब वेदान्तकी संगति यह है कि वह अविद्या-अध्यारोपित, अज्ञानसे अज्ञानपनेमें अपनेमें कल्पित, जो संसारीपना, परिच्छिन्नपना, भोक्तापना, कर्त्तापना है—उसको महावाक्यके द्वारा निवृत्त करता है। यह शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें उस ज्ञानस्वरूप परमात्माके सिवाय, आत्मदेवके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। तो विदित और अविदित दोनोंका प्रतिषेध करके, दोनोंका जो वेत्ता है उस आत्माको ब्रह्म बताकर सारे कल्पना-जालका उच्छेद करनेके लिए यह वेदान्त होता है। यह एक बात हुई।

इसका अर्थ हुआ कि रोशनीको दिखानेके लिए रोशनीकी जरूरत नहीं है, हम स्वयं सबको जगमग-जगमग करनेवाले हैं। सबको दिखानेवाली रोशनी तो हम स्वयं हैं। इसके लिए वेदान्ती लोग एक बात बोलते हैं-'बालोयक्षं प्रकल्प्यात्मात् बिभेतीति'-श्रुतिमें यह प्रसङ्ग आया कि कोई बालक है

वह पहले यक्षकी कल्पना कर लेता है और फिर डरता है। एक पण्डितजीके घरमें एक छोटा-सा बालक था। बड़ा चंचल था वह; जब चाहता तब अन्धेरे घरमें घुस जाता, आजकल जैसे बढ़िया बढ़िया मकान होते हैं वैसा नहीं था-मिट्टीका घर था-कहीं साँप रहनेकी संभावना, कहीं विच्छू होनेकी संभावना-तो वह घरमें घुस जाये और कहीं घड़ेमें हाथ डाल दे, कहीं कोई बिलमें हाथ डाल दे, कहीं चूहा पकड़ने लगे-तो पण्डितजीने कहा कि बेटा, अन्धेरे घरमें मत जाया करो, उसमें एक 'हाऊ' रहता है, भूत रहता है, वह बड़ा भयंकर होता है, वह तुमको पकड़ लेगा। अब वह डर गया इस बातको सुनकरके और उसने अन्धेरे घरमें जाना बन्द कर दिया। बड़ा होनेपर पिताने उसको गुरुकुलमें पढ़नेके लिए भेज दिया। वहाँ जाकर पढ़ा और बीस वर्षका होकर घर लौट आया। घरमें आया तो पिताजीने उससे कहा कि घरमें पुस्तक रखी है वह उठाकर ले आओ। उनको तो याद भी नहीं था कि मैंने कभी इसको घरमें 'हाऊ',होता है यह बताया है। मगर उसको याद आगयी, बोला कि पिताजी घरमें तो भूत रहता है, हम अकेले कैसे जायेंगे, हमको तो डर लगता है। इसपर पिताजीने समझाया कि नहीं बेटा उसमें कोई 'हाऊ',कोई भूत नहीं है, वह तो बचपनमें तुम शरारत करते थे, जाकर बिलमें हाथ डाल देते थे, अन्धेरेमें चले जाते थे, तो, तुम अन्धेरेमें जाकर यह सब उत्पात न करो इसके लिए मैंने तुमको यह बताया था कि उसमें 'हाऊ' है। वह लड़का बोले कि हमारा तो दिल काँपता है अन्धेरे घरमें जानेमें; पिता उसको समझावें और वह समझे ही नहीं। तो, पिताजीने एक दिन क्या किया कि उससे बोले कि हमारे पास एक ऐसा यन्त्र है, एक ऐसा ताबीज है कि अगर उसको हाथमें बाँध लिया जाये तो भूत अथवा हाऊ-कोई कुछ नहीं कर सकता है और उसने फिर वह ताबीज बेटेके हाथमें बाँध दिया और फिर बोले कि जाओ अब पुस्तक ले आओ। ले आया वह पुस्तक। फिर दूसरी चीज मँगवायी, तीसरी चीज मँगवायी, फिर रोशनी हाथमें दे दी कि जाओ ले जाकर घरमें ढूँढ़ लो! लड़का बोला कि घरमें तो 'हाऊ-बाऊ' कुछ नहीं है। पिता बोले कि बेटा, दरअसल 'हाऊ' पहले भी नहीं था, बीचमें भी नहीं था और अभी भी नहीं है और कभी आगे भी नहीं होगा-यह भूत-प्रेत कुछ नहीं होता है, यह तो तुम अन्धेरेमें नहीं

जाओ और वहाँ जाकर अपनेको कोई विच्छूसे, साँपसे डँसवा न लो, इसके लिए तुमको भूत बतलाया था, अब तुम बड़े हो गये, भूत-प्रेतका अब तुम्हारे लिए कोई डर नहीं है-यह तो मैंने आरोप किया था-इसीका नाम अध्यारोप है, जो तुम्हारे मंगलके लिए, तुम्हारी भलाईके लिए मैंने किया था और अब तुम बड़े हो गये तो उसका अपवाद कर दिया।

इस तरह यह वेदान्त जो है यह अध्यारोप और अपवादके सिद्धान्तसे वस्तुका निरूपण करता है-यह भी बोलनेकी एक प्रणाली है। तो जब तुमने अपने आपमें मनुष्यत्वका अध्यारोप कर लिया कि हम यह हड्डी-मांस-चामके पुतले हैं तो वेदान्तने कहा कि नहीं-नहीं, तुम यह नहीं हो, तुम तो कर्म करनेवाले हो, शरीर तो कर्म करनेका एक औजार है, तुम कर्त्ता हो, तुम संकल्प करनेवाले हो, तुम कर्म करनेवाले हो, तुम विचार करनेवाले हो।

(अब विचार, संकल्प और क्रिया-इन तीनोंको एक साथ जोड़ दो तो सूक्ष्म-शरीर बन जायेगा-कर्त्ता, विज्ञानमय कोष, संकल्पवाला मनोमय कोष और कर्मवाला प्राणमय कोष-यह शरीरके द्वारा तीनों अपनी क्रिया करते हैं और छोड़ देते हैं और इसमें भोक्ता जो है वह आनन्दमय कोष है।)

तो ये सब-के-सब अध्यारोपकी पद्धतिसे, इनको आत्मा बताया हुआ है। अध्यारोप माने-अधि और आरोप-अधि माने अधिक, जो चीज जितनी हो उससे ज्यादा-उसके ऊपर; आरोप माने थोप देना-इसका नाम है अध्यारोप। अधि माने ऊपर-एकके ऊपर दूसरेको थोप देना-इसका नाम हुआ अध्यारोप; जैसे रस्सीके ऊपर साँपको थोप देना, साँपकी कल्पना कर देना-इसका नाम अध्यारोप, जैसे पीतलको सोना समझा देना-इसका नाम अध्यारोप। और अपवाद माने उसी आरोपित वस्तुका तिरस्कार कर देना।

कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्माका जो ब्रह्मत्व है वह महावाक्यसे जन्य नहीं है; महावाक्य कोई मन्तर, जन्तर, तन्तर-ऐसा नहीं है, जो आत्मा पहलेसे ब्रह्म न रहा हो और उसको ब्रह्म बना दे-आत्मा तो महावाक्योच्चारणके पूर्व भी ब्रह्म ही है; वृत्तिज्ञानके पूर्व भी ब्रह्म है; अपनेको कर्त्ता-भोक्ता मानते समय भी वह ब्रह्म ही है, लेकिन यह जो अपनेको कर्त्ता-भोक्ता माननेके कारण अपने अन्दर भय आ गया, शोक आ गया, मोह आ

गया जिसके कारण हम दुःखी हो गये, इस दुःखको मिटानेके लिए यह वेदान्तकी युक्ति है।

महावाक्यजन्य वृत्ति पाउडर नहीं है, साबुन है; वह चन्दन नहीं है, उबटन है। जैसे उबटन शरीरमें लगाते हैं और जब मैल उसके साथ मिल जाती है तब उसको छुड़ाकर फेंक देते हैं वैसे ही वेदान्तमें 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि जो महावाक्य हैं वह कोई स्नो, लिपस्टिक, पाउडर नहीं है, वह तो उबटन है, साबुन है, उनको लगाकर अविद्या उसमें मिला दिया वृत्ति-अविद्या एक हो गयी और फिर अपने स्वरूपका बोध होते ही, अपने स्वरूपके प्रकाशमें सम्पूर्ण द्वैतका बाध करके भेद-भ्रान्तिमें यह वृत्ति भी बाधित हो गयी!

निवृत्तरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेन उपलक्ष्यते।

जो ज्ञात हुआ-वह जो अज्ञानकी निवृत्ति हुई वह आत्मासे भिन्न नहीं है, वह आत्मासे विलक्षण नहीं है, वह निवृत्ति भी अधिष्ठान स्वरूप ही है। जैसे घटके घटत्वकी जो निवृत्ति है वह मृत्तिका-रूप ही है, मृत्तिकासे विलक्षण नहीं है, इसी प्रकार अविद्याके अविद्यात्वकी जो निवृत्ति है वह आत्म-स्वरूप ही है। वह ब्रह्म स्वरूप ही है, निवृत्ति कोई उत्पाद्य अन्य-पदार्थ नहीं है, वह निवृत्ति तो अन्यका निवर्त्तक होकरके स्वयं अपनेको अधिष्ठानमें बाधित करनेवाली है।

तो असलमें जैसे-घटाभावत्व भूतलम्-घटाभाववाली मिट्टी-यह कहना जैसे व्यर्थ है वैसे अविद्या-निवृत्तिवाली आत्मा यह कहना बिलकुल व्यर्थ है; क्योंकि निवृत्ति कोई वृत्ति नहीं है।

प्रवचनः 3.7

ज्ञान अविच्छेद्य परम्परासे प्राप्त : इति शुश्रुम पूर्वेषाम्

अब बताते हैं आत्माका प्रत्यक्ष कैसे होता है! तो आप देखो, प्रत्यक्षके बारेमें भी ठीक-ठीक मालूम होना चाहिए, वह अलग-अलग किस्मका होता है, जैसे आपको यह घड़ी देखना हो तो घड़ी होनी चाहिए और रोशनी भी होनी चाहिए-रोशनी न हो तो घड़ी कैसे दिखेगी और आँख भी होनी चाहिए-तीनोंमें-से एक भी न हो तो घड़ी नहीं दिखेगी। घड़ी देखना हो तो घड़ी चाहिए-अधिभूत, रोशनी चाहिए-अधिदैव और नेत्र चाहिए-अध्यात्म। लेकिन यदि आपको घड़ी न देखना हो, सिर्फ रोशनी देखनी हो-आपको घरमें देखना हो कि दीया जल रहा है कि नहीं, तो क्या दूसरी रोशनी चाहिए? क्या टार्च जलाकर देखेंगे कि रोशनी है कि नहीं? वहाँ तो आँख और दीया दोसे ही काम चल जायेगा, तीसरी चीजकी जरूरत ही नहीं है अब मान लो कि आँख ही देखनी हो, तो न तो घड़ी चाहिए न रोशनी, आँख तो तुम्हींको मालूम पड़ जायेगी कि नहीं है-किसीकी आँख नहीं है तो उसीको मालूम पड़ता है न कि आँख नहीं है और किसीको आँख है तो उसीको मालूम पड़ता है कि आँख है-आँख है कि नहीं यह निर्णय देनेके लिए न टॉर्चकी जरूरत है, न घड़ीकी जरूरत है। अच्छा, अपनेको देखनेके लिए कि मैं हूँ कि नहीं, किसकी जरूरत है? यह बात तो प्रत्यक्ष ही है, तो हर जगह चीज यदि बाहर हो तो उसको देखनेके लिए आँखकी व रोशनीकी जरूरत पड़ती है और चीज अगर बाहर न हो तो उसको देखनेके लिए आँख या रोशनीकी जरूरत नहीं है। न तत्र चक्षुर्गच्छति।।

अब आगे आवेगा कि वहाँ चक्षु नहीं जाती–'यत् चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति'-आँखसे जो देखा नहीं जाता, आँख जिससे दिखती है-पर

इसमें भी गड़बड़ाना मत। बोले-आँख तो शीशेमें दिखती है, कि शीशेमें तो आँखकी परछाईं दिखती है। तो बोले कि फिर वह परछाईं ब्रह्म है? कि यह नहीं। 'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति'। जिस स्वयंप्रकाश आत्मासे आँखें दीखती हैं वह, जो आँखोंसे दीखता है सो नहीं, जिससे आँखें दीखती हैं सो।

तो, दो बात कही गयी कि वहाँ आँख नहीं जाती और जिससे आँखें दिखती हैं; 'न वाग्गच्छति' जहाँ जीभ-वाणी नहीं पहुँच सकती, परन्तु, जिसके होनेसे वाणी बोलती है; नो मनो-'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्'-जो मनसे नहीं दीखता है, मनको जो देखता है; जो बुद्धिसे नहीं दिखता है, जो बुद्धिको देखता है-'न विद्मो'-बुद्धिका जो विषय नहीं है; अर्थात् जो करणके द्वारा औजारके द्वारा नहीं दिखता है, औजार जिसके द्वारा दिखता है वह ब्रह्म है। इसको वेदान्तकी प्रक्रियामें ऐसे बोलते हैं कि हमें दो तरहकी चीजें दिखायी पड़ती हैं-एक तो अहंकार-भास्य होती हैं-आभास-भास्य और एक कूटस्थ-भास्य साक्षी-भास्य होती है।

दोनोंमें क्या फ़र्क है? आभास-वादको त्रिसत्ता-वाद बोलते हैं इसमें तीन सत्ता स्वीकार की जाती है–द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, जैसे एक घड़ी है, एक देखनेके लिए औजार आँख है और एक देखनेवाला प्रमाता चैतन्य है-देखनेवाला अहं, देखनेका औजार और दीखनेवाली चीज़-तीन चीज होती है। लेकिन देखो सपनेमें, मनोराज्यमें, मामला बदल जाता है। सपनेकी घड़ीको देखनेके लिए आँखकी जरूरत नहीं होती। और सुषुप्तिमें? सुषुप्तिमें एक कूटस्थ साक्षी है जो देख रहा है, वहाँ न आँख है न घड़ी है, तो जिस वस्तुको देखनेके बाद यह अहं-यह फल उत्पन्न होता है कि मैंने देख लिया वह देखी हुई चीज जड़ होती है और देखनेवाला अन्तःकरणसे देखता है और देखनेका अभिमान करता है।

आभास-भास्य जो भी चीज होगी वह इसी तरहकी होगी। घड़ी आदि दृश्य जगत्की सब वस्तुएँ आभास भास्य हैं। इनके देखनेमें दो बातें होती हैं–वृत्ति व्याप्ति और फल व्याप्ति। जैसे घड़ीको देखनेके लिए आँख चाहिए, इसमें भी नेत्रवृत्ति जो है वह घड़ीमें व्याप्त हो जाती है और घड़ी अन्तरमें

(अन्तःकरणमें या वृत्तिमें) आ जाती है, फिर जब वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य और घड़ी-अवच्छिन्न चैतन्य दोनों एक हो जाते हैं तब घड़ीका ज्ञान होता है। यह वृत्तिव्याप्ति हुई। इसके पश्चात् यह अहंकार या अभिमान होता है कि मैंने घड़ीको जान लिया–यह फलव्याप्ति हुई।

अब देखो, आभास-भास्यमें करणकी आवश्यकता है और अभिमान होता है–मैंने इसको देख लिया; परन्तु अब जरा देखो–राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, सपना-जो मनमें आते हैं उनको क्या आँखसे देखते हो? उनको देखनेके लिए क्या आँखकी जरूरत पड़ती है? नहीं। सपना आता है तब क्या आँखसे दिखायी पड़ता है? नहीं। ये सब सीधे साक्षीके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं; इसीलिए इनको साक्षीभास्य कहते हैं। साक्षीभास्य पदार्थोंको जाननेके बाद भी अहं जाग्रत् होता है; परन्तु 'यह काम है' इस रूपमें नहीं; बल्कि' मैं कामी हूँ इस रूपमें।

एक 'बुद्धिमान' सज्जन रातको सोते थे तो चश्मा लगाकर सोते थे। तो किसीने पूछा कि भले मानुष तुम सोते समय चश्मा क्यों लगाते हो? तो बोले कि जिससे सपने अच्छी तरह दिखें। मानो आँखसे सपने दीखते हों और चश्मा लगानेसे वे और अच्छे दिखेंगे। तो इतना बुद्धिमान नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा होता तो कोई आँखके बदले खोपड़ीपर चश्मा लगाया करते कि बुद्धिसे अच्छा सपना दिखे–है न! तो, आपको कभी सुनाया कि दीया देखनेके लिए आँख भी चाहिए और देखनेवाला भी चाहिए, परन्तु आँखको देखनेके लिए रोशनी नहीं चाहिए। और मैंको देखनेके लिए? असलमें न वह घड़ीकी तरह दिखेगा और न उसके लिए आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा आदि इन्द्रियाँ चाहिए और न उसके लिए मन चाहिए, न उसके लिए बुद्धि चाहिए। देखो, मैं सोता हूँ कि बुद्धि सोती है-सोती है बुद्धि, लेकिन जब जागते हैं तब बुद्धिसे एकत्व हो जाता है। तो बुद्धिका जो सोना है उसको अपने-आपपर आरोप करके कहते हैं कि मैं सो गया था। यदि मैं खुद सो जाता तो सुषुप्ति नामकी अवस्थाका पता ही नहीं चलता–हमारी एक अवस्था ऐसी होती है जिसमें जाग्रत् नहीं है और स्वप्न भी नहीं है, जिसमें कुछ मालूम नहीं पड़ता, जिसमें कोई चिन्ता नहीं रहती, शोक नहीं रहता, लोभ नहीं रहता, मोह नहीं रहता, क्रोध

नहीं रहता-जिसमें कुछ मालूम नहीं पड़ता–ऐसी एक अज्ञानात्मक अवस्था हमारे अन्तःकरणकी होती है, यह हमको मालूम है।

इसका मतलब यह है कि जिसको मालूम है वह सोया नहीं था। वह तो खुफिया पुलिसका कोई व्यक्ति मालूम पड़ता है जो सुषुप्तिको भी देखता है। तो, अब यह जो सुषुप्तिकी देखनेवाला साक्षी है, जो कूटस्थ है, जब करणसे किसी वस्तुको देखता है तब कहता है कि मैंने देख लिया, मैंने देख लिया, मैंने देख लिया–यह जो अन्तःकरणमें आभास रूपसे आया हुआ साक्षी है वही अभिमान करता है कि मैंने देख लिया, साक्षीको अभिमान नहीं होता कि मैंने देख लिया, वह चिन्मात्र है, वह प्रकाशमात्र है, वह कूटस्थ है, उसमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका कोई भेद नहीं होता–अन्तःकरण ही जागता है, अन्तःकरण ही सपना देखता है, अन्तःकरण ही सोता है और यह तो महाराज-हमारे मोकलपुरके बाबाके शब्दोंमें, बाँगड़ है, यह तो टुकुर-टुकुर देखता रहता है, देखता रहता है, देखनेके सिवाय इसका और कोई स्वरूप नहीं है–न यह पापी-पुण्यात्मा है, क्योंकि वह तो जाग्रत्-स्वप्नमें गया, न यह सुखी-पुण्यात्मा है, क्योंकि वह तो जाग्रत्-स्वप्नमें गया, न यह सुखी है, न यह दुःखी है, क्योंकि वह न जाग्रत्-स्वप्नमें गया और न तो यह अज्ञानी है–क्योकि अज्ञान तो सुषुप्तिमें गया, यह पदार्थका भी साक्षी है, यह भावका भी साक्षी है, यह अभावका भी साक्षी है, यह ज्ञातका भी साक्षी है, यह ज्ञान-करणका भी साक्षी है और यह अज्ञानका भी साक्षी है।

एक हमारे महात्मा हैं बड़े विलक्षण–सौ वर्षकी उम्र है; उनके पास कोई जाये तो कहेंगे कि तूँ तो ब्रह्म ही है–न तेरा जन्म है न मरण है, न तू पापी है न पुण्यात्मा है, न सुखी है न दुःखी है, न व्यक्त है, न अव्यक्त है, अरे तूँ, तो ब्रह्म है। ब्रह्म माने? कोई-कोई अपने बेटेका नाम ब्रह्म समझते हैं, तो वह बात दूसरी है–ब्रह्म माने-देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित, सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे शून्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वितीय तत्त्वको ही वेदान्तमें ब्रह्म कहा जाता है। महात्मा कहते हैं कि तूँ तो ब्रह्म है और वह हाथ जोड़कर बोले कि महाराज, मैं तो अज्ञानी हूँ। वे कहते–कि अरे, भलेमानुष! मैं अज्ञानी है–यह तूँ जानता है कि नहीं जानता है? कि महाराज, यह तो मैं जानता हूँ। तो, जैसे

घड़ेको जाननेवाला घड़ेसे न्यारा होता है, ऐसे ही मैं अज्ञानी हूँ–इसको जाननेवाला तूँ उस अज्ञानीसे न्यारा है, तूँ अज्ञानी नहीं है। अज्ञता तो बुद्धिमें रहती है, तूँ बुद्धिवाला नहीं है, बुद्धि तो जाती है तब भी तूँ रहता है।

भवबारिधि मृगतृषा समाना।
अनुछिन यह भाखत नहीं आना।।

(विचार सागर)

जब उनके पास जाओ तब यही बोलेंगे कि तूँ ब्रह्म है और यह दृश्य-प्रपञ्च बिलकुल मिथ्या है, तेरे अन्दर-बिना हुए दिख रहा है–यही बोलेंगे! तो बोले भाई कि अब यह बताओ कि जब मनका भी विषय नहीं, बुद्धिका भी विषय नहीं, आँखसे दिखेगा नहीं, वाणीसे बोल नहीं पावेंगे, मनसे ध्यान नहीं कर सकेंगे और बुद्धिसे विचारका विषय होगा नहीं, कर्मत्व उसमें है नहीं, वह किसी नन्हें-मुन्ने करणके सामने इन्द्रियके सामने आकर खड़ा होकर गवाही दे नहीं सकता कि मैं हूँ–फिर उसको कैसे जानें?

किसी आदमीके बारेमें अफवाह फैल गयी कि वह मर गया, तो जजके सामने मुकदमा चला। मुकदमा चला तो जजके सामने जाकर खड़ा हो गया कि जज साहब, मैं मरा नहीं हूँ, देखो, यह मैं हूँ–तो यह आत्मदेव, यह ब्रह्मदेव जिस करणके सामने खड़े होनेके लिए आते हैं वह करण ही मर जाता है, बड़ा ही असगुन है इसमें। यदि ये इन्द्रियके सामने आकर अपनी अनन्तता दिखानेकी कोशिश करें तो इनकी अनन्तताका ध्यान करते-करते इन्द्रिय मर जायेगी; इनकी परिपूर्णताका ध्यान करते-करते व्यक्तित्व समाप्त हो जायेगा और फिर भी किसी व्यक्तिके सामने परिपूर्ण आ जायेगा, किसी व्यक्तिके सामने अनन्त आ जायेगा ऐसा होना शक्य नहीं है। तो, बोले फिर–

न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ।

हम नहीं जानते कि इसका अनुशासन कैसे करें, इसको शिक्षा कैसे दें, कैसे लोगोंको बतावें कि यह ऐसा है।

अब एकाध बात और सुनाते हैं। हम जब कहते हैं कि ब्रह्म देखा नहीं जा सकता या बोला नहीं जा सकता या सोचा नहीं जा सकता या जाना नहीं जा सकता–सोचा नहीं जा सकता माने ध्यान नहीं किया जा सकता और जाना

नहीं जा सकता पाने विचारका विषय नहीं हो सकता–तो किसीने कहा कि ब्रह्म तो अचिन्त्य है, किसीने कहा ब्रह्म रहस्य है, किसीने कहा ब्रह्म अज्ञेय है, तो हम यह नहीं कहते हैं, आप लोग हमारी बोलीको उनके साथ नहीं मिलाना। यदि काष्ठ कहे कि ब्रह्म अज्ञेय है तो उसकी बोलीके साथ वेदान्त-दर्शनकी बोली नहीं मिलती है, यदि सूफी लोग कहें कि ब्रह्म रहस्य है तो उनकी बोलीके साथ वेदान्तकी बोली नहीं मिलती है, यदि द्वैताद्वैतवादी कहें कि ब्रह्म अचिन्त्य है तो उनकी बोलीके साथ हमारी बोली नहीं मिलती है, हम यह बात नहीं कहते हैं कि ब्रह्म अचिन्त्य है कि ब्रह्म रहस्य है, कि ब्रह्म अज्ञेय है-तब क्या कहते हैं कि यही बात समझनेमें तो जिन्दगी बीत जाती है! हम ब्रह्मको निराकार न्यायकारी नहीं बोलते हैं, हम ब्रह्मको प्रकृतिसे भिन्न और प्रकृतिका प्रवर्तक नहीं बोलते हैं–यह तो विलक्षण है–वाङ्मनसा-गोचर जो पदार्थ है–ज्ञानस्वरूप साक्षात् अपरोक्ष, अपना आपा–यह अज्ञात नहीं है, यह अचिन्त्य नहीं है, यह रहस्य नहीं है, यह तो खुला हुआ बिलकुल अपना आपा है। वाङ्मनस् अगोचर पदार्थ होनेके कारण चूँकि वाणीमें उसको बोलनेका सामर्थ्य नहीं है, चूँकि मनमें उसको ध्यान करनेका सामर्थ्य नहीं है, इसलिए मन और वाणीके दर्शनके अयोग्य होनेके कारण हम उसको वाङ्मनस् अगोचर बोलते हैं अज्ञात होनेके कारण नहीं, अज्ञेय होनेसे नहीं, रहस्य होनेसे नहीं, अचिन्त्य होनेसे नहीं। अरे स्वयं हैं, पर बोलते इसलिए नहीं कि जवानके पास कोई शब्द नहीं है, उसको बोलनेके लिए; कि ध्यान इसलिए नहीं करते कि मन किसी भी प्रकार अपने पेटमें उसको नहीं ले सकता, मन ही उसके पेटसे फुरफुरा रहा है, वह मनके पेटमें नहीं आ सकता। जैसे रबड़की थैलीमें समूचा समुद्र नहीं आ सकता, जैसे किसीकी गोदमें समूचा आकाश नहीं आ सकता, ऐसे ही यह अनन्त अद्वितीय ब्रह्म, अपना-आपा, यह साक्षात् अपरोक्ष किसीके मन, वाणीका विषय नहीं हो सकता। यह कोई रहस्य नहीं, यह कोई अज्ञात नहीं, यह कोई अज्ञेय नहीं, यह कोई अचिन्त्य नहीं–'वाङ्मनसागोचरत्वेन अनिर्वचनीयम्'–इसको हम बोलते हैं। पदार्थ तो हमको अपरोक्ष है पर उसके स्वभावका निरूपण करते हैं कि वहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि (अर्थात् नेत्र, मन, वाणी) किसीकी गति नहीं है–

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता 15.5)

'न तद्भासयते सूर्यः'–सूर्य माने सूर्याधिष्ठातृ देवता है जिसका अर्थात् नेत्र-नेत्रसे वह देखा नहीं जा सकता; 'न शशाङ्कः'–चन्द्रदेवताक–मन उसका ध्यान नहीं कर सकता; पावकः–अग्निदेवताक-वाणी–उसका वर्णन नहीं कर सकती। और वह है कौन? कि ये ही जो आँखके पीछे बैठकर झाँक रहे हैं, जो मनके पीछे बैठकर मनन कर रहे हैं, जो जीभके पीछे बैठकर बोल रहे हैं। कि आखिर ये इन्द्रियोंके पीछे बैठे होंगे तो इसी शरीरमें कहीं होंगे न! बोले–ना-ना, यह शरीर भी इन्द्रियोंसे ही मालूम पड़ता है, मनसे ही मालूम पड़ता है, बुद्धिसे ही मालूम पड़ता है। बुद्धिका उदय और विलय, जन्म और मृत्यु दोनों कालमें ही होता है, इसलिए बुद्धि क्षणिक होती है; और मन दिशाओंमें फैलता है। इसलिए देखो, जो लोग आत्माको क्षणिक मानते हैं उनकी बुद्धि कालमें फँसकर मर गयी; और जो लोग आत्माको मनके ध्यानका विषय मानते हैं उनका आत्मा देशमें फैलकर रह गया; और जो लोग आत्माको इन्द्रियोंका विषय मानते हैं, आत्माको पञ्चभूत रूप मानते हैं–असलमें शरीरको आत्मा मानना, आत्माको ऐन्द्रियक मानना है और आत्माको आने-जानेवाला, फूलने-पटकनेवाला मानना, आत्माको मानस मानना है। आजकलके विज्ञानके साथ ऐन्द्रियक आत्माका मेल है, जैनके साथ मानस-आत्माका मेल है, बौद्धके साथ बुद्धि-वृत्ति रूप जो क्षणिक विज्ञान है उस आत्माका मेल है, शून्यवादीके साथ तीनोंके निषेधका मेल है लेकिन चिन्मात्र साक्षी द्रष्टा मैं देशका, कालका, वस्तुका, लम्बाई-चौड़ाईका, उम्रका और वजनका तीनोंका साक्षी मैं, कूटस्थ मैं, कूटस्थ साक्षी मैं, कूटस्थ अधिष्ठान मैं जब कूटस्थ साक्षीको ब्रह्मसे एक जान लेते हैं तब कूटस्थ साक्षीका नाम ब्रह्म हो जाता है, यह चिन्मात्र साक्षी कूटस्थ ब्रह्मका किसीसे मेल नहीं है।

अच्छा भाई, तो कैसे बतावें ब्रह्मको? कि बतानेकी एक ही युक्ति है। अब युक्ति बताते हैं–माने उसको बिलकुल नहीं समझा सकते सो बात नहीं, यह बात है कि तुम जो यह चाहते हो कि हम इन्द्रियोंसे देख लें, मनसे देख लें, बुद्धिसे

देख लें–यह तो बिलकुल गलत बात है, आगमसे समझाया जा सकता है। आगम क्या है कि इस चिन्मात्र तत्त्वके जो अनुभवी महापुरुष हुए हैं–उनके वचन उनको चाहे पौरुषेय मानो चाहे अपौरुषेय मानो, लेकिन पौरुषेय होनेपर भी अर्थ वही होना चाहिए–पञ्चदशीमें भी यही होना चाहिए कि 'अखण्ड सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते'–अखण्ड सच्चिदानन्द महावाक्यसे ही लक्षित होता है। महावाक्य माने प्रत्यगात्मा और अनन्तात्मा–इन दोनों पदार्थोंकी एकताका सूचक जो वाक्य है, उसको महावाक्य बोलते हैं। अब प्रश्न होता है–महावाक्यसे ही क्यों? 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'–यह वाक्य है; 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'-यह वाक्य है, 'तदात्मानमेवावेत'-यह वाक्य है, क्योंकि इनमें केवल ब्रह्मका लक्षण बताया है। महावाक्य क्या है? कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य है? 'अहं ब्रह्मास्मि' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अयं आत्मा ब्रह्म'-महावाक्य हैं। महावाक्य क्योंकि ये प्रत्यगात्मा-माने असली, मैं को असली ब्रह्मसे एक बताते हैं। ये महावाक्य हैं क्योंकि उसके बाद फिर दूसरी कोई बात कहनेकी नहीं रह जाती। यह जो व्यक्त और अव्यक्तको पकड़कर बैठे हैं उनको ब्रह्मज्ञान नहीं होता है व्यक्त और अव्यक्त-दोनोंसे जरा जुदा करके ब्रह्मको बताते हैं।

बोले भाई, अच्छा तुम यह कहते हो कि हम यह नहीं जानते हैं कि उसको कैसे बतावें, तो तुमको भी तो किसीने बताया होगा? तुमको कैसे बताया? तो बोलते हैं-

इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।

देखो भाई, हमारे जो पूर्व थे–गुरु थे–उनसे मैंने सुना था और उन्होंने हमारे लिए व्याख्या की थी कि ठीक है, इसका मतलब यह हुआ कि आँखसे तो ब्रह्म नहीं दिखेगा, मनसे तो ब्रह्मका ध्यान नहीं होगा, वाणीसे ब्रह्म नहीं कहा जायेगा और बुद्धिसे ब्रह्म नहीं सोचा जायेगा, यह तो ठीक-चारोंका निषेध किया–न तत्र चक्षुर्गच्छति 1, न वाग्गच्छति 2, न मनो गच्छति 3 और न विद्मः 4, और फिर कहते हैं कि उपदेशकी प्रक्रिया हमें नहीं मालूम, बड़ी कठिन बात है, हम अपनी ओरसे कुछ नहीं बता सकते-न विजानीमः यथैतदनुशिष्यात्। यह पाँचवीं बात हुई। इसका मतलब यह है कि यहाँ 'मौलिक बुद्धि' काम नहीं देती है।

मौलिक बुद्धिकी बात भी अद्भुत है। पहले जड़ था तो उसमें विकास हुआ-पहले कीड़े-मकोड़े हुए, फिर स्वेदज हुए, फिर अण्डज हुए और फिर जरायुज हुए-यह सब ठीक विकास क्रम जो है उसमें मौलिक बुद्धि काम देती है। परन्तु जहाँ जगत्के मूलमें चिद्धातु मानी जाती है वहाँ क्रम-क्रमसे बुद्धिके विकासकी संगति नहीं बैठती, जो उसके ज्यादा निकट हैं वे ज्यादा जानते हैं, जो ज्यादा दूर हो गये वे ज्यादा दूर हो गये। तो जड़वादमें तो विकासवादकी संगति है; लेकिन चैतन्यवादमें सबसे पहले है सर्वज्ञ ईश्वर।दूसरे नम्बरपर है हिरण्यगर्भ। सबसे बड़ा ज्ञान ईश्वरका। दो नम्बरका ज्ञान हिरण्यगर्भका। तीसरे नम्बरका ज्ञान विराट् का। और फिर एक-एक शरीरमें प्राज्ञका, तैजसका और विश्वका। तो असलमें, जैसे कूएँमें ही भाँग पड़ गयी हो! यह हम आपको मौलिक अन्तर बताते हैं कि असलमें भेद आजकी समझमें नहीं है, भेद इस भ्रान्तिमें है कि सृष्टिके मूलमें जड़ था और वह विकसित होता हुआ चेतनतक पहुँचा है। असलमें, जगतके मूलमें था चेतन और परदा पड़ते-पड़ते-पड़ते आज हम बिलकुल भोगवादी और अर्थवादी हो गये हैं। आजका भोगवादी और आजका अर्थवादी और आजका जड़वादी यदि उसको न समझ सके इसमें कोई आश्चर्य नहीं है–यह मौलिक अन्तर है। हम ईश्वरसे मिलकर बात करते हैं और तुम पत्थरसे मिलकर बात करते हो! हम अपने आत्माको कूटस्थ साक्षिताका निरूपण करते हैं और तुम यन्त्रका देखा हुआ बताते हो–तुम मशीनका देखा हुआ बताते हो और हम आत्माके साक्षात्कारका निरूपण करते हैं। तो जबतक सृष्टिमें एक भी आत्मज्ञानी महात्मा रहेगा तबतक वह इस मान्यताको स्वीकार नहीं कर सकता कि जगत्के मूलमें जड़ है! शरीरके मूलमें अहं है कि अहंके मूलमें शरीर है? अरे भाई, इतनी गड़बड़ी मत पैदा करो–अहंका उत्थान होनेके बाद शरीर ज्ञात होता है कि शरीरका उत्थान होनेके बाद अहं ज्ञात होता है? अनुभवमें शैतानको मत मिलाओ–यह अनुभूतिकी प्रक्रिया है।

तो देखो, हमारे गुरुने हमारे सामने आत्मा और ब्रह्मकी एकताकी व्याख्या की थी और उसको हमने सुना था; और हमारे गुरुके सामने उसके गुरुने आत्मा और ब्रह्मकी एकताकी व्याख्या की थी और उसने सुना था; और इसी प्रकार

आदि गुरु ईश्वरने हिरण्यगर्भके सामने आत्मा और ब्रह्मकी एकताकी व्याख्या की थी और हिरण्यगर्भने सुना था। हिरण्यगर्भ पहला चेला है ईश्वरका-'ब्रह्मा देवानां प्रथमः स्वयंभुवः-हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत', अब, बोले-ईश्वरने कहाँसे सुना? तो ईश्वरको अज्ञान ही नहीं हुआ-स्वयं चिन्मात्र ब्रह्मके रूपमें ईश्वर अपनेको जानता है। जिसका ज्ञान ईश्वरके ज्ञानसे अलग है वह मूर्ख है-मूर्खताकी परिभाषा यही है।

लोग कहेंगे कि बैठ जाते हैं तख्तेपर और गप्प हाँकते हैं-देखो, असलमें ईश्वरके सिवाय और जो कुछ बोलता है वह गप्प ही है न! आपको एक गप्प सुनाते हैं-आप देखो, स्वामी विष्णुदेवानन्दजी सरस्वती हमारे दायें बैठे हैं और ब्रह्मचारी प्रेमानन्दजी दादा हमारे बायें बैठे हैं-आप लोगोंको यह ठीक मालूम पड़ता है न! आप ध्यानसे एक बार देख लो। अब बताओ कि ईश्वरके ये दाहिने बैठे हैं कि बायें बैठे हैं? अगर ईश्वर केवल हमारे साढ़े तीन हाथके शरीरमें ही कटा-पिटा-सिकुड़ा हुआ बेचारा हाथ-पाँव समेटकर लँगड़ा-लूलाकी तरह बैठा होता तो उसके ये दाहिने हो जाते और ये बायें हो जाते, लेकिन चूँकि ईश्वर समूचे आकाशको अपने पेटमें लेकर बैठा है, इसलिए ये स्वामीजी न ईश्वरके दाहिने हो सकते हैं और न ये ब्रह्मचारीजी ईश्वरके बायें हो सकते हैं। आप हमारे सामने बैठे हो और हम आपके सामने बैठे हैं, ईश्वर कहाँ बैठा है, बोलो-हमारे सामने है कि तुम्हारे सामने है? ईश्वरमें सामने और पीछे नहीं हो सकता, दाहिने और बायें नहीं हो सकता। तो जब तक हमको यह बात मालूम पड़ती है कि यह दायें है और यह बायें है और इसमें सत्यत्वकी भ्रान्ति है, तबतक ईश्वरको जैसा दीखता है उससे हमको अलग दिख रहा है। तो यह अलग क्यों दिख रहा है? कि इस देहमें 'मैं'होनेके कारण दिख रहा है; जब इस देहमें-से 'मैं' को हम निकाल देंगे तब ईश्वरके मैंके साथ हमारा मैं मिल जायेगा और तब हमारे लिए न बीच रहेगा और न सामने, न पीछे, न दाहिने न बायें। पीछे भीत है और सामने श्रोता हैं। यह अपने मैं को परिच्छिन्न घेरेमें बाँधकर विचार होता है। 'मैं' की स्थापना पहले परिच्छिन्न देहमें कर ली जाती है तब विचार किये जाते हैं कि मैं हिन्दू हूँ, तो मुसलमान हमारा दुश्मन, मैं वैदिक हूँ, तो ईसाई भिन्न-धर्मावलम्बी-यह देखो, अपनेको तुम पहले एक घेरेमें बाँध लोगे तब दूसरेको

अपनेसे अलग समझोगे अपने आपको घेरेमें बाँधे बिना दूसरेको अलग समझ नहीं सकते।

अब प्रश्न यह है कि तुमने जो अपने 'मैं'को एक घेरेमें बाँधा—यह विचार-पूर्वक बाँधा कि अविचारसे ही बाँधा? बोले कि बाबा, हम पैदा हुए, हमारे माँ-बापने कहा कि तुम हिन्दू हो। सुनते-सुनते-सुनते हमने अपनेको हिन्दू मान लिया। तुम सोचो कि माँ-बापके पेटमें आनेके पहले तुम हिन्दू-मुसलमान थे कि नहीं? तुम्हारी कौन-सी भाषा थी? किस धर्मके अनुयायी थे? 'जीवन्मुक्ति विवेक'में इसका विचार है-जो जीवन्मुक्त पुरुष होता है वह अपनेमें जातिका, धर्मका और भाषाका आरोप नहीं करता। हम ऊँची गद्दीको नमस्कार करते हैं, पर ऊँची गद्दीपर बैठनेके बाद भी यदि जाति, सम्प्रदाय और मजहब लगा रहा-जातीयता, साम्प्रदायिकता और भाषाईपना श्रेष्ठ विचारमें स्थित होनेपर भी लगा रहा, तो यह बन्धन ही रहा न! यह जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख कहाँ हुआ? यह नहीं कि कोई बड़े मठका महन्त हो गया, तो हमने मान लिया कि ये बड़े तत्त्वज्ञानी हैं! किसी बड़े मठके महन्तको हम तत्त्वज्ञानी नहीं मानते हैं, किसीको हजार बेवकूफ यदि मिलकर महा-महन्तकी उपाधि दे दें तो वह महा-महन्तकी उपाधि प्राप्त करनेसे तत्त्वज्ञ नहीं हो गया, उसका 'मैं' अगर किसी घेरेमें बँधा हुआ है तो तत्त्वज्ञानके साथ उसका भला क्या सम्बन्ध है? कौन-सी भाषा थी उस समय तुम्हारी जब तुम अपने पिताके वीर्यके एक कणमें समाये हुए थे? कौन-सा उस समय मजहब था, कौन-सी उस समय जाति थी? और उसके पहले जब अंगूरमें थे तब क्या था और जब पञ्चभूतमें थे तब क्या थे और जब विराट्में, हिरण्यगर्भमें थे और ईश्वरमें थे तब क्या थे और जब उससे भी पहले अपने स्वरूपका विचार करो—जब तुम ब्रह्म थे—ब्रह्म हो और ब्रह्म रहोगे—उस ब्रह्ममें कौन-सी जाति है, कौन-सी भाषा है, कौन-सा पंथ है, कौन-सा बन्धन है? हमारी उपनिषदें स्पष्ट-रूपसे घोषणा करती हैं-

ब्रह्म तं परादात् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद।
क्षत्रं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनो क्षत्रं वेद।
सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनो सर्ववेद॥

(बृहदा. 2-4-6)

जो ब्राह्मणको अपनेसे न्यारा मानता है, ब्राह्मण उसका तिरस्कार करेगा; जो क्षत्रियको अपनेसे न्यारा मानता है क्षत्रिय उसको पराभूत कर देगा; जो देवताको अपनेसे अलग मानता है, देवता उसको पराभूत कर देंगे–

देवाः तं परादात् योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद।
वेदाः तं परादात् योऽन्यत्रात्मनो वेदान् वेद॥

जो अपनेसे अलग वेदको मानेगा, वेद उसको पराभूत कर देंगे, पराजित कर देंगे, उसको दबा देंगे। संसारमें झगड़ा कैसे होता है? जब किसीको हम अपनेसे अलग मानते हैं–यह अलगावकी जो प्रवृत्ति है यही दुःखदायी है। तो बाबा, यह जो आत्मत्त्वका ज्ञान है यह संन्यासीपनेके अभिमानमें गृहस्थका तिरस्कार करनेके लिए नहीं है और गृहस्थपनेके अभिमानमें भिखारीका तिरस्कार करनेके लिए नहीं है। यह हिन्दू-मुस्लिम लड़ाईके लिए नहीं है, यह अमेरिका और रूसकी लड़ाईके लिए नहीं है, यह शुक्र-ग्रह और पृथिवी-ग्रहकी लड़ाईके लिए नहीं है, यह ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डकी लड़ाईके लिए नहीं है, यह सृष्टि-स्थिति और प्रलयका भेद बनानेके लिए नहीं है, इसलिए, आत्मज्ञान आगमसे प्राप्त होता है–

'इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचक्षिरे'–तुम्हें तो शर्म आती है कि हम यह कैसे बतावें कि यह हमने गुरुसे सीखा है–हमने बहुतोंको देखा है, हमारे ही ऐसे कई चेले हैं-5-7-10 चेलें हैं जो हमारे पास पहले रहकर गये, सीखकर गये और अब कहते हैं कि हमारी उनसे थोड़ी-थोड़ी जान-पहचान है–जो बीसों वर्ष रहकर सेवा करते रहे, वे कहते हैं कि हमको तो भीतरसे ज्ञान आया। असलमें ज्ञानकी परिपाटी यह है कि जैसे दीयेसे दीया जलता है, लौसे लौ जलती है, ऐसे ही तत्त्वज्ञानीसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसलिए उपनिषद्में बताया कि ज्ञान-प्रप्तिका उपाय क्या है–ज्योति। ज्योति जगाओ–सेवा करनेसे, श्रद्धा करनेसे जो तादात्म्य हो जाता है, जो एकत्व हो जाता है, उस तादात्म्यसे, उस एकत्वसे यह ज्योति जलती है, पोथीमें-से ज्ञान नहीं निकलता–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

(मुण्डक. 3.2.3)

'तस्य एष आत्मा परमात्मा भवति स्वां तनुं विवृणुते निरावरणं करोति'– वह अपने आत्माको विवृत करता है–खुलासा कर देता है-कैसे? प्रवचनसे कि प्रवचनसे नहीं–'नायं आत्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन'–जब अभिमान बहुत है कि हम अपनी बुद्धिसे ढूँढ़ लेंगे, अपनी विद्यासे ढूँढ़ लेंगे, अपने प्रवचनसे ढूँढ़ लेंगे, तो अभिमान जो पुष्ट होगा वह परिच्छिन्नमें होगा–यह आपको मालूम होना चाहिए कि अभिमान घेरा बनाता है–जब तुम अपनेको ब्राह्मण मानोगे तो क्षत्रिय नहीं रहोगे-घेरा बन जायेगा। जब अपनेको हिन्दू बनाओगे तब मुसलमान नहीं रहोगे, जब अपनेको मनुष्य बनाओगे तब पशु-पक्षी नहीं रहोगे, जब अपनेको प्राणी बनाओगे तब पत्थर नहीं रहोगे, अप्राणी हो जाओगे, जब अपनेको किसी अभिमानमें बाँधोगे तो घेरेमें बँधोगे-अभिमान घेरा बनाता है-'अभि' माने चारों ओर और 'मान' माने नाप-तौल, अपने चारों ओर लाकरके जो माप लगा दे उसका नाम होता है अभिमान, तो जो लोग अपनी विद्या और बुद्धिके मदमें चूर हैं–श्रद्धाको पाप मानते हैं और गुरु बनानेको बेवकूफी। ऐसे जो लोग हैं नारायण, उनको यह ब्रह्मविद्या, यह तत्त्व विद्याप्राप्त नहीं हो सकती–'इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे'-जिन्होंने हमारे प्रति उस ब्रह्मकी व्याख्या की है उनसे हमने यह सुना है। ईशावास्योपनिषद्में भी यह आया है–

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे। (ईश. 10,13)

धीर सम्प्रदायसे, पूर्व-पूर्व सम्प्रदायसे इस तत्त्वज्ञानकी आगमके द्वारा प्राप्ति होती है, इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्ति नहीं होती, ध्यानके द्वारा प्राप्ति नहीं होती, बुद्धिके द्वारा प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि जो इन्द्रियोंके पीछे, मनके पीछे, बुद्धिके पीछे जो अपना-आपा बैठा है उसकी ब्रह्मता इन्द्रिय-गम्य नहीं है, मनोगम्य नहीं है, बुद्धिगम्य नहीं है–स्वसंवेद्य भी नहीं है, साक्षीभास्य भी नहीं है। इसलिए अपौरुषेय वचनातिरिक्तसे–माने दो के एकत्व बोधक वचनसे, महावाक्यसे, अतिरिक्तसे इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो वस्तु ऐन्द्रियक या बौद्ध या मानस विषय नहीं बनती है, उस वस्तुको, उस अपने आपको समझानेके लिए गुरुके द्वारा बोला हुआ जो वाक्य होता है वही प्रमाण होता है। श्रद्धासे डरनेवाले लोग ब्रह्मज्ञान क्या प्राप्त करेंगे? श्रद्धासे

डरनेवालेको शून्यता मिलेगी और अपने आपको ब्रह्म माननेसे डरनेवालेको परोक्षता मिलेगी।

अच्छा आखिर तुम्हारे गुरुजीने भी तो तुमको समझाया था तो कैसे समझाया था? देखो, यह उपनिषद्का वचन है–

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि–

ऐसे समझाया था-यह समझानेकी विधि है-'अन्यदेव तद् विदितात् अथो अविदिताद् अधि'-हमारे गुरुजीने ऐसे समझाया था-जो विदितसे अन्यत् है और अविदितसे अन्यत् है-विदित माने ज्ञात, जो मालूम पड़ता है और अविदित माने कल्पित-जो मालूम नहीं पड़ता है, जिसकी हम केवल कल्पना करते हैं, शून्यता कभी मालूम नहीं पड़ती है, शून्यताकी हम कल्पना करते हैं, क्योंकि जब हम होंगे तब शून्यता नहीं होगी-एकान्त हो सकता है-दूसरा कोई नहीं हो तो एकान्त हो सकता है पर शून्यता कैसे हो सकती है क्योंकि हम हैं और हम हैं तो शून्यता कहाँ है? तो–

'अन्यदेव तद्विदितात्'–विदित माने जो कुछ मालूम पड़ता है खुल्लम-खुल्ला और अविदित माने जिसको हम नहीं जान पाते हैं, जिसकी कल्पना करते हैं-कि परोक्ष है, कि कल्पित है, ऐसे देखो–विदित माने कार्य और अविदित माने कारण सत्तामें ये दो स्थिति कल्पित हैं–कार्य और कारण-सत्में यह अस्ति-अस्ति जो मालूम पड़ता है उसमें एक कार्य अवस्था और एक कारण अवस्था कल्पित हैं। चेतनमें विदित और अविदित उसीको बोलते हैं–ज्ञात और अज्ञात, और आनन्दमें वही सुख और सुखाभाव ये दोनों कल्पित हैं। तो आनन्दकी दृष्टिसे सुख और सुखाभावसे परे और चेतनाकी दृष्टिसे ज्ञात और अज्ञातसे परे और सत्-दृष्टिसे कार्य और कारणसे परे अपना आपा ब्रह्म है।

●

प्रवचन : 4.1

पूर्वमन्त्रोंके साथ संगति

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।

(केन. खण्ड 1 म. 4)

आत्माके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न मतवादी भिन्न-भिन्न प्रकारसे निरूपण करते हैं। लौकिक लोग दूसरे ढंगसे बोलते हैं, तार्किक लोग दूसरे ढंगसे बोलते हैं, मीमांसक लोग दूसरे ढंगसे बोलते हैं। बात यह उठी कि उनके मतके साथ विरोध होगा (यदि आत्मा ब्रह्म ही हो)। देखो, एक बात पहले ध्यानमें रखो–मतके साथ मतका विरोध होता है, मतके साथ अमतका विरोध नहीं होता। दो घड़े आपसमें टकरायेंगे तो संभव है दोनों फूट जाँयें, लेकिन दोनोंमें जो आकाश है वह न आपसमें टकरायेगा और न ही फूटेगा। तो ये जो मत हैं–एक-एक विचारको लेकर, एक-एक निश्चयको लेकर, एक-एक निर्णयको लेकर मति-रूप घड़ेका पेट भरता है, तो ये मनरूपी घड़े जो हैं ये आपसमें टकराते हैं और इनके फूटनेपर इनका निर्णय बह जाता है, विचार बह जाता है, लेकिन जो मतिका साक्षी है और जो मतिका प्रकाशक है वह न टकराता है, न बहता है, न फूटता है, न टूटता है–वह ज्यों-का-त्यों रहता है। यह बात वचपनमें मैंने सुनी थी। काशीमें दो विद्वानोंका शास्त्रार्थ छिड़ गया–अचानक ही छिड़ गया, दोनों मञ्चपर बैठे थे, महामहोपाध्याय पण्डित हरिहर कृपालु शर्मा और महामहोपाध्याय पण्डित अनन्तकृष्ण शास्त्री। दोनों वेदान्तके उद्भट विद्वान्! हरिहर कृपालु शर्माने पूर्व-पक्ष ले लिया और अनन्तकृष्ण शास्त्रीने वेदान्तका पक्ष ले लिया; तो यह हुआ कि इनमें-से कोई

भी हारे तो एक मत ही हार जायेगा। इसपर उन्होंने कहा कि नहीं, यह बात नहीं है, मतिके हार जानेसे सिद्धान्त नहीं हार जाता, यह तो जिस मतिमें जितने विचार हैं, जितने तर्क हैं, जितनी युक्ति है, वे हारती हैं–सिद्धान्त नहीं हारता। बोले–हमारी मति भले ही हार जाय, हम तर्कमें हार जायँ, हम युक्ति देनेमें हार जायें, हम प्रमाण देनेमें हार जायें, हम वाद-विवाद करनेमें हार जायें, हमारी मति तुम्हारे सामने चुप हो जाय, लेकिन इससे क्या जो हमारा सिद्धान्त है कि 'आत्मा ब्रह्म है' यह हार जायेगा? नहीं, वह मत नहीं है, वह तो मतातीत है, वह तो अमत है अमत, स्वयं-प्रकाश जो वस्तु है वह कभी हारनेवाली नहीं है।

अब बोलते हैं कि कोई ऐसा कहते हैं कि आत्मा भला ब्रह्म कैसे हो सकता है क्योंकि आत्मा तो उसको कहते हैं कि जो कर्म और उपासनामें अधिकृत है माने जिसको काम करने, न करनेका हुकुम दिया जाता है वह आत्मा है अथवा उपासनामें जो अधिकृत है कि इस देवताकी उपासना करो– वह आत्मा है। अभिप्राय यह कि अधिकारीका नाम आत्मा है। तो बोले कि भाई, यह कर्म और उपासना अथवा साधनका जो अनुष्ठान करता है, जो ब्रह्मादि देवताओंकी पूजा करता है, जिसको पशु बने बिना सन्तोष ही नहीं है वह ब्रह्म कैसे हो सकता है?

यह तो आपको मालूम ही होगा कि ये जितने देवता हैं वे एक चिड़िया या एक पशु अपने पास रखते हैं, कोई चिड़ियापर चढ़कर उड़ता है तो कोई पशुपर चढ़कर चलता है। कोई मोरपर चढ़ता है, कोई गरुड़पर चढ़ता है, कोई हंसपर चढ़ता है–एक चिड़िया उनके पास जरूर चाहिए, अगर कोई चिड़िया फँसावें नहीं तो देवता कैसे हों? माने देवताके लिए एक पुजारी होना जरूरी है। इसी प्रकार चाहे बैलपर चढ़ें, चाहे शेरपर चढ़ें, एक पशु भी चाहिए। इन्द्र हाथीपर चढ़ता है, शिवजी बैलपर चढ़ते हैं और देवी शेरपर चढ़ती हैं। देवी शेरपर क्यों चढ़ीं? यह मालूम है आपको? शंकरजी बैलपर चलते हैं न, तो देवीने कहा कि हमारा वाहन ऐसा होना चाहिए जिसको देखकरके शिवजीका वाहन डर जाय। हमारा वाहन देखकर शिवजीका वाहन डरेगा तो हमें देखकर शिवजी भी डरेंगे! यह देवीजी शक्ति हैं और शक्तिके

लिए जरा शक्तिशाली वाहन चाहिए; और शंकर भगवान् धर्म-रूप हैं। और पक्षी गति-रूप हैं, उनमें गति है-यह देवताओंके वाहनोंका रहस्य है। लेकिन एक बात है कि देवता वही होगा जिसके पास वाहन होगा। भैरवजीको और कोई नहीं मिला तो कुत्तेपर ही चढ़े, गणेशजी चूहेपर ही चढ़ गये! लोकमें भी सेठ वही होता है जिसके पास मोटर-वोटर कुछ हो, मोटर न हो तो स्कूटर ही सही, लेकिन बड़प्पनके लिए वाहनकी अपेक्षा होती है! लेकिन श्रुतिमें यह बात बतलायी गयी कि–

यो अन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसा वन्याऽहमस्मि न सवेद यथा पशुरेवं स देवानाम्–(बृहद.1-4-10)

श्रुति बताती है कि वह दूसरा है और मैं दूसरा हूँ ऐसा करके जो देवताओंकी उपासनामें लगा हुआ है वह उसके लिए फूल लावेगा, चन्दन लावेगा, भोजन ले आयेगा–'पशुरेव स देवानाम्'–उसको देवताओंका पशु होकरके रहना पड़ेगा; और जो अपने आपको ब्रह्म जान लेगा वह पशु नहीं होगा, वह तो देवताकी आत्मा होगा।

ऐसा होने पर भी उपासकोंका कहना है कि जो देवताओंकी आराधना करके स्वर्गादिको प्राप्त करना चाहता है वह तो हुआ अधिकारी, वह तो हुआ जीव, और जिसकी वह उपासना करेगा वह विष्णु, शिव, इन्द्र, प्राण–यह सब ब्रह्म होना चाहिए। जिसकी उपासना करें सो ब्रह्म और जो उपासना करे सो जीव। यदि उपासना करनेवालेको ही ब्रह्म मान लोगे तो लोक-प्रत्ययका विरोध होगा। दूसरे जो कर्मी हैं वे कहते हैं कि बाबा, यह आत्मा तो ईश्वरसे अलग ही है; क्योंकि अमुं यजामुं यजेत्–इस श्रुतिमें इसीके लिए विधान है कि अमुक यज्ञ करो, अमुक यज्ञ करो; इस देवताकी आराधना करो, इस देवताकी आराधना करो। इसका अर्थ हुआ कि जो विदित है, जो उपास्य है, जो इन्द्रादि देवता रूप हैं, उसका नाम ब्रह्म है और उससे अलग उपासक जीव है, वह ब्रह्म नहीं हो सकता। फिर अविदित जो कारण तत्त्व है वह तो ईश्वर है ही। अतः विदित-अविदितसे परे आत्मा ब्रह्म है यह बात भी सिद्ध नहीं है। श्रुति-भगवतीको मालूम पड़ गयी यह बात कि ये दुनियादार लोग इसी चक्करमें पड़ जायेंगे तो उनकी शंका दूर करनेके लिए श्रुति बोलती है कि

शंका मत करो, यह आत्मा ही ब्रह्म है, इसीको ब्रह्म जानो जो वाणीका प्रकाशक है।

लोक प्रत्ययमें भी यही प्रश्न उठता है कि भला, यह आत्मा ब्रह्म कैसे हो सकता है—जो कर्म करे सो आत्मा, जो उपासना करे सो आत्मा, जो सुखी-दुःखी हो सो आत्मा, जो पापी-पुण्यात्मा हो सो आत्मा, जो नरकस्वर्गमें जाये सो आत्मा होता है—यही आत्मा जब सत्कर्म, उपासना या साधन-योगका अनुष्ठान कर लेता है तब यह धर्म-कर्म करे तो स्वर्गमें जाता है, इष्टदेवकी उपासना करे तो वैकुण्ठ आदिमें जाता है, योगाभ्यास करे तो द्रष्टा होकर, साक्षी होकर बैठ जाता है। तो, यह आत्मा भला ब्रह्म कैसे हो सकता है? और फिर, ईश्वर तो इस आत्मासे अलग ही है। वह ईश्वर भी महाराज, बड़ा विलक्षण है; कोई-कोई तो कहते हैं कि वह वागेश्वर है—वाणीका स्वामी है—एक इन्द्रियका, कोई कहते हैं कि ईश्वर कर्णेश्वर है; कोई कहते है कि वह नेत्रेश्वर है—अब ये छोटे-छोटे टुकड़े हैं तो यह तो ऐसे ही हुआ न जैसे खण्ड-मण्डलाधीश—जैसे कोई तहसीलदार हो या एक परगनेका मालिक हो! जो हाथका मालिक है वह तो एक शरीरके एक भागका मालिक है, एक भागकी समष्टि हाथोंका मालिक भी है, तब भी तो हाथका ही मालिक हुआ न! आँखका मालिक नहीं हुआ—आँखका मालिक सूर्य है सबके हाथका मालिक इन्द्र है, सबकी जीभका मालिक वरूण है, वाक्का मालिक अग्नि है; अच्छा, तो भाई प्राणेश्वर है कि भाई प्राणेश्वर तो तब होगा न जब सबके प्राण हों। तो बोले कि हृदयेश्वर है। तो जब हृदय रहेंगे तभी न वह स्वामीके रूपमें रहेगा, नहीं तो उसका स्वामित्व भी नष्ट हो जायेगा। बोले—भाई, ऐसे खण्ड-खण्डके रूपमें ईश्वरको मत पहचानो, हस्तेश्वर, पादेश्वर, गन्धेश्वर, नेत्रेश्वर—यह सब ईश्वरके नाम नहीं हैं। तब बोले कि फिर एक ही नाम रख दो—हृषीकेश्वर-सब इन्द्रियोंके स्वामी तो इन्द्रियाँ भी कार्य-दशामें रहती हैं, कारण-दशामें नहीं रहती हैं, तो जब सृष्टिका कार्य रहेगा, तब इन्द्रियोंका मालिक ईश्वर रहेगा, अन्यथा नहीं रहेगा। कि अच्छा, तो आओ पृथ्वी-ईश्वर बना दें। तो जलेश्वर कौन होगा? तो जलेश्वर बना दें। फिर पृथ्वीश्वर कौन होगा? तो फिर अग्नीश्वर कहो, पवनेश्वर कहो, गगनेश्वर कहो कि ऐसे नहीं बनता। मन-ईश्वर कहो,

ज्ञान-ईश्वर बोलो–ऐसे ईश्वरका निरूपण नहीं होता है। तो यदि इसको अहंकारेश्वर कहोगे तो रुद्र हो जायेगा, यदि इसको महदीश्वर कहोगे तो हिरण्यगर्भ हो जायेगा, यदि इसको प्रकृति-ईश्वर कहो तो धनेश्वरकी तरह हो गया न–धनके कारण जिसका महत्त्व होगा वह धनेश्वर होगा–तो मायाके कारण जिसका महत्त्व होगा वह मायेश्वर होगा; प्रकृतिके कारण जिसका महत्त्व होगा वह प्रकृति ईश्वर होगा–ईश्वर होता है प्रजाका। यदि पुरुष ही नहीं हो, तो पुरुषेश्वर कहाँसे होगा!

तो यह जितने ईश्वरके नाम हैं ये किसी-न-किसी अपेक्षासे बनते हैं। जैसे किसी आदमीकी कीमत आदमी-धनेश्वरके कारण है। काशी विद्यापीठमें एक साहित्य-सम्मलेन हो रहा था, बहुत-भारी साहित्य-परिषद् था काशी जैसा स्थान, तो वहाँ तो गली-गलीमें साहित्यके विद्वान् डोलते हैं–सौ-दो-सौ तो साहित्याचार्य होंगे वहाँ, तो जब साहित्य-परिषद् हुई तो उसके मालिक बनाये गये एक धन-कुबेर-करोड़पति आदमी हैं, अभी जिन्दा हैं, ईश्वर-कृपासे इसलिए उनका नाम नहीं लेते हैं–मैं भी उस सभामें था। तो वे बने प्रेसीडेण्ट और हैं जरा मुँह फट जो मनमें आता है सो बोल देते हैं–बोले कि देखो भाई, हम साहित्यके बारेमें तो कुछ जानते नहीं, हिन्दी भी कम ही जानते हैं, राजस्थानी ज्यादा जानते हैं। तुम लोगोंने हमको थोड़े ही साहित्य-परिषद्का सभापति बनाया है, हमारे पैसेको बनाया है, तो लो पाँच हजार हम दे देते हैं। तो अब, उनकी जो कीमत थी वह, अपनेमें नहीं थी, कीमत दूसरेमें थी, उस कीमती चीजके साथ सम्बन्ध होनेके कारण वे भी कीमती हो गये, प्रेसीडेण्ट बन गये। तो अगर ईश्वर भी ऐसे जीवोंका मालिक होनेके कारण महत्त्वपूर्ण होवे कि वह जीवोंका ईश्वर है या प्रकृतिका मालिक होनेके कारण महत्त्वपूर्ण होवे, तो महत्त्व ईश्वरमें नहीं रहेगा, जिसका मालिक होनेसे उसका महत्त्व होगा उसका महत्त्व हो जायेगा–धनका महत्त्व हो जायेगा धनेश्वरका नहीं, प्रकृतिका महत्त्व हो जायेगा प्रकृतीश्वरका नहीं; पुरुषका महत्त्व हो जायेगा पुरुषेश्वरका नहीं; फिर ईश्वर प्रजाकी कठपुतली हो जायेगा, वोटसे ईश्वरका निश्चय होगा–श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने कहा कि यदि हुकुम चलानेके लिए कोई नहीं रहेगा तो फिर हुकुम देनेवाला कहाँ रहेगा? जब

हुकुम चलानेके लिए न जीव है, न प्रकृति है; तो फिर ईश्वर ही कहाँ रहेगा, ईश्वरत्वका ही नाश हो जायेगा। इसलिए जीवप्रकृतिका बाबा, अनादि मानो तो ईश्वर भी अनादि रहेगा, नहीं तो जीव-ईश्वर नहीं रहेंगे तो ईश्वरकी अनादिता भी चली जावेगी।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्यनादी उभावपि

उसी श्लोकके भाष्यमें शांकर भाष्यमें यह पंक्ति है :

ईशितव्याभावाद् ईश्वरस्य अनीश्वरत्व प्रसंगात्।

तो कहनेका मतलब यह कि जब हम ईश्वरका कोई नाम रखते हैं– प्राणेश्वर, हृदयेश्वर, कर्मेश्वर, नेत्रेश्वर, रसनेश्वर, पृथ्वीश्वर, जलेश्वर, अग्नीश्वर, पवनेश्वर, गगनेश्वर, तामस-अहंकारेश्वर, राजस-अहंकारेश्वर, सात्त्विक-अहंकारेश्वर, ब्रह्माण्डेश्वर, ब्रह्माण्ड-पालक, ब्रह्माण्ड-संहर्ता–यह सब नाम रखते हैं तो ब्रह्माण्डकी अपेक्षासे हुआ न, और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिसके रोम-कूपमें हैं वह विराट् पुरुष और वह विराट्-पुरुष भी व्यक्त अवस्थाकी दृष्टिसे है, स्थूल व्यक्तकी दृष्टिसे है, सूक्ष्म व्यक्तकी दृष्टिसे तो विराट् नहीं है, हिरण्यगर्भ है और मूल-प्रकृतिकी दृष्टिसे हिरण्यगर्भ नहीं है, ईश्वर है। अब यदि मूल प्रकृतिको छोड़कर भी परमात्माका निरूपण करना हो जिसमें देश नहीं, काल नहीं, वस्तु नहीं–मूल प्रकृति नहीं और जिसमें नहीं भी नहीं, उसका नाम लेना हो तो क्या नाम लोगे? उसके नामके लिए एक संकेत बनाना पड़ेगा।

तो मालूम यह पड़ता है कि हम प्राणी प्राणेश्वरके भक्त हैं–प्राणेश्वर तो ईश्वर हैं और हम प्राणी हैं–ऐसा मालूम पड़ता है। तो ईश्वरसे आत्मा अलग है, आत्मासे ईश्वर अलग है, आत्मा पुजारी है और परमात्मा जो है वह पूज्य देवता है–यह बात मालूम पड़ती है! तो, विदित जो उपास्य है वही ब्रह्म होना चाहिए और उससे अलग उसका उपासक होना चाहिए–इस शंकाको दूर करनेके लिए यह मंत्र प्रवृत्त हुआ कि यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।

●

प्रवचन : 4.2

वाणीका प्रकाशक आत्मा ब्रह्म है : यद्वाचानभ्युदितम्०

ईश्वरके सब नाम सम्बन्धमूलक हैं। नरोत्तम नरकी अपेक्षासे है, जीवेश्वर जीवकी अपेक्षासे है। इसी प्रकार प्राणेश्वर, हृदयेश्वर, पृथ्वीश्वर, इत्यादि प्रकृतीश्वर, मायेश्वर पर्यन्त सारे नाम किसी ईशितकी अपेक्षासे हैं। कार्यकी अपेक्षासे कारणेश्वर है, इदं और त्वंकी अपेक्षासे तत्-नाम है। अच्छा, अहमीश्वर उसका नाम हो? बोले—नहीं। अहं कोई छोटी चीज हो तो दस-बीस अहं होवे और फिर उनका कोई ईश्वर हो! तो बोले—ईश्वरका एक अपना निरपेक्ष नाम ब्रह्म है। ब्रह्म एक ऐसी वस्तु है जो 'चैतन्यमात्रसत्ताकम्' है। बड़ी अद्भुत लीला है इस वाक्यकी! एक सत्ता देखनेमें आती है जिसमें चैतन्य नहीं है और एक चैतन्य भी ऐसा देखनेमें आता है जिससे सत्ता जुदा भासती है। जैसे यह किताब है—तो किताबकी सत्ता है, परन्तु किताब न कुछ जानती है, न कुछ बूझती है, न कुछ प्रकाशती है; बोले—यह सत्ता तो है परन्तु, यह स्वयं चैतन्य नहीं है चैतन्यके द्वारा प्रकाशित सत्ता है। तो परमात्मा ऐसी सत्ता है जो चैतन्यमात्र है—'चैतन्यमेव इति चैतन्यमात्रम् यथा तदेव इति तन्मात्रम्'—जिस चैतन्यसे जुदा सत्ता नहीं है। बिना चैतन्यकी सत्ता नहीं और चैतन्यकी असत्ताका अनुभव करनेकी कोई प्रक्रिया नहीं—अहं नास्मि-मैं नहीं हूँ—यह अनुभव होगा कभी आपको? किसीको, कभी भी यह अनुभव नहीं हो सकता कि मैं नहीं हूँ। अपनी असत्ताका तो अनुभव हो नहीं सकता और दूसरेकी सत्ताका जो अनुभव होगा उसका अनुभव स्वरूप भूत चैतन्यसे होगा। तो 'चैतन्यमात्र सत्ताकम्' ऐसी सत्ता जो जड़ न हो, दृश्य न हो, विकारी न हो, सापेक्ष न हो, द्रष्टासे पृथक् न हो, चिन्मात्र हो, क्षणमात्र हो, उसीका नाम ब्रह्म है।

तो बोले कि ब्रह्म जो चैतन्य मात्र सत्ताक वस्तु है—उसको आओ बोलकर बतावें। तो बोले भाई, यह ब्रह्म जो है यह किसीका जूठा नहीं होता। उस पदार्थका (चिन्मात्र सत्ताका कल्पित नाम हमने ब्रह्म रखा है जो कार्य-कारणके सम्बन्धसे प्रकाशित नहीं होता, जो आधेय और आधारके सम्बन्धसे प्रकाशित नहीं होता, जो जन्य और जनकके सम्बन्धसे प्रकाशित नहीं होता; जो पूर्वापर

भावके सम्बन्धसे प्रकाशित नहीं होता। यह जगत् पीछे बना, वह पहले था; जगत् अब है वह तब रहेगा—यह पूर्वापरिभाव हुआ; तो पहले-पीछे काल हैं, जब-तक अब काल है। ब्रह्म काल-सम्बन्धसे प्रकाशित नहीं होता-यह मतलब है। लोग कहते हैं कि हमारा भूत इतना बढ़िया था, राज्य इतना बढ़िया था, धन इतना बढ़िया था, पिता इतना बढ़िया था, पति इतना बढ़िया था, मकान इतना बढ़िया था! भूतसे इतना लगाव हो गया कि वर्तमानसे द्रोह हो गया। अरे मेरे बाप! भूत यदि इतना बढ़िया होता तो लोग उसको छोड़ क्यों देते, उसको भूल क्यों जाते? अगर वह बढ़िया होता तो हमारे साथ लगा ही रहता न! ऐसा भूत लगे कि वर्तमानसे द्रोह हो जाये तो वह बिलकुल गलत है; और ऐसा भविष्य जो अभी पैदा ही नहीं हुआ है, उसके साथ इतना लगाव बना लेना कि वर्तमान छूट जाये यह भी गलत है। जिस रूपमें ईश्वर अपने सामने आया है उसकी ओरसे तो बन्द कर लें और भविष्यकी चिन्ता करें यह गलत है।

बोले—एक बार किसीने तार दे दिया कि हम तुम्हारे घर रविवारको आयेंगे, किन्तु कुछ ऐसा योगायोग पड़ा कि बेचारा शनिवारको ही पहुँच गया। अब वह जो आतिथेय था—मेजबान-जिसके घर वे आनेवाले थे-उसने कहा कि तुम वह हो ही नहीं सकते, क्योंकि उनका समाचार तो कल आनेका है, वे तो कल आवेंगे, आज कैसे आ सकते हैं? अरे बाबा! मैं तेरे सामने खड़ा हूँ, बात कर रहा हूँ। बोले-नहीं-नहीं तुम वह नहीं हो।

अच्छा, अब एक सच्ची घटना आपको सुनाता हूँ। कोई 15 बरस पहलेकी बात है। हमारे एक शंकराचार्य हैं, बड़े सीधे-सादे, भोले-भाले। उनको आमन्त्रित किया गया कानपुरमें। कानपुरमें अमुक चौराहेपर उनका स्वागत होगा और अमुक चौराहेसे वे बाजे-गाजेके साथ लाये जायेंगे, अमुक जगह सभा होगी, अमुकके घरमें ठहरेंगे—यह सब बात तय हो गयी। एक जगह उनका कोई प्रोग्राम था तो वह प्रोग्राम कैंसिल हो गया और इसलिए वे महात्मा मोटरपर चढ़कर तीन दिन पहले ही कानपुर पहुँच गये। करपात्रीजी महाराजने उनसे कहा कि आज क्यों आये? तीन दिन बाद तुम्हारा स्वागत होनेवाला है, सभा होनेवाली है, जुलूस निकलनेवाला है तो आज क्यों आये? सो अब तुम कानपुरसे दस मील दूर जाकर रहो, वहाँ तीन दिन ठहरो

और फिर आना। मैं वहाँ कानपुरमें था, तो जब उन महात्मासे मिलनेको गया तो वे बोले—क्या करें भाई, तीन दिनका बनवास सहकर आये हैं।

तो बाबा, आज तो तुम्हारे सामने खड़ा है परमात्मा, उनका तो तुम स्वागत नहीं करते हो और भविष्यकी योजना बना रहे हो। तो भूत और भविष्यसे इतना प्रेम कि भूत और भविष्यका साक्षी ही भूल जाये? कार्य और कारणमें इतना प्रेम कि उनका प्रकाशक भूल जाये? और आधार-आधेयमें, पूर्वापरमें, इतना प्रेम कि उनका साक्षी अधिष्ठान ही भूल जाये? आधार-आधेय भाव देशकी दृष्टिसे होता है और पूर्वापर भाव कालकी दृष्टिसे होता है और कार्य-कारण-भाव द्रव्यकी दृष्टिसे होता है-इसमें इतना तुम्हारा प्रेम कि जो इसका अधिष्ठान है,जो इसका साक्षी है,जो इसका प्रकाशक है, जो स्वयं प्रकाश है उसकी ओरसे दृष्टि मोड़ ली जाये? तो भाई, चैतन्यमात्रसत्ताक जो है यह आत्मदेव है, यह प्रकृति रहे कि न रहे यह ब्रह्म है; महत्तत्त्व हो कि न हो यह ब्रह्म है; अहंकार हो कि न हो, यह ब्रह्म है, विराट् हो कि न हो यह ब्रह्म है; ये आकाशदि पञ्चभूत हों कि न हों यह ब्रह्म है; और आकाश आदि पञ्चभूतमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनें कि न बनें यह ब्रह्म है। आप देखना कि यह ब्रह्माण्ड पञ्चभूतके एक हिस्सेमें बनता है, पञ्चभूतकी गति तो बड़ी भारी है-मिट्टीमें एक डला जैसे होता है वैसे पञ्चभूतमें एक डलेका नाम ब्रह्माण्ड होता है-ब्रह्माण्ड तो बहुत छोटी चीज है, तो पृथिवीश्वर, जलेश्वर, गगनेश्वर-यह सब तो बड़ी चीज हैं, ब्रह्माण्डेश्वर तो बहुत छोटी चीज है और ब्रह्माण्डेश्वरमें भी भारतेश्वर हो तो और छोटा होगा, और भारतेश्वरमें केवल महराष्ट्रेश्वर हो तो और छोटा होगा और उसमें भी केवल नासिकेश्वर हो तो और छोटा होगा-ईश्वरके दायरेको क्यों छोटा करते जाते हो? ऐसे निरूपण करते हैं कि नहीं भाई, जिलासे प्रान्त बड़ा, प्रान्तसे देश बड़ा, देशसे राष्ट्र बड़ा, राष्टसे पृथिवी बड़ी और पृथिवीसे पञ्चभूत बड़े, पञ्चभूतोंसे विराट् बड़ा और विराट्के एक-एक अवयवोंमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड होते हैं और विराट्से हिरण्यगर्भ बड़ा-एक-एक ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा-विष्णु होते हैं, हिरण्यगर्भसे ईश्वर बड़ा और ईश्वरसे-जो प्रकृतिको विशेषण बनाकर काम कर रहा है उस विशिष्ट ईश्वरसे उपहित ईश्वर बड़ा, क्योंकि वह सम्बद्ध है और उपहित ईश्वरसे जिसमें

उपाधि बाधित है सो बड़ा और जिसमें उपाधि बाधित है उससे जिसमें बाधित-अबाधितका कोई भेद ही नहीं है वह बड़ा-बाधित और अबाधितका प्राग्भाव भी जिसमें नहीं हैं-ऐसे पदार्थको बोलते हैं ब्रह्म।

परिच्छेदसामान्याभावोपलक्षिततत्वं ब्रह्मत्वं अथवा परिच्छेदसामान्यात्यन्ताभावोलक्षिततत्वम् बलत्वम्-

यह परिभाषा है। परिच्छेद माने टुकड़ा-टुकड़ा-देशका टुकड़ा, काल का टुकड़ा, वस्तुका टुकड़ा, मनका टुकड़ा, बुद्धिका टुकड़ा; कारणका टुकड़ा-टुकड़े-टुकड़े-टुकड़े-इसको बोलेंगे परिच्छेद सामान्य-सामान्य माने जाति तो जितने प्रकारके परिच्छेद हैं, भेद हैं, टुकड़े हैं किस्म-किस्मके-उनकी जातियोंके अभावसे जिसका इशारा किया जाता है और भाव और अभाव दोनोंका जो अधिष्ठान है और उनके भावाभाव दोनोंका जो प्रकाशक है उस आत्माके लिए श्रुतिमें ब्रह्म शब्दका प्रयोग होता है-यह प्राइवेट ईश्वरकी बात नहीं है, यह असली जो परमात्मा है, ब्रह्म है उसकी बात है।

जब हम उसका वर्णन करने लगते हैं–वाणीके साथ सम्बन्ध जोड़ करके-तब यह प्रश्न हुआ कि जो भी वाणीसे बोला जायेगा उसमें शब्दोंका, पदोंका प्रयोग होता है। 'अष्टसु स्थानेषु विषक्तमाग्नेयं वर्णानाम्'–जितने वर्ण हम बोलते हैं वे आठ जगहसे निकलते हैं। कुछ छातीसे निकलते हैं, कुछ कण्ठसे निकलते हैं, कुछ सिरसे निकलते हैं, कुछ जिह्वा-मूलसे निकलते हैं, कुछ दाँतसे, कुछ नासिकासे, कुछ होंठसे और कुछ तालुसे-आठ स्थानोंसे वर्णोंकी उत्पत्ति होती है जिनका उच्चारण होता है और वाणीका अधिष्ठात्री देवता जो अग्नि है वह वर्णोंको बोलनेमें प्रेरणा देता है। यह जो हम लोग खाते हैं, पीते हैं उससे एक प्रकारकी गर्मी इकट्ठी होती है-अग्नि देवता उसको बोलते हैं-वह अग्नि-देवता ही वाणीको प्रेरणा देते हैं बोलनेके लिए; और वर्ण जो होते हैं वे अर्थके संकेतसे अलग-अलग होते हैं-घ और ट-घके बाद ट रख दो तो घड़ेका वाचक घट हो जायेगा और पके बाद टको रख दो तो कपड़ेका वाचक पट हो जायेगा-इन्हीं वर्णोंका ऐसा विन्यास किया जाता है कि बहुत सारे शब्द बनते हैं। अकार आदि स्वर होते हैं, उनमें भी स्थान-प्रयत्नका भेद हो जानेसे अनेक स्वर हो जाते हैं। 'अ' कण्ठसे बोला जाता है। और 'इ' बोलनेमें थोड़ा तालुका प्रयोग करना

पड़ता है, 'ई' बोलनेमें होंठ हिलाने पड़ते हैं, स्वरोंके उच्चारणमें स्थान और प्रयत्नका भेद हो जाता है-हैं सब स्वर अकार ही अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ-हैं सब अकारके ही भेद परन्तु स्थान-प्रयत्नसे उच्चारणमें भेद होता है। कसे लेकर म तक जो वर्ण हैं उन्हें स्पर्श वर्ण बोलते हैं-य र ल व-ये अन्तस्थ हैं! देखो, बाहर-में जो ब है वह ओष्ठ्य है-बाहरसे बोला जाता है परन्तु, वासुदेवमें जो 'व' है वह अन्तसे बोला गया। श, ष, स, ह-ये ऊष्म वर्ण हैं। इन्हींके द्वारा पद बना करके अनेक रूपके शब्द बोले जाते हैं। श्रुति कहती है-'अकारो वै सर्वा वाक्' अर्थात् अकार ही सम्पूर्ण वाक् है। इसलिए अकार प्रधान ओंकार ही सत्य है। अनृत जो है वह निषेधात्मक है-नकार है ये सब जिसके विकार हैं–ऐसी जो वाणी है–वाक्-इसके द्वारा बारम्बार कोई चीज बोली जाती है।

वाणीसे जो कोई बात बोली जाती है वह अनुभव करके बोली जाती है; यदि सुनी हुई बातका अनुकरण किया तब भी अनुभव किया हुआ ही हुआ। कुछ बैखरी वाणीसे बोला जाता है, कुछ मध्यमा वाणीसे बोला जाता है, कुछ पश्यन्ती-वाणीसे भी शब्दोच्चारण होता है, परा-वाणीका भी कुछ विषय होता है। साक्षीभास्य जो है वह परा-वाणीका विषय है। वाणीसे कैसे बोला जाता है इसका हिसाब होता है। बोले-वाग्-इन्द्रिय कौन-सी है? कि वाग्-इन्द्रिय वह है जिससे आप सपनेमें बात करते हैं। जिससे जाग्रत्में बात करते हैं और ये डाक्टर लोग कैन्सर होनेपर जिसको काटकर निकाल देते हैं उसका नाम वागेन्द्रिय नहीं है क्योंकि जीभ कट जानेके बाद भी आदमी मनमें बात करता है। वाणी उसको कहते हैं जिससे मनुष्य स्वप्नमें सम्भाषण करता है और सुषुप्तिमें सो जाता है–वही वाक् है। और भी वाणीका प्रवेश है, परावाणीके रूपमें, क्योंकि अर्थप्रकाशन-सामर्थ्य वाक्में होनेसे चैतन्य ज्योति तक इसकी पहुँच है यह बात आप ध्यानमें रखो। यह फूल है, यह पुस्तक है, यह घड़ी है-यह वाणी वस्तुको दिखाती है; तो वस्तुके बोधनका सामर्थ्य होनेके कारण वाक्की पहुँच चैतन्यतक है। असलमें जो सुषुप्तिको बोधन करे उसका नाम भी वाक् होगा-सुषुप्ति रूप अर्थको जो प्रकाशित करे उसका नाम भी वाक् होगा-वह तो चैतन्यमयी वाणी होगी, परावाणी होगी। लेकिन, एक बात है, यह भले ही परावाणी माने चैतन्य होवे-वाणी माने सरस्वती-चैतन्य ज्योति होवे-परन्तु,

यह जिसको बोलकर बतावेगी वह ब्रह्म चैतन्य नहीं होगा। जैसे कोई समाधिका वर्णन करे कि ऐसी समाधि लगी कि उस समय कोई वासना हमारे मनमें नहीं थी, उस समय मनमें कोई भी हलन-चलन नहीं था, उस समय किसी भी विषयका भान नहीं हो रहा था, नेत्र बन्द थे-तो यह तो चैतन्य-ज्योतिके रूपमें रह करके वाणी जिस रूपको देखकर आयी है और अब उसका वर्णन कर रही है, तो यह असलमें भूत हीका वर्णन कर रही है, यह ब्रह्मका वर्णन नहीं है।

यद् वाचा अभ्युदितम्-'वाक्के द्वारा तादात्म्यपन्न हो करके जिसको बोलता है, तो उस बोली हुई चीजका नाम ब्रह्म नहीं है। 'तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि'-तब ब्रह्म कौन है? कि जो बैखरी वाक्का प्रकाशक, मध्यमा वाक्का प्रकाशक, पश्यन्ती वाक्का प्रकाशक, परा-वाक्का प्रकाशक है और परा-वाक् भी जिसको इदंतया प्रकाशित नहीं कर सकती औरोंकी तो बात ही क्या, वह जो चैतन्य-ज्योति है-स्वयं प्रकाश, सर्वावभासक-'येन वागभ्युद्यते'-जिससे परा-वाक् अपने अनुभवको मध्यमा आदि वाणियोंमें, पश्यन्ती आदि वाणियोंमें संचारित करके बुलवाती है—वह ब्रह्म है माने उसको परिच्छिन्न मत समझना—

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि।

यह जो आत्म-ज्योति है, यह जो आत्म-चैतन्य है, इसको आप ब्रह्म जानो। कालकी कलनासे इसमें गलना नहीं है; देश-प्रदेशमें इसका निवेश नहीं है, यह कहीं भी कार्य-कारणके द्वारा निर्धार्य नहीं है-ऐसी यह वस्तु-'तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि'—परमात्माका स्वरूप ऐसा है-तदेव माने वही।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते लोकः।

लोग जहाँ ब्रह्मबुद्धि करके उपासना कर रहे हैं कि यह ब्रह्म, यह ब्रह्म, यह ब्रह्म-वह तो उनकी नजरकी छोटाईसे छोटा-सा है, उनकी बुद्धिकी छोटाईसे छोटा-सा है, उनके मनकी छोटाईसे छोटा-सा है। समाधि और सुषुप्ति-साक्षीभास्य है; स्वप्न, मनोराज्य साक्षीभास्य है—इनका कोई दूसरा गवाह नहीं होता; और महाराज, यह जो आभासभास्य है, जिसमें बहुत सारी इन्द्रियाँ भी गवाह होती हैं और बहुतसे लोग भी गवाह होते हैं, ये दुनियादार लोग जिसकी उपासनामें लगे हैं वह ब्रह्म नहीं है।

नेदं यद् इदं उपासते लोकः तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि इदं न।

एकबार डाक्टर भगवान्‌दास एक महात्माके पास गये और बोले कि हमको यह प्रक्रिया बताओ कि 'अहं एतद् न'-मैं यह नहीं हूँ-यह जो भासता है सो मैं नहीं हूँ। महात्मा बोले कि ठीक है। यहसे मैंको अलग कर दो-यह विवेक हुआ। 'अहं एतद् न'-इसका नाम विवेक है-इसका नाम वेदान्तमें ज्ञान या अनुभव नहीं है, मैं यह नहीं हूँ कि तब मैं क्या हूँ? कि यह देश, यह काल, यह वस्तु-देश-काल-वस्तुके जितने भेद-विभेद-परिच्छेद सामान्य-वे जिसमें कल्पित हैं वह चिद् वस्तु मैं हूँ। तो मुझमें काल कल्पित होनेसे मैं अविनाशी हूँ, देश कल्पित होनेसे मैं परिपूर्ण हूँ और वस्तु कल्पित होनेसे मैं अद्वितीय हूँ-जो अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण आत्मचैतन्य है उसीका नाम ब्रह्म है, वही मैं हूँ।

× × ×

'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'-लोग काय-क्लेश-भयसे बोल देते हैं कि अब गंगाजी नहाने कौन जाये कि आओ इस गड्ढेको ही गंगाजी मान लें और इसीमें नहा लें; तो गंगाजी जानेमें एक मील चलना पड़ता और गड्ढेको गंगाजी मानकर नहानेमें काय क्लेश नहीं हुआ, तो काय-क्लेश-भयसे जैसे लोग गंगाजीका परित्याग कर देते हैं; आँच लगनेके भयसे होमको छोड़ देते हैं; इसी प्रकार दिमाग लगानेके भयसे लोग ब्रह्मको छोड़ देते हैं। बहुत लोग ऐसे हैं जो कहते हैं हाय-हाय, कौन इनके चक्करमें पड़े, कौन सोचे, कौन विचारे-ये लोग दिमागके कमजोर नहीं हैं, ये दिमागके आलसी हैं। क्योंकि जब वे रुपये-पैसेकी बात सोचते हैं, तब उनका दिमाग बड़ा जोरदार चलता है-किस आदमीकी जेबमें-से हम पैसा कैसे निकाल लें-इस बारेमें अक्ल बड़ी तेज चलती है। जैसे शरीरका आलसी कहेगा कि कौन नहाने जाये, आओ छींटा ही मारकर आजका काम चला लें, इसी प्रकार लोग सोचते हैं कि हमारी अक्लसे न सोचना पड़े, दूसरेकी अक्ल ही सब सोच लें। जो बेटा यह सोचता है कि हमको काम न करना पड़े, बापकी कमाईसे ही काम चल जाये, वह तो बेवकूफ है, पुरुषार्थ-हीन है। उनको अपनी अक्ल लगाकर कमाना चाहिए। इसी प्रकार यह परब्रह्म परमात्माका ज्ञान है, इसको बुद्धि लगाकर महावाक्यके आधारपर प्राप्त करना चाहिए। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'-यह

केनोपनिषद्‌का महावाक्य है। जो अन्य वस्तु अपनेमें आरोपित की गयी है उसको छोड़ो, तुम ज्ञेय नहीं हो, ज्ञान हो; तुम आकृति नहीं हो सत्य हो; तुम भोग्य और भोगके विषय नहीं हो, तुम सुख-स्वरूप हो। तो, यह जो कूड़ा-करकट अपने साथ आरोपित हुआ है उसको काटना बहुत जरूरी है।

अब देखो, अपनेको कैसे ढूँढ़ना कि–'यद्वाचानभ्युदितम्'-जिह्वाके पीछे बैठकर जो बोला जा रहा है, वह तो इन्द्रियोंसे देख-देख करके बोला जा रहा है-आँखसे देखा यह लाल है तो कह दिया लाल है, काला देखा तो कह दिया काला है, पीला है तो कह दिया पीला है-जिसमें जो गुण मालूम पड़ा वही कह दिया, यह गुलाबकी गन्ध है, यह चमेलीकी गन्ध है। कोई-कोई गन्ध-सौन्ध होते हैं, महीन-से-महीन गन्धको पकड़ करके निकाल लें कि काहेकी गन्ध है, तो उनकी नाक बड़ी तेज है यह बात माननी पड़ेगी; कोई स्वादमें बड़े निपुण होते हैं; कोई-कोई स्पर्श-सौन्ध होते हैं; स्पर्श-मात्रसे ही जान लेते हैं-अन्धे लोगोंका कान स्वरको पहचाननेमें बड़ा निपुण होता है, आवाज सुनते ही पहचान जायेंगे कि यह किसकी आवाज है।

इन्द्रियोंसे जो-जो बात दुनियामें मालूम पड़ती है या मनसे जो बात मालूम पड़ती है या साक्षीको जो बात मालूम पड़ती है वह बात वाणीसे कही जाती है-ज्ञातको ज्ञातके रूपमें और अज्ञातको अज्ञातके रूपमें निरूपण करनेके लिए यह वाणी होती है, लेकिन जो सबके पीछे बैठा हुआ सबको देख रहा है वह तो स्वयं होनेसे अज्ञात नहीं है और विषय न होनेसे ज्ञात नहीं है, तो ऐसा जो स्वयं प्रकाश आत्मतत्त्व है वाणी उसका कैसे वर्णन करे? क्रियासे वर्णन करे कि यह पाचक है, तो आत्मा पाचक नहीं, पाचककी तरह करता नहीं है। अच्छा, कि गुणसे वर्णन करे कि यह नील, शुक्ल, पीत है तो वह गुणवाला नहीं है; सम्बन्धसे वर्णन करे कि राजपुरुष है तो वह राजपुरुष नहीं है-कोई सम्बन्ध नहीं है किसीके साथ उसका। वह किसीमें व्यापक है कि यह सम्बन्ध भी नहीं है और उसका कोई व्याप्य है कि यह सम्बन्ध भी नहीं है-व्याप्य-व्यापक, कार्य-कारण, चित्त-चैत्य, आनन्द और भोक्ता और भोग्य ऐसा सम्बन्ध भी आत्माका किसी भी वस्तुके साथ नहीं है, न आत्माका किसीके साथ समवाय है; क्योंकि वह परिणामी नहीं है तो समवाय-सम्बन्ध

कहाँसे होगा? और न किसीके साथ संयोग है; क्योंकि चेतन-असङ्गका किसीके साथ संयोग ही नहीं होता है। किसी भी प्रकारका सम्बन्ध आत्म-तत्त्वका संसारकी किसी भी वस्तुके साथ नहीं है क्योंकि वस्तु हो तो सम्बन्ध हो-रज्जुमें कल्पित जो सर्प है उसका क्या सम्बन्ध है?

एक सज्जन कल पूछ रहे थे कि आधार-आधेयमें और अध्यस्त अधिष्ठानमें क्या फर्क है? तो अब देखो, कोई रस्सी हो और उसमें सचमुच साँप लिपटा हो तो सम्बन्ध होगा कि रस्सी आधार है और उसपर लिपटा हुआ साँप आधेय है। साँप सच्चा है तो उसको हटाना पड़ेगा। लेकिन, यदि साँपकी कल्पना हो गयी है रस्सीमें कि यह साँप है तो आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है, वह साँप अध्यस्त है और जिसमें अध्यस्त है वह रज्जु अधिष्ठान है-माने जहाँ सम्बन्ध काल्पनिक होता है वहाँ अधिष्ठान-अध्यस्त-भाव होता है। मिथ्या आधेयका जो आधार है उसको अधिष्ठान बोलते हैं। परन्तु जहाँ मृत्तिकामें घटकी आकृति है और घटमें जल भरा है वहाँ जल और घटका, जल और मृत्तिकाका आधार-आधेय भाव सम्बन्ध है तथा मृत्तिका और घटका अधिष्ठान अध्यस्त सम्बन्ध है। जहाँ चीज है ही नहीं और मालूम पड़ती है वहाँ अधिष्ठान और अध्यस्त सम्बन्ध होता है। तो यह जो इन्द्रियोंसे अनुभवमें आनेवाला और मन-बुद्धिसे अनुभवमें आनेवाला सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च है वह असलमें देश-काल-वस्तुके साक्षी अखण्ड आत्मामें अध्यासित काल्पनिक सम्बन्धसे ही है, क्योंकि जितनी बड़ी कल्पना है उतना बड़ा प्रपञ्च है और जितना बड़ा प्रपञ्च है उतनी बड़ी कल्पना है, कल्पना और प्रपञ्च दोनों एक हैं और इनका जो स्वयं प्रकाश अधिष्ठान साक्षी है वह अखण्ड वस्तु है।

वाणीके द्वारा जब हम ब्रह्मका वर्णन करेंगे तो जिसमें क्रिया नहीं, गुण नहीं, सम्बन्ध नहीं, जाति नहीं, रूढ़ि नहीं ऐसे ब्रह्ममें वाणीकी गति बिलकुल नहीं हो सकती है। अतः वाणीसे बोलकर ब्रह्मको नहीं बताया जा सकता– 'यद्वाचानभ्युदितम्'।

यह जो वक्ता है, इस वक्ताका जो प्रत्यक् (प्रत्यगात्मा) है उसका नाम ब्रह्म है।

परमात्माको कहाँ ढूँढ़े-'यह'में कि 'मैं' में? कर्मी लोग कहते हैं कि यहमें

परमात्माको ढूँढ़ों, यहमें परमात्माको जानो, यहमें परमात्माकी सेवा करो-इससे तुम्हारे व्यवहारकी शुद्धि होती है। उपासक लोग कहते हैं कि 'वह' में परमात्माको ढूँढ़ो, वहको परमात्मा जानो-वह कहीं सातवें आसमानमें छिपा हुआ है! वेदान्तका यह कहना है कि 'यह और वह' दोनों चीजें तब मालूम पड़ती है जब 'मैं' होवे; मैं न हो तो 'यह' और वह किसको मालूम पड़े? तो, किसको मैंको यह और वह दोनों मालूम पड़ते हैं उनमें मैंकी सत्ता ज्यादा बड़ी है और यह-वहकी सत्ता छोटी है–यह-यह-यह हजारों आते-जाते रहते हैं और वह-वह-वह हजारों कल्पना होती रहती है, लेकिन चाहे 'यह' की कोई भी कल्पना हो, चाहे 'वह' की कोई भी कल्पना हो उसमें 'मैं' जरूर रहेगा, क्योंकि कल्पनाका जो आधार है, कल्पनाका जो अधिष्ठान है वह 'मैं' है। तो, यदि परमात्माको ढूँढ़ना है तो 'यह' हमारे सामने मर जाता है उसमें क्या ढूँढ़ेंगे? और 'वह' की कल्पनाका हमारे सामने लोप हो जाता है उसमें परमात्माको क्या ढूढ़ोगे? परमात्माको ढूँढ़ना है तो कल्पित 'यह' में मत ढूँढ़ो, कल्पित 'वह' में मत ढूँढ़ो-जिसमें कल्पनाका उदय होता है उस 'मैं' में परमात्माको ढूँढ़ो! वह शाश्वत सत्य अकाल-परमात्मा, अदेश परमात्मा, अद्रव्य परमात्मा, अनन्य परमात्मा, अपने 'मैं'के भीतर मिलेगा। तो 'मैं'की जब पोल-पट्टी निकालेंगे कि आखिर तुम मैं किसको बोलते हो-देहको मैं बोलते हो, प्राणको मैं बोलते हो, मनको मैं बोलते हो, बुद्धिको मैं बोलते हो तब इन सबके साक्षीको मैंके रूपमें जानोगे। तो-'येन वाग् अभ्युद्यते'-जिसके होनेसे वाणी किसी अर्थ-विशेषका वर्णन करनेके लिए प्रवृत्त होती है, वही तुम्हारा मैं है।

अब देखो वाणी कभी 'क'का उच्चारण करती है-कभी अक्षर, 'अ'का उच्चारण करती है-असलमें एक ही अक्षर है–'अ' उसको जरा कण्ठका जोर लगाकर बोलते हैं तब वह क हो जाता है; उसीसे स्थान-प्रयत्नके भेदसे अ-आ-इ-ई-ये स्वर और क-ख-ग- आदि व्यञ्जन-ये सब निकल आते हैं। तो एक अक्षर है फिर अक्षरोंसे शब्द और पद बनते हैं और पदोंसे फिर वाक्य बनता है। तो यह जो हम कानसे ध्वनि सुनते हैं वह परमात्माका बोधक नहीं है-एकने कहा कि आओ ध्यान करें! क्या ध्यान करें? बोले-यह चीं-चीं-चीं जो शब्द सुनायी पड़ता है इसमेंसे परमात्मा निकलेगा! एकने कहाकि ओ अंग

शब्द हो रहा है कि रा-रंग शब्द हो रहा है उसमें-से परमात्मा निकलेगा। फिर बोलेकि यह सोहंकी बाँसुरी बज रही है! मांस पिण्डमें यहाँ त्रिपुटी है और यहाँ भ्रमर गुफा है और यहाँ सहस्रार है और यहाँ शून्य-मांस-शिखर है और यह अगम लोक है, यह अलख-लोक है—सब यहीं-हड्डी मांस-चामके भीतर है, इसमें जो ध्वनि होती है उस ध्वनिसे परमात्मा मिल जायेगा। तो किसीने कहा कि ध्वनिसे परमात्मा मिलेगा, किसीने कहा कि गुरुजी एक ऐसा शब्दका तीर मारेंगे कि वह कानमें घुसेगा और उससे परमात्मा मिल जायेगा। परन्तु नारायण! वेदान्त किसी ध्वनिसे या किसी शब्दके तीरसे परमात्माका मिलना बतानेके लिए नहीं है। वेदान्त वाक्य है, वह कोई पद नहीं है-वह कोई प्रथमान्त, द्वितीयान्त पद नहीं है, कि किसी शब्दके उच्चारणसे या श्रवणसे किसी ध्वनि-विशेषके श्रवणसे या उच्चारणसे आत्माका ज्ञान हो जाय। जो तत् और त्वम् पदार्थको ठीक-ठीक समझाकर उनकी एकताको बतानेवाला वाक्य होता है उससे अविद्या नष्ट होती है। ब्रह्मका प्रकाश नहीं होता-अविद्याका नाश होता है।

तो, यह महावाक्य है-'येन वागभ्युद्यते तत् त्वं ब्रह्म विद्धि नेदम्'। यह वाक् जिससे प्रेरित होती है, जिससे प्रकाशित होती है, उस प्रकाशक मैं पदके सच्चे अर्थमें परमात्माको ढूँढ़ो, असलमें मैं पदका सच्चा अर्थ परमात्मा है, ब्रह्म है। यह लखानेकी बात है, कोई पीठकी रीढ़ सीधी करके और आँख बन्द करके कई वर्ष तक बैठनेकी बात नहीं है; यह तत्काल, एक ही बारमें जैसे घड़ीको घड़ी बता दिया, समझ गये; फूलको फूल बता दिया, समझ गये; इस तरहसे अपने मैंको देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न बताने की है-और वह बताते ही समझ जानेकी बात है, आँख बन्द करनेकी, समाधि लगानेकी, कि शून्य-शिखरपर चढ़नेकी, कि पीठकी रीढ़का खम्भा गाड़कर उसपर चढ़ने-उतरनेकी, कि कुण्डलनी जगानेकी, यह बात नहीं है, यह शक्तिपातकी भी बात नहीं है, यह षट्चक्क्रके षड्यन्त्रमें पड़नेकी भी बात नहीं है। यह तो जैसे फूल वस्तु यह है, इसका नाम गुलाब है, इसी प्रकार जो तुम्हारा मैं है-असली मैं है वह ब्रह्म है-यह बतानेका जो महावाक्य है उसके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति होती है!

●

प्रवचन : 4.3

उपास्य इदं ब्रह्म नहीं है : 'नेदं यदिदमुपासते'

जो वाणीसे अभ्युदित नहीं होता, वाणी जिससे अभ्युदित होती है, उसीको तुम ब्रह्म जानो। इसको नहीं; जिस इसकी तुम उपासना कर रहे हो, उसको ब्रह्म मत जानो। जो वाणीके पीछे बैठा हुआ वक्ता है उसको ब्रह्म जानो।

इसमें मूल बात यह कही जा रही है कि जितना हमारा व्यवहार होता है वह इदं और अहं-यह और मैंसे होता है। आप विचार करके देखो-यह घड़ी, यह लाउडस्पीकर, यह स्त्री, यह पुरुष, यह पुस्तक-प्रत्येक दृश्यमान वस्तुके साथ हम 'यह' पदका प्रयोग करते हैं और जिसको यह मालूम पड़ता है, उसके लिए 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं। अब परमात्माको ढूँढ़ना है-मान लो, हमको 'यह'में परमात्मा ढूँढ़ना है–यह शालग्राम है, यह मन्दिरमें मूर्ति है, यह भगवान् है-तो हमारे सिद्धान्तकी दृष्टिसे इसमें कोई आपत्ति नहीं है, वह तो जो लोग अधकचरा वेदान्त समझते हैं उन्हींको इसमें आपत्ति मालूम पड़ती है। हम ऐसे भी सोच सकते हैं-यह भगवान्, यह भगवान्, यह भगवान् और हमने सम्पूर्ण वैष्णव-शाक्त-शैव, सौर-गाणपत्य सम्प्रदायोंके मूलमें, जड़में, प्रवेश करके इस बातका अनुसन्धान किया है कि जब यहको भगवान् मानोगे तो यह प्रधान होगा और मैं गौण होगा और मैंको यहकी सेवामें लगाना पड़ेगा। और यह कहो कि कभी पूरी तरहसे मैं मिट जायेगा तो मैं पदका अर्थ जो है वह कभी भासे भले नहीं परन्तु बना रहेगा; जब-जब 'यह' होगा तब-तब 'यह'को मालूम करनेवाला 'मैं' भी होगा। वह 'यह' किसको मालूम पड़ रहा है कि यह भगवान् है–हमारे सामने भगवान् शंकर प्रकट हुए–त्रिशूलधारी जटाजूट बाँधे, सिरपर गंगा, भालपर चन्द्रमा, गलेमें सर्प, मुण्डोंकी माला, मृगचर्म पहने हुए। बोले–यह भगवान् हैं साक्षात्। सिर झुकाया, हाथ जोड़ लिया; पर यह भगवान् हैं यह किसको मालूम पड़ता है? मैंको मालूम पड़ता है। बहुत अच्छा, हम यही कहते हैं कि हाँ, ये ही भगवान् हैं, अब तुम अपने आपको इनमें मिला दो, तो 'मैं'को छोड़कर तुम 'मैं'को नहीं मिला सकते, वह

यहको जाननेवाला जो मैं है, वह चाहे सुप्त रूपमें, चाहे जाग्रत् रूपमें, यहके साथ जुड़ा रहेगा, इसलिए हमने संसारके सम्पूर्ण सम्प्रदायोंको जो ईश्वरवादी हैं-उनसे मेल-मिलाप करके उनके सिद्धान्तको जाना। वे कहते हैं कि 'यह'-ईश्वर प्रधान है और 'मैं' गौण है-कि तब इसके लिए मुक्ति क्या है? कि मैंका यहमें समर्पित हो जाना-इसको भेद-सहिष्णु अभेद बोलते हैं-किञ्चित् यह और मैंका भेद बना रहेगा और मैंको भगवान्में मिला देंगे। यह बात निराकार और साकार दोनोंके लिए बराबर है क्योंकि यदि यह ईश्वरको निराकार भी मानें और उसमें अपने मैंको मिलावें तो वह मिलकर फिर निकल आवेगा-जो बात हमको बहुत अनुसन्धान करनेपर मालूम हुई वह बात आपको मैं बहुत सीधी-सादी भाषामें बता रहा हूँ-पहले हम स्वामी दयानन्दजी महाराजकी इस बातको सुनकर हँसते थे कि जब जीव निराकार ईश्वरसे मिल जायेगा, मुक्ति हो जायेगी तो मुक्ति होनेके बाद भी फिर उसका जन्म होगा। यह बात पहले बचपनमें सुनते थे तो हँसी आती थी कि क्या स्वामीजी इतना भी नहीं समझते थे कि मुक्ति होनेपर पुनर्जन्म नहीं हो सकता- देखो, बड़े होनेपर यह बात समझमें आयी कि स्वामीजी ने अपना जो सिद्धान्त स्थिर किया है वह बिलकुल ठीक है-जब ईश्वर 'मैं'से जुदा है, वह भले ही निराकार है, आकाशवत् है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, सर्वनियन्ता है अन्तर्यामी है, न्यायशील है, न्यायकारी है–तब जब मैं उसमें मिल गया तो अब मेरी मिलनेकी शक्ति ज्यादा कि मिलानेवाले ईश्वरकी शक्ति ज्यादा? बोले भाई, मिलनेवाले ईश्वरकी शक्ति ज्यादा! तो, वह जीवके कर्म बलके अनुसार अमुक समय पूरा होनेपर फिरसे संसारमें भेजनेमें समर्थ है। अस्तु।

अब जितने सगुण-साकारवादी हैं उनकी बात ले लें-'यह' ईश्वर 'मैं' जीव। तो हम पहले ऐसे सोचते थे कि जब जीव ईश्वरको (ईश्वरके लोकको) प्राप्त हो गया और उसका नाम मुक्ति रख दिया तब वहाँसे आवागमन क्या और अगर आना-जाना लगा ही रहा तो मुक्ति क्या हुई? लेकिन, जब उनके सिद्धान्तपर मैंने विचार किया कि वहाँ तो एक ऐसा राजा है जो जीवको अपने गाँवकी प्रजा बना लेता है-(सालोक्य मुक्ति) या अपनी वेश-भूषामें रहनेकी इजाजत दे देता है और बन्दोबस्त कर देता है (सारूप्य मुक्ति) या अपना जेवर

बना लेता है, माला बना लेता है, भौंरा बना लेता है-(सामीप्य मुक्ति) और अपने दिलके भीतर लेकरके स्वाद बना लेता है, रस बना लेता है–अपनेमें मिला लेता है-(सायुज्य मुक्ति) तब समझमें आया कि जो ईश्वर कृपा करके (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य) मुक्ति देगा उस ईश्वरमें देनेका सामर्थ्य है तो छीननेका सामर्थ्य भी मानना पड़ेगा। अगर छीननेका सामर्थ्य उसमें नहीं होगा तो फिर ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता ही क्या होगी? इसलिए अपने कर्मके बलपर या उपासनाके बलपर प्राप्त जो मुक्ति होती है वहाँसे भी लौटना पड़ता है। ईश्वरकी कृपासे प्राप्त जो मुक्ति होती है वहाँसे ईश्वरेच्छासे, अपने कर्मसे नहीं लौटना पड़ता है। स्वामी दयानन्द आदि जो कर्मसे मुक्ति मानते हैं उसमें तो अपने कर्मके अनुसार ही आना-जाना मानते हैं और वैष्णव लोग, शाक्त लोग, शैव लोग, गाणपत्य और सौर लोग जो सगुण-साकारकी कृपासे मुक्ति मानते हैं वे अपने मालिककी इच्छासे उससे लौटना भी मानते हैं। ईश्वर जब चाहे तब नारदजीसे कह दे कि तुम बैकुण्ठसे नीचे चले जाओ और यह काम कर आओ या जय-विजयसे कह दें कि तुम चलो और यह काम करो। 'यह'में जो 'मैं'का मिलना है वह आत्यन्तिक मिलना नहीं हो सकता, आत्यन्तिक एकत्व नहीं हो सकता क्योंकि अपने मैंका अभाव कभी अनुभवमें नहीं आ सकता। 'मैं' मिट गया ऐसा जिसको मालूम पड़ता है वही तो 'मैं' है! इसलिए ईश्वरको अपनेसे अन्य मानकर या ईश्वरको 'यह' मानकर या ईश्वरको निराकार मानकर या ईश्वरको साकार मानकर अपने मैंको जो आत्यन्तिक रूपसे ईश्वरमें मिलाना है वह नहीं हो सकता। कैवल्य मोक्ष जिसको बोलते हैं वह सम्भव नहीं है।

आपको यह भी सुना दें कि कैवल्य शब्दका प्रयोग उपासक-सम्प्रदायमें मुख्य-रूपसे नहीं होता है, वहाँ सायुज्य या भगवद्भावापत्ति शब्दका प्रयोग केवल दो सिद्धान्तमें होता है–एक तो योगमें और एक वेदान्तमें।

पहले योगकी बात बताते हैं। यह आत्मा जो है यह देहका द्रष्टा, इन्द्रियका द्रष्टा, प्राणका द्रष्टा, मनका द्रष्टा, बुद्धिका द्रष्टा, भूतका द्रष्टा, आनन्दका द्रष्टा–यह द्रष्टा है। अब सोचने लगे कि इसी तरह सब शरीरोंमें एक-एक द्रष्टा है। कि बहुत बढ़िया–मैं द्रष्टा साक्षी हूँ। हमारे एक महात्मा थे,

तो वे लोगोंको बैठाकर दो-दो घण्टे ध्यान कराते थे। कि तुम दृश्य नहीं हो, तुम द्रष्टा हो, तुम साक्षी हो-ऐसे ध्यान कराते थे। एक दिन मैं भी बैठा। मैं भी द्रष्टा-साक्षीका ध्यान करने लगा। तो, आसनपर बैठ गया। बिलकुल ठीक-यह मत समझना कि हम आसनके कच्चे हैं-हमारा आसन बहुत पक्का है, हम जब भागवतके सप्ताहमें बैठते हैं तो दो-दो, तीन-तीन, चार घण्टे एक ही आसनसे बैठे रहते हैं और वैसे अभ्यास कभी करते नहीं हैं-अपन तो-

सोवत-बैठत पड़े उताने, कहे कबीर हम वही ठिकाने।

तो मैं भी द्रष्टा-साक्षीका ध्यान करने बैठा-शामको सात बजे बैठा; अब साढ़े सात बज गये, साढ़े आठ बज गये, नौ बज गये, साढ़े दस बज गये, अब हमारा ध्यान न टूटे तो ध्यान करानेवाले भी बैठे रहे, शरीर शिथिल हो गया, हाथ हिलाये हिले नहीं, पाँव उठाये उठे नहीं, जबान खोले खुले नहीं-मैं तो द्रष्टा-साक्षी, मैं कोई कर्त्ता थोड़े ही था; तो जब होश-हवाश ठीक हुआ, उठे वहाँसे, तब उन्होंने पूछा कि आपको द्रष्टा-साक्षीका ध्यान कैसा लगा–वे हमारा बहुत आदर करते थे–बाहरसे पाँव छूते थे और भीतरसे ध्यान लगवाते थे, अभी ऐसे हमारे बहुत चेले हैं दुनियामें जो ध्यान लगवाते हैं, एकान्तमें आकर नीचे बैठते हैं, पाँव छूते हैं और दुनियामें ध्यान लगवाते हैं–तो नारायण-यह जो बात मैं बता रहा हूँ यह अबसे कोई बीस वर्ष पहलेकी है और राजस्थान-मारवाड़में एक जगह ऐसी घटना घटित हुई थी-तो उन्होंने पूछा कि आपको साक्षी-द्रष्टाका ध्यान कैसा लगा महाराज? तो मैंने कहा कि हमको ऐसा लगा कि हम अभ्यास कर रहे हैं कि हम देह नहीं हैं, हम इन्द्रिय नहीं हैं, हम प्राण नहीं है, हम मन नहीं हैं, हम बुद्धि नहीं हैं–हम इन सबके द्रष्टा हैं-एक द्रष्टाका भाव हमारे मनमें बना और मैं द्रष्टा हूँ-यह वृत्ति मेरे साथ लगी रही और इस वृत्तिका मैं कर्त्ता हूँ यह भ्रम भी बना रहा, क्योंकि जब द्रष्टा-साक्षीका ध्यान करके उठे तो वही-वही सररिया-ब्राह्मण, वही सरयूपारीण-ब्राह्मण, वही द्विवेदी, वही पण्डित! थोड़ी देरके लिए हमने यह भाव बना लिया कि मैं द्रष्टा साक्षी हूँ-तो मैं हूँ-यह अहंकार-युक्त वृत्ति हुई। तो बोले–वस्तुतः तुम इसके भी द्रष्टा-साक्षी हो।

अब आपको सुनाते हैं कि ऐसा अनुभव करनेका प्रत्येक व्यक्तिको

अपने-अपने हृदयमें अधिकार है। सब यह सोचें कि मैं द्रष्टा हूँ, मैं साक्षी हूँ-कि अच्छा, सोचो भाई। इसमें एक तो वृत्ति नहीं छूटी और दूसरे कर्तृत्व-जो वृत्तिका द्रष्टा-साक्षीके आकारमें कर्तृत्व है, वह नहीं छूटा और यह भ्रम बना रहा कि कर्त्ता प्रत्येक शरीरमें पृथक्-पृथक् होता है। बोले कि नहीं जी, हमने यह देखा कि कालका भी साक्षी मैं हूँ, देशका भी साक्षी मैं हूँ, वस्तुका भी साक्षी मैं हूँ! बोले-मैं-हूँ, मैं-हूँ-यह जो था–तो वह साक्षी तो था देश-काल वस्तुका कल्पनामें और तुम्हारा मैं था हृदयमें, तो वह साक्षीके विभु होनेपर भी परिच्छिन्न ही रहा। देखो-अब आपको योगका सिद्धान्त बताते हैं–योगका सिद्धान्त यही है कि यह जो द्रष्टा साक्षी है, यह विभु है, माने देशसे परिच्छिन्न (कटा हुआ) नहीं है, कालसे भी कटा हुआ नहीं है और वस्तुसे भी कटा हुआ नहीं है-प्रत्येक साक्षी, प्रत्येक द्रष्टा-जितने देह हैं उतने! मच्छरका द्रष्टा भी और गायका द्रष्टा भी और हाथीका द्रष्टा भी और सूअरका द्रष्टा भी और देवताका द्रष्टा भी और दानवका द्रष्टा भी–प्रत्येक द्रष्टा विभु है-यह योगका सिद्धान्त है। इस विभुत्वका अनुभव कब होता है कि जब वह चित्तवृत्तिका निरोध कर लेता है और उसको प्रपञ्चका भान नहीं होता है तब दूसरे द्रष्टाका भी भान नहीं होता है। निरुद्ध दशामें दूसरे शरीरका भी भान नहीं होता और दूसरे शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले द्रष्टाका भी भान नहीं होता और सब शरीरोंके कारण-रूपा प्रकृतिका भी भान नहीं होता। ये तीन-बात आप ध्यानमें रखो-कार्यका भान नहीं, कारणका भान नहीं और कार्य-कारणसे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे द्रष्टाका भी भान नहीं। इसलिए उस मतमें-मैं द्रष्टा हूँ-इस अनुभवका रूप क्या हुआ कि कार्यका भान नहीं, कारणका भान नहीं, दूसरे द्रष्टाका भान नहीं। इसलिए मैं केवल द्रष्टा हूँ; केवल द्रष्टा हूँ माने द्रष्टा जो है वह कैवल्य-रूप है, कैवल्य है; तो वृत्तिका निरोध होनेसे कार्य-विशेष, कारण-विशेष, द्रष्टा-विशेष-तीनोंकी वृत्तिका निरोध हो गया और द्रष्टा-साक्षी बना रहा, उसको अनुभव यह होता है कि इतने काल तक मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं रही-निरोध कालमें, तो वस्तुतः मैं कैवल्य हूँ-यह योग-दर्शनका सिद्धान्त है कि आत्मा द्रष्टा है, आत्मा साक्षी है, आत्मा कैवल्य है–योग और वेदान्तके सिवाय दूसरे लोग तो कैवल्यका नाम नहीं लेते। आपको हम यह बता देते है-जीवन्मुक्ति भी

वेदान्तके अलावा दूसरा कोई सिद्धान्त नहीं मानता, योग-दर्शन भी नहीं मानता; और तो और कैवल्यवादी योग-दर्शन भी जीवन्मुक्ति नहीं मानता; उसमें भी जबतक जीओ तबतक समाधि लगाओ। उपासनासिद्धान्तमें जबतक जीओ उपासना करो। कर्म-सिद्धान्तमें जबतक जीओ कर्म करो। वेदान्त-दर्शनमें आप्रायणम्-सूत्र है—प्रायणम् माने प्रयाणम् जबतक महाप्रयाण न हो जाये, जबतक मर न जायें तबतक अपनी वृत्तिको वैसी बनाते रहो-यह सिद्धान्त है।

अब आपको वेदान्तकी बात सुनाते हैं—अभान-दशामें केवल कैवल्य और भान-दशामें वृत्त्यवस्थान-वृत्ति, सारूप्य-निरोधकालमें द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होता है 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' और 'वृत्तिसारूप्यं इतरत्र'। जब वृत्तिका विक्षेप होता है तब जैसी-जैसी वृत्ति होती है वह द्रष्टा भी उस वृत्तिके साथ खेलता रहता है—वृत्ति कर्त्ता बन जाये तो द्रष्टा भी कर्त्ता-सरीखा भासता है और वृत्ति भोक्ता बन जाये तो साक्षी भी भोक्ता-सरीखा भासता है। जो लोग शास्त्रकी पद्धति और प्रक्रियाको नहीं जानते हैं वे या तो योगकी समाधिमें या ध्यानमें द्रष्टाको बताते हैं और या तो शून्यताका ध्यान करवाते हैं। तो शून्यताका भी साक्षी होता है-यह बात भी ठीक है। शून्यताका भी द्रष्टा होता है और द्रष्टा-भाव जो है वह अन्तःकरणकी एक वृत्ति है और उस वृत्तिका वह होता है कर्त्ता और भाव बनाओगे तो बनेगा और छोड़ दोगे तो छूट जायेगा; और द्रष्टाकी जगह यदि अपनेको कर्त्ताभाव बनाने लगो तो कर्त्ता-भाव भी बन जायेगा, क्योंकि वहाँ तुम स्वतंत्र हो। दुनियाके किसी नाममें और किसी रूपमें आसक्ति न हो—'न क्वचित् प्रतिष्ठितं चित्तं उत्पादनीयम्'—यह बौद्ध सन्तका वचन है। इस चित्तको कहीं इज्जत मत बनाने दो, कहीं प्रतिष्ठा प्राप्त मत करने दो, कहीं स्थिति प्राप्त मत करने दो; किसीके साथ चिपकाओ मत, जोड़ो मत-चित्तको असंग रहने दो। इस चित्तमें राग-द्वेषका जो नहीं होना है, जो इसका कहीं नहीं चिपकना है-यह जो इसकी असंगता है, यह ध्यान है। यह तो जैसा सुनते हैं उससे उल्टा हुआ न!

रमण-महर्षिसे मैंने पूछा कि ध्यान किसका करें? बोले कि यह प्रश्न कौन करता है? कि मैं, कि तुम कौन? कि मैं जिज्ञासु। जिज्ञासु क्या? कि

जिसको ज्ञानकी इच्छा है। बोले कि जिसको इच्छा है, उसका ध्यान करो। किसको इच्छा है कि वह तो मैं ही हूँ, उसका ध्यान क्या करूँ? फिर बोले कि 'ध्यान क्या करूँ'–यही सबसे बड़ा ध्यान है। ध्यान कट गया, ध्यानका अपवाद हो गया।

अच्छा लो, अब एक तीसरी बात और सुना देता हूँ इस प्रसङ्गमें। यह उपनिषद्की व्याख्या बड़ी विलक्षण है। यह तो बताया ही है इसमें कि असलमें ज्ञान कैसे प्राप्त होता है। दुनियामें ज्ञान प्राप्त करानेका और कोई तरीका नहीं है। यह कहते हैं कि-

न तत्र वाग्गच्छति न मनो गच्छति न विद्मः।

आत्मामें कान नहीं जा सकता, मन नहीं जा सकता, वाणी नहीं जा सकती, बुद्धि नहीं जा सकती, आँख नहीं जा सकती-बोले कि तब तो ज्ञान नहीं हो सकता! कि नहीं हो सकता है-बिना करणके ही ज्ञान हो सकता है। माने इन करणोंसे जो ज्ञान होता है उसकी आशा छोड़ो और इन करणोंसे ज्ञान होगा इंसकी भी आशा छोड़ो-एक बार श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे मैंने पूछा कि किसका ध्यान करना? तो बोले-अपना। मैंने पूछा कि क्या इस शरीरका ध्यान करें–यह पालथी मारकर, ऐसे हाथ करके, ऐसे बैठेका ध्यान करें? बोले-करो, कोई परवाह नहीं है! मैंने कहा कि तब तो मैं ध्यान करते-करते-करते देह ही हो जाऊँगा! बोले कि नहीं, देहसे अलग हो जाओगे-जिसका ध्यान किया जाता है वह मुझसे अलग है इसकी स्पष्ट प्रतिपत्ति होगी। उपादेय बुद्धिसे ध्यान करोगे तब तो आसक्ति होगी और हेय बुद्धिसे ध्यान करोगे तो वैराग्य होगा और तटस्थ दृष्टिसे देखो तो कभी दिखेगा कभी नहीं दिखेगा, तो मालूम पड़ेगा कि अगर देह मैं होता तो कभी दिखना और कभी न दिखना कैसे होता? देखना ही अपना स्वरूप है, दीखना अपना स्वरूप नहीं है, ध्येय अपना स्वरूप नहीं है! यह जो ध्याता है, वह ध्यान-विशिष्ट अहं वृत्ति है। देखो, आपको यह बात सुनाते हैं–माया-विशिष्टका नाम ईश्वर है और वृत्ति-विशिष्टका नाम जीव है–विशेषणांश जहाँ है वहाँ जीवत्व और ईश्वरत्व है और उपहितत्व जो है वह साक्षी है। विशेषणसे जीव ईश्वर होता है और उपाधिसे साक्षी होता है; और साक्षीको ब्रह्म महावाक्य बताते हैं; और साक्षी ब्रह्म है यह

बोध होनेपर उपाधि बाधित हो जाती है माने मिथ्या हो जाती है, प्रतीति मात्र हो जाती है। कुल इतनी-सी बात है कि माया विशिष्टत्व ईश्वरत्व है। कि अच्छा तो यह कहो कि ईश्वर भी बाधित हो गया? कि नहीं, ईश्वर बाधित नहीं हुआ, उसमें उपाधि अंश ही बाधित हुआ-ईश्वर तो साक्षी है, चैतन्य है! कि जीव बाधित हो गया? कि नहीं जीव भी बाधित नहीं हुआ, केवल उपाधि-अंश ही बाधित हुआ, केवल विशेषणांश ही बाधित हुआ-चिदंशमें बाधकी पहुँच नहीं है-चेतन बाधित नहीं होता। तो ईश्वर सच है आत्माके रूपमें, जीव सच है आत्माके रूपमें, ब्रह्म सच है आत्माके रूपमें और आत्मा और ब्रह्मके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

ध्यानकी तीन पद्धति मैंने आपको सुनायी-द्रष्टाका ध्यान, असंगताका ध्यान और जिज्ञासुके देहका ध्यान-ज्ञानकी इच्छा जिसको है, देखो वह कौन है? बोले कि हम साक्षी हैं, हम द्रष्टा हैं—यदि देहका भी ध्यान करोगे तो हम देहके साक्षी देहमें बिलकुल न्यारे हैं। इसीको तो वेदान्ती लोग ब्रह्मके रूपमें जानते हैं। बोले कि एक विदित है और एक अविदित। दो चीज तुम्हारे सामने हैं-एक जानी हुई और एक अज्ञानी और तीसरा बताओ कोई! बोले—तीसरे हम हैं। तो बोले कि तुम जाने हुएसे भी न्यारे हो और अज्ञानेसे भी न्यारे हो, ज्ञानसे भी न्यारे हो; विद्यासे भी न्यारे हो और अविद्यासे भी न्यारे हो—विदित हुआ विद्याका विषय और अविदित हुआ जो विद्याका विषय नहीं है—अज्ञान है, अचेतन है—उसको जड़ भी कह सकते हैं-जड़ है, अप्रकाश है, अचेतन है अन्धकार है—दोनोंसे न्यारे तुम! यह काल जो है वह विदित-अविदितको काटता है--बाहरकी चीजोंको, विदितको, काल काटता है वृत्तिके द्वारा और अविदितको काल काटता है वृत्तिकी अविषयताके द्वारा। और वृत्तिके विषय-देश और अन्तर्देशमें अन्तर्देश और बहिर्देश हो जाता है और वस्तु जो है वह अन्तर और बहिर हो जाती है; और साक्षी जो है वह स्वयंप्रकाश है-तो यह ठीक है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा आत्माका ज्ञान नहीं कराया जा सकता-यह बिलकुल ठीक है—परन्तु, उसके ज्ञान करानेकी पद्धति क्या है कि विदित और अविदितका अपवाद, विदित और अविदितका निषेध, विदित और अविदितसे अपने स्वरूपका विवेक-वृत्तिकी शान्ति नहीं! शान्त बैठे रहोगे तो

अज्ञान भी बेफिक्र रहेगा; क्योंकि शान्तिसे अज्ञान नहीं कटता है-दुश्मनको मारनेके लिए शान्ति नहीं चाहिए उसके लिए तलवार चलाना होता है-वेदान्तकी यह बात योगसे न्यारी है। योग कहता है कि ठहरो, रहने दो अज्ञान-फज्ञानको, तुम अपने द्रष्टा-स्वरूपमें बैठ जाओ–शान्ति-शान्ति-शान्ति! वेदान्त कहता है–शान्ति-वान्तिसे मत बैठो यह फिर तुमको घसीट लेगा; इसलिए ऐसी तलवार मारो कि इसका सत्यानाश हो जाये। योग और वेदान्तका यह मतभेद है। पर आजकल तो लोग जो सुनते हैं उसीको वेदान्त मान लेते हैं। कोई व्याख्यान सुना और उसमें साकारका जरा खण्डन हुआ तो बोले–हाँ-हाँ वेदान्त है-और यदि भक्तिका खण्डन हुआ तब तो फिर पूछना ही क्या है? साकारके खण्डनका नाम वेदान्त नहीं है, समाधिका नाम वेदान्त नहीं है, शान्तिका नाम वेदान्त नहीं है, द्रष्टा-भावमें स्थित होनेका नाम बेदान्त नहीं है, विश्रामका नाम वेदान्त नहीं है, शून्यताका नाम वेदान्त नहीं है-यह शून्याकार वृत्तिको जो तुम परमार्थ समझते हो यह अज्ञान है; शान्ति-वृत्तिको जो तुम परमार्थ समझते हो यह अज्ञान है, आने-जानेवाली वृत्तिको वेदान्त समझते हो यह अज्ञान है–वेदान्त तो वह ज्ञान है, वह तलवार है, वह ज्ञानासि है जो अज्ञानको काट देती है, फिर उसके बाद यह कहनेका नहीं है कि 'अहं आत्मानं न जानामि'–मैं अपने-आपको नहीं जानता; कि 'अहं आत्मानं ब्रह्म न जानामि'-मैं अपने आपको ब्रह्म नहीं जानता यह कहनेको नहीं है। आप तो जानते ही हो कि हम व्यक्तित्वकी स्थापना करनेके लिए वेदान्त नहीं सुनाते हैं, शंकराचार्यजी जिस वेदान्तका निरूपण करते हैं, उसमें व्यक्ति और अव्यक्त दोनोंका खण्डन है, वह तो अपना स्वरूप है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके यहाँ एक उनके प्रेमी भक्त रहते थे, उनका नाम पल्टू बाबा था। पन्द्रह-बीस वर्ष रहे और सबसे आगे बैठते-कोई भी सभा हो वे सबसे आगे बिलकुल बाबाके सामने ही आसन बाँधकर बैठते, अच्छे पुरुष थे। उड़िया बाबाजीका शरीर जब पूरा हुआ तब वे रोवें-बहुत रोवें-बहुत दुःखी, बहुत दुःखी। एक दिन उनको सपना आया और सपनामें उड़िया बाबा प्रकट हुए और उनसे बोले कि मैंने तुमको पन्द्रह वर्षतक यह समझाया कि मैं शरीर नहीं हूँ ब्रह्म हूँ और तुम शरीर नहीं हो ब्रह्म हो और मैं और तुम दोनों

एक हैं, और अब तुम जिन्दा हो और हमको मरा समझते हो? असलमें, शिष्यकी आत्मा ही गुरुकी आत्मा है। जो अखण्ड-ब्रह्म नारायण हैं, जो अखण्ड-ब्रह्म ब्रह्मा हैं, जो अखण्ड-ब्रह्म सनकादि हैं, जो अखण्ड-ब्रह्म गौड़पादादि हैं, जो अखण्ड-ब्रह्म शंकराचार्यादि हैं वही ब्रह्म मैं हूँ–इस ज्ञानमें यदि अन्तर होगा तो वह अन्तर ही अज्ञान होगा; और अपने ब्रह्म-स्वरूपमें यह प्रपंच न कभी था, न है और न होगा–यह बिलकुल प्रातीतिक है, इसमें शंकाका स्थान ही कहाँ है?

आत्मा इन्द्रियोंका विषय नहीं, मनका विषय नहीं, बुद्धिका विषय नहीं-यह सब तो व्याकृत हैं। व्याकृत हैं माने विशेष आकारवाले हैं-बुद्धि भी विशेष आकृतिवाली होती है, मन भी विशेष आकारवाला होता है–शक्ल-सूरत होती है मनकी भी, जो उसमें हैं; बुद्धिकी भी शक्ल-सूरत होती है जो उसमें है, इन्द्रियोंकी भी शक्ल-सूरत है जो उसमें है–यह सब व्याकृत है; और जहाँ कोई शक्ल-सूरत नहीं है, मसालेकी तरह है वह अव्याकृत है; और इन दोनोंसे पृथक् है अर्थात् दोनोंको जाननेवाला आत्मा है। वह कौन है? बोले कि उसीकी सत्तासे सब सत्तावान हैं, उसीके प्रकाशसे सब प्रकाशवान हैं, उसीके सुखसे सब सुख है।

जो अन्य होता है उसका ज्ञान होना और पाना अलग-अलग होता है–किताबको जानना और किताबको पाना दो चीज हैं–किताबको आप जानते हैं कि यह किताब है, पर क्या आप किताबको पा गये? लेकर जाना चाहेंगे तो हम रोक देंगे। क्यों रोकेंगे? कि हमारी है, तुम्हारी थोड़े ही है? किताबको जाननेसे आप किताबको पा नहीं सकते, लेकिन, अपने आपको जानते ही अपने-आपको पा जायेंगे, क्योंकि वह दूसरा नहीं है! अपने आपको जानते ही आप अपने-आपको पा जायेंगे। दूसरेमें और अपनेमें फर्क होता है। दूसरेको जानेंगे-सोनाको जानेंगे तो उसको पानेके लिए हाथसे उठाना पड़ेगा, अपने आपको जानेंगे तो क्या हाथसे उठाना पड़ेगा? अपनेको जाननेके बाद कुछ पाना भी नहीं है और करना भी नहीं है कुछ। प्राप्ति और कृति-दोनोंसे आत्यन्तिक मुक्ति होती है अपने आपको जाननेमें। दूसरा कोई हो तो उससे राग-द्वेष हो, चूँकि दूसरा कोई है ही नहीं इसलिए राग-द्वेष भी निवृत्त हो गया,

इसलिए ज्ञान ही जीवन्मुक्ति है! प्रयासका नाम जीवन्मुक्ति है? प्रयासका नाम जीवन्मुक्ति नहीं है।

× × ×

वेदान्तका सिद्धान्त माने उपनिषद्का सिद्धान्त जिसका व्याख्यान श्री शङ्कराचार्य भगवान्ने किया है। यह नहीं कि श्रीशङ्कराचार्य वेदान्तके प्रवर्तक हैं, प्रवर्तक नहीं हैं, श्रीशङ्कराचार्य भगवान्के पहले गोविन्दपाद भगवान्को यह बात मालूम थी, गोविन्दपाद भगवान्के पहले गौड़पाद भगवान्को भी यह बात मालूम थी, उसके पहले शुकदेवको मालूम थी, व्यासको मालूम थी। यह तो कुतर्कके द्वारा जो लोग इसको केवल विश्वास बता रहे थे, केवल कल्पना की उड़ान बता रहे थे, उनके तर्कवितर्कको खण्डन करनेके लिए श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने युक्ति दी- केवल युक्तियोंका उत्थान उन्होंने किया, वस्तुतः सिद्धान्त तो वही है जिसका उपनिषद्में प्रतिपादन है।

जिस सिद्धान्तका उल्लेख वेदान्तमें प्राप्त होता है वह योगियोंके कैवल्यसे विलक्षण है, वह 'मैं द्रष्टा हूँ' इससे भी विलक्षण है, 'मैं साक्षी हूँ' इससे भी विलक्षण है क्योंकि ये जितनी वृत्तियाँ हैं, ये बनायी, बिगाड़ी, बदली और छोड़ी जा सकती हैं। वेदान्त-सिद्धान्त वस्तु-तन्त्र होता है, कर्तृ-तन्त्र नहीं। 'वस्तुतन्त्रो भवेद् बोधः कर्तृतन्त्रं उपासनम्'-भगवान् शङ्कराचार्यने ब्रह्मसूत्रमें 'तत्तु समन्वयात्'-समन्वय अधिकरणके भाष्यमें यह प्रसङ्ग उठाया कि यह जो तुम वृत्ति दोहराते हो तो वृत्तिको दोहरानेवाला कर्त्ता तो बना ही रहेगा, इसमें कर्तृत्वका नाश कहाँसे होगा? यदि कहो कि जब वृत्ति शान्त हो जायेगी तब कर्तृत्वका नाश हो जायेगा; तो फिर जब वृत्ति उठेगी तो फिर कर्तृत्व आ जायेगा–चाहे कर्मका कर्तृत्व हो, चाहे उपासनाका कर्तृत्व हो?

मैंने प्रारम्भमें यह बात की थी कि यदि 'यह ईश्वर है' ऐसी उपासना करोगे तो उस 'यह'को प्रधानता देनी पड़ेगी और 'मैं'को गौण करना पड़ेगा, तो 'मैं'को ले जाकर चाहे 'यह'के लोकमें प्रजा बनाओ और चाहे उसके सरीखी वेश-भूषा धारण करके पार्षद बनो और चाहे उसका वस्त्राभूषण बन करके उसके विशेषण बन जाओ–सामीप्य हो जाये और चाहे उसके साथ एक हो जाओ और चाहे 'यह'से अधिकार प्राप्त कर लो–ब्रह्मा आदि बन जाओ

और चाहे उसके सेवक बन जाओ, परन्तु उपासना शास्त्रका सिद्धान्त है कि 'यह'के अन्दर यदि कोई भगवान्का अनुसन्धान करेगा तो उसे 'मैं'को गौण बनाना पड़ेगा और 'यह'को प्रधान बनाना पड़ेगा-यहाँ तक कि निराकार ईश्वरको भी यदि प्रधान बनाओगे तो मुक्ति होनेपर भी उसकी मुट्ठीमें ही तुमको रहना पड़ेगा और वह जहाँ चाहेगा वहाँ तुमको भेज देगा-जब चाहेगा तब जन्म देगा, जब चाहेगा तब मृत्यु देगा; जहाँ चाहे वहाँ भेजेगा, जब चाहेगा तब सुलावेगा, जब चाहेगा तब जगावेगा।

अब आओ 'यह'को गौण करके 'मैं'की ही बात क्यों न की जाये- 'यह'को गौण कर दो और 'मैं'को प्रधान। तो 'मैं'के बिना तो 'यह' नहीं रह सकता, लेकिन, 'यह'के बिना 'मैं' रह सकता है-यह विवेककी प्रणाली है। आप देखो, 'मैं'के बिना 'यह' जड़ हो जायेगा, बेहोश हो जायेगा और 'यह'के बिना 'मैं'के अभावका दर्शन करेगा कि यह नहीं है। देखो, रामू आया और गया और मैंने यह देखा; सोहन-मोहन आये और गये–मैंने देखा–उनका आना-जाना दोनों देखा; वे आते-जाते हैं और मैं चौराहेपर खड़ा रहकर स्थिर होकरके उनको देख रहा हूँ। तो सम्पूर्ण-विषयोंका आना-जाना, इन्द्रियोंका आना-जाना, प्राणका आना-जाना, मन-बुद्धिका आना-जाना सब देख रहा हूँ। अब देखो, मनबुद्धिका सोना! आप विचार करके देखो कि तुम सोते हो कि बुद्धि सोती है? जब तुम कहते हो कि मैं सो गया था, तो तुम सो गये थे यह जानते भी हो और तुम सो भी गये थे–दोनों बातें कैसे सत्य हो सकती हैं? असलमें हो गया वर्णसंकर–बुद्धि और मैं दोनोंको एकमें मिला दिया गया। तो मैं जानता हूँ कि मैं सो गया था, मैंने देखा है कि मैं सो गया था-इस अनुभवमें मैंका तो धर्म हुआ–देखना, जानना और बुद्धिका धर्म हुआ–सोना और कल्पित दाम्पत्य-धर्मका पालन करनेके लिए ये दोनों सोये तो बुद्धि अब जगकरके आत्माका जागना तो अपनेमें ले रही है कि मैंने सोना देखा-और आत्मा बुद्धिका धर्म अपनेमें ले रहा है कि मैं सो गया था-इसीको बोलते हैं- अध्यास। अध्यास माने दूसरेके गुण-धर्मको अपने ऊपर आरोपित कर लेना और अपने गुण-धर्मको दूसरेके ऊपर आरोपित कर देना। जैसे रज्जुकी लम्बाई और मोटाई साँपमें चली गयी और साँपका फण उठाना, फुफकारना,

और जीभ-लपलपाना रज्जुमें चला गया-सर्पके गुण-धर्मका अध्यास रज्जुमें हो गया और रज्जुके गुण-धर्मका अध्यास सर्पमें हो गया; यह अन्योन्याध्यास हो गया।

अच्छा, अब आपको वेदान्तकी एक विशेष बात सुनाता हूँ। यह जो ख्याल है ख्याल देशमें प्रपञ्च है तावत्-देशमें चैतन्य है और यावत् देशमें अन्तःकरण है तावत् देशमें चैतन्य है, वह गलत ख्याल है। ईश्वरचैतन्य कितना बड़ा? बोले-जितना बड़ा देश-जितनी दूरमें यह लम्बाई-चौड़ाई ऊपर-नीचे–यह देश फैला हुआ है उतनी दूरमें तो ईश्वर होगा ही होगा! अच्छा! कितनी उम्र चैतन्यकी? कि जितनी उम्र कालकी। कितनी उम्र ईश्वरकी? कि जितनी उम्र प्रकृतिकी। तो यावत् काल, यावत् देश, यावत् वस्तुका बीज तावत् ईश्वर। और नारायण, यह जितनी दूरमें देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, कर्त्ता-भोक्ता, सुषुप्ति, आनन्दमय कोष, अविद्या तावत् मैं। असलमें यह जो उपाधियाँ हैं देश-काल-वस्तुकी और वृत्ति-अन्तःकरण और अविद्याकी, यह मोटे स्तरपर हैं और चैतन्य जो है, वह जो देहमें है वही प्रपञ्चमें है। क्योंकि देश-काल-वस्तु और वृत्ति और उसकी शान्तिका जो प्रकाशक है वह उपाधिकी परिच्छिन्नतासे परिच्छिन्न नहीं हो सकता।

किसीने मुझसे प्रश्न किया था-उपाधि किसको बोलते हैं-घड़ेकी उपाधिसे आकाश गोल-गोल पेटकी तरह मालूम पड़ता है-और बाँसुरीमें आकाश लम्बा मालूम पड़ता है लेकिन, आकाश न लम्बा है और न गोल है–घड़ेके भीतर जो पोल है सो गोल है और बाँसुरीके भीतर जो पोल है सो लम्बी है, लेकिन, आकाश न गोल है न लम्बा है। तो इसी प्रकार यह जो कर्त्ता-भोक्ता मैं है यह अन्तःकरणकी उपाधिके कारण है और जो साक्षी-चैतन्य है वह आकाश है। यह देश-काल-वस्तुकी जो समष्टि है सो उपाधि है और उसमें जो चैतन्य है वह ईश्वर है। व्यष्टि-उपाधिमें जो चैतन्यमें व्यष्टि-रूपता भासती है वह व्यष्टि उपाधिके कारण है और समष्टि-उपाधिमें जो चैतन्यमें समष्टि-रूपता भासती है वह समष्टि उपाधिके कारण है। अब यदि चैतन्यके सूक्ष्मतम रूपको आप समझनेकी कोशिश करो तो वेदान्त यह बताता है कि–'तत् त्वं असि'–जो समष्टिकी उपाधिसे है वही व्यष्टिकी

उपाधिसे है-जो पिण्डेश्वर है वही ब्रह्माण्डेश्वर है। और यदि उपाधिको हटा दो तो पिण्डेश्वर नहीं है शुद्ध चैतन्य है; और जो ब्रह्माण्डके अन्दर चैतन्य भासता है ब्रह्माण्डकी उपाधिसे, ब्रह्माण्डकी उपाधिसे ब्रह्माण्डेश्वर है परन्तु ब्रह्माण्डकी उपाधि न हो तो, चैतन्य इस शरीरमें है वही ब्रह्माण्डमें है। और फिर कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी बीजभूत जो प्रधान है, प्रकृति है, माया है, जो प्रपंचके भावानुकूल शक्तिसे अवच्छिन्न चैतन्य है वह भी वही चैतन्य है। असलमें यह उपाधि जिसमें नहीं है उसको बोलते हैं ब्रह्म। पिण्डकी उपाधि भी नहीं, ब्रह्माण्डकी उपाधि भी नहीं और ब्रह्माण्ड-कोटिकी बीजभूता जो प्रकृति है, माया है, अविद्या है उसकी उपाधि भी नहीं। तो उपाधिके साथ उसका नाम होता है, जीव, ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ, ईश्वर। देखो, उपाधिके जागरणकालमें तैजस, जीवका नाम है और उपाधिके सुषुप्तिकालमें प्राज्ञ चैतन्यका नाम है और इसी प्रकार ब्रह्माण्ड उपाधिके सृजनकालमें चैतन्यका नाम है ब्रह्मा और पालन-कालमें उसका नाम है विष्णु और संहारकालमें उसका नाम है रुद्र; और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी समष्टि-भूता जो बीजप्रकृति है-बीज प्रकृति-उसमें बीज-कालमें नाम है 'ईश्वर' और अंकुर-कालमें नाम है 'हिरण्यगर्भ' और फल-कालमें उसका नाम है 'विराट्'। एक ही चैतन्यका नाम है वही स्थूलकी उपाधिसे विराट् है सूक्ष्मकी उपाधिसे हिरण्यगर्भ है और कारणकी उपाधिसे ईश्वर है और चैतन्य एक है। यह अपना आत्मा ही स्थूल शरीरकी उपाधिसे विश्व है, सूक्ष्म-शरीरकी उपाधिसे तैजस है, कारण-शरीरकी उपाधिसे प्राज्ञ है और निरुपाधि-रूपसे यह तुरीय है। तुरीय दोनोंका नाम है, जो हिरण्यगर्भ और ईश्वरसे विलक्षण शुद्ध-चैतन्य है उसका नाम तुरीय और जो तैजस और प्राज्ञसे विलक्षण शुद्ध-चैतन्य है उसका नाम भी तुरीय-दोनोंका नाम तुरीय है। तो यहाँ उपाधिका भेद होनेपर भी तुरीय-तुरीयकी एकता बतानेके लिए वेदान्त-शास्त्रकी प्रवृत्ति हुई है। तो, यह जितना है वह सारा-का-सारा औपाधिक है, वृत्ति होवे तो यह भासे और वृत्ति न होवे तो यह न भासे-यहका भासना और न भासना-दोनों वृत्ति-सापेक्ष है और वृत्तिका जो साक्षी है उसको साक्षी बतानेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति नहीं हुई है, उसको ब्रह्म बतानेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति हुई है। वेदान्त-

दर्शनके प्रथम-सूत्रके भाष्यपर व्याख्या करते हुए, वाचस्पति मिश्र भामतीकार कहते हैं कि 'मैं हूँ' यह बात सिद्ध करनेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति नहीं है- वेदान्तकी प्रवृत्ति जो चीज स्पष्ट होती है उसको बतानेके लिए नहीं होती है। जब हम विचारके द्वारा अथवा निरोधके द्वारा अथवा विवेकके द्वारा हम यह जान सकते हैं कि हमारी सत्ता जो है वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-तीनोंमें एक सरीखी रहती है-यह बात हम जान सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं कि जाग्रत् गया। स्वप्न आया, स्वप्न गया सुषुप्ति आयी, सुषुप्ति गयी जाग्रत् आया, जाग्रत् गया स्वप्न आया- इन तीनोंके जाने-आनेमें मैं एक-जब यह बात हम विवेकके द्वारा, विचारके द्वारा, निरोधके द्वारा जान सकते हैं तो यह बतानेके लिए अपौरुषेय वेद-वेदान्तकी प्रवृत्तिकी कोई आवश्यकता नहीं है, यह तो स्वतः सिद्ध है–अपने आप ही बालक, पामर, वृद्ध-सबको यह बिना वेदान्तके अनुभव हो सकता है। वेदान्त यह बतानेके लिए है कि यह जो तुम हो-तुम्हारा जो अहं है-जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके बदलनेपर भी नहीं बदलता, यह जो तुम्हारा तुरीय अहं है-जाग्रत्के अहं विश्वसे विलक्षण, स्वप्नके अहं तैजससे विलक्षण, सुषुप्तिके अहं प्राज्ञसे विलक्षण-यह जो तुम्हारा तुरीय तत्त्व है, यह तुरीय तत्त्व किसी भी व्यष्टि-समष्टि उपाधिके द्वारा परिच्छिन्न नहीं है, आक्रान्त नहीं है, तुम विशिष्ट नहीं हो और तुम उपहित नहीं हो, तुम शुद्ध ब्रह्म हो और तुम्हारे शुद्ध ब्रह्म-स्वरूपमें द्वैतकी किञ्चित् भी सत्ता ही नहीं है–एकमेवाद्वितीयम्–यह तुम 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व हो यह बतानेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति है।

अब जरा 'ब्रह्म' शब्दपर ध्यान दें–'तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'-ब्रह्म शब्दपर ध्यान दो-पिण्डेश्वरका नाम ब्रह्म हो सकता है? इस पिण्डमें जो कण-कण है-क्षण-क्षण बदलनेवाले, आपसमें विलक्षण-जो कण हैं उनका नाम ब्रह्म हो सकता है? और छोटेसे शरीरमें अभिमान धारण करके जो मैं बैठा है उसका नाम ब्रह्म हो सकता है? अच्छा, जो सम्पूर्ण-विश्वमें ब्रह्माण्डेश्वर है, जो पृथ्वीश्वर है, जलेश्वर है, अग्नि-ईश्वर है, पवनेश्वर है, आकाशेश्वर है–उसका नाम ब्रह्म हो सकता है? वे सब तो परिच्छिन्न उपाधियाँ हैं। कि अच्छा, अहंकारेश्वर है, महदीश्वर है, प्रकृति-ईश्वर है–उनका

नाम ब्रह्म हो सकता है? कि नहीं, जहाँ सीमित करनेवाली कोई भी रेखा खींची जा सकती है कि दाएँ तुम और बाएँ हम और ऊपर तुम और नीचे हम और बाहर तुम और भीतर हम-उसको क्या ब्रह्म बोल सकते हैं? कि इतने समयसे पहले प्राग्-ऐतिहासिक कालमें ब्रह्म और ऐतिहासिक कालमें प्रकृति-बोले नारायण! कालसे जो चीज काटी जा सकती है उसका नाम क्या ब्रह्म हो सकता है? लाल-ब्रह्म, काला-ब्रह्म, पीला-ब्रह्म, नीला-ब्रह्म, छोटा-ब्रह्म, बड़ा-ब्रह्म–जो भी सीमा बनानेवाली रेखाएँ हैं, वे, उनके अन्दर आनेवाली चीजका नाम ब्रह्म नहीं होता-सम्पूर्ण रेखाओंको काट देनेपर जो अद्वैत सत्य है–वह भी अपनेसे अलग नहीं, वह ब्रह्म है। ब्रह्म यदि अपनेसे अलग होगा तो वह जड़ होगा, दृश्य होगा, परिच्छिन्न होगा-और उससे अलग हम होंगे तो हम भी परिच्छिन्न होंगे, कटे-पिटे उपाधिवाले होंगे; तो दोनोंकी परिच्छिन्नताका बाध करनेके बाद जो दोनोंका ऐक्य है वह बतानेके लिए तत्त्वमस्यादि महावाक्योंकी प्रवृत्ति है। ब्रह्म शब्दका प्रयोग उस अपरिच्छिन्न तत्त्वके प्रकाशनके लिए होता है। अपने प्रत्यक्को, अपने आत्माको इसी द्रष्टा और साक्षीको अद्वितीय ब्रह्म बतानेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति होती है-वहाँ पिण्डेश्वर कहनेसे काम नहीं चलता, वहाँ ब्रह्माण्डेश्वर कहनेसे काम नहीं चलता, प्रधानेश्वर कहनेसे काम नहीं चलता, वहाँ अपनी जो मनोवृत्तियाँ खेलती रहती हैं वे जिससे खेलती हैं वह बतानेसे काम नहीं चलता, जिसकी छायामें खेलती रहती हैं वह बतानेसे काम नहीं चलता, साक्षीकी छायामें खेलती हैं और विषयसे-दिव्य विषयसे खेलती हैं–पारलौकिक विषयसे खेलती हैं, लौकिक विषयसे खेलती हैं उनको ब्रह्म नहीं बोलते, यह ब्रह्म शब्द जो है यह निरतिशय बृहत्-बृहत्-जिससे बड़ा और कोई न हो–देशसे बड़ा, कालसे बड़ा, वस्तुसे बड़ा, मैंसे बड़ा, यहसे बड़ा, वहसे बड़ा-जिसके बड़प्पनमें सारे भेद खत्म हो जाते हैं उसके लिए ब्रह्म शब्दका प्रयोग होता है!

●

प्रवचन : 4.4

आत्मा ही ब्रह्म है : 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'

बात तो सब तरहसे कही जाती है कि सब ब्रह्म है, सबसे परे ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ, तू ब्रह्म है-जिसमें मैं तू दोनों नहीं है वह ब्रह्म है-लेकिन, समझनेके लिए सूक्ष्म-बुद्धिकी, सूक्ष्म दृष्टिकी आवश्यकता है। तरह-तरहकी बातें श्रुतिमें सुननेमें आती है-अन्नं ब्रह्म=अन्न ब्रह्म है; प्राणो ब्रह्म=प्राण ब्रह्म है; 'मनो ब्रह्म'=मन ब्रह्म है; 'विज्ञानं ब्रह्म'=विज्ञान ब्रह्म है, 'आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्'-आनन्द ब्रह्म है-तो यदि मनुष्य विचारशील नहीं होगा, सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्न नहीं होगा या तो जो सुनेगा, जो कोई उसको बता देगा कि यह ब्रह्म है उसीको ब्रह्म मान लेगा और या तो तरह-तरहके ब्रह्मोंका वर्णन सुनकर वह ब्रह्म-राक्षसके पंजेमें फँस जायेगा।

कठोपनिषद्का वचन है–

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्म्या सूक्ष्मदर्शिभिः। (1.3.12)

परमात्माका दर्शन, अनुभव करनेके लिए सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धिकी आवश्यकता है; यह नहीं कहा कि वह बुद्धिका विषय होता है। पर यह समझो कि वह बुद्धिका विषय नहीं होता है, यह समझनेके लिए भी बड़ी बुद्धि चाहिए। और फिर बोले कि बुद्धिका विषय तो नहीं होता है सो बात एक,बुद्धि जिस अपने आपका विषय हो रही है उसका भी विषय नहीं होता। स्वयं है। स्वयंतामें बुद्धि भी काम नहीं देती और स्वयंतामें स्वयं भी अपना दृश्य नहीं बना सकता। तो महापुरुष लोग निषेधके द्वारा निरूपण करते हैं।

देखो, श्रुति ऐसा भी बोलती हैं–

मनसैवेदमाप्तव्यम् (कठ. 2.1.11)

मनसे ही परमात्माको पाना। बोले भाई, मनसे कैसे परमात्माको प्राप्त करें? कि

नेह नानास्ति किञ्चन। (कठ. 2.1.11)

इस कार्य-कारणात्मक प्रपञ्चमें नाना नामकी कुछ भी वस्तु नहीं है, तो मन तो नानात्वपर ही दौड़ता है-नाना वस्तुको पकड़नेवाला जो चेतन है

उसीका नाम मन है और नाना वस्तुसे मुक्त जो चिन्मात्र है वही परमात्मा है। वह परमात्मा देशके नानात्व, कालके नानात्व, वस्तुके नानात्व और देश-काल-वस्तुके नानात्वसे मुक्त चिन्मात्र वस्तु है। काल नाना होता है रात-दिन वगैरह; देश नाना होता है बाहर-भीतर वगैरह; वस्तु नाना होती है, घट-पट वगैरह और फिर देश-काल-वस्तु आपसमें भी नाना है। तो देशमें जो नाना है बाहर-भीतर, पूरब-पश्चिम उसको छोड़ो; कालमें जो नाना है भूत-भविष्य-वर्तमान उसको छोड़ो; वस्तुमें जो नाना है घट-पट-मठ, तू-मैं आदि कि इनको छोड़ो और फिर वस्तु-काल-देश अलग-अलग हैं इसको भी छोड़ो-'नेह नानास्ति किञ्चन'-नाना नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। अच्छा छोड़ दिया सब नानात्व, तो अब यह रहा शुद्ध चिन्मात्र! महावाक्य इस चिन्मात्रको ब्रह्म बताते हैं; महावाक्य कहते हैं कि यही अपरिच्छिन्न अखण्ड सत्य है। तो निषेधमुख और विधिमुख-दोनों तरहसे वर्णन वेदान्तमें आता है! इसलिए जब कोई इसको अपनी अक्कलका विषय बनाना चाहता है तब उसको भी काट देते हैं-न विद्मः-बुद्धिकी पहुँच वहाँ नहीं है, मनकी भी पहुँच वहाँतक नहीं है।

किसीने कहा-हाँ महाराज, हम समझ गये, हमने जान लिया कि ब्रह्म क्या है। बोले-कि नहीं बेटा, जैसे घड़ेको आँख देखकर और मनसे समझकर बोलते हैं कि यह घड़ा है, मैंने घड़ेको जान लिया ऐसे यदि कोई कहे कि मैंने ब्रह्मको जान लिया तो वह बिलकुल बेकार बोलता है-'विज्ञातम् अविज्ञानताम्'। जिसने दावा किया कि मैंने ब्रह्मको जान लिया उसका यह दावा ही झूठा है, क्योंकि ब्रह्म कोई अन्य थोड़े ही है कि जाना जायेगा या कि स्वयंमें कोई जाननेवाली वृत्ति थोड़े ही है कि कोई उसका अभिमानी होगा? तो यह ज्ञान-अज्ञान दोनों व्यक्तिमें कल्पित हैं-मनकी जो व्यक्ति है उसमें कल्पित है और परमात्मा आत्मा अपना स्वरूप जो है उसमें मन और बुद्धिका प्रवेश बिलकुल नहीं है। तो, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं'–उसको तुम ब्रह्म समझो। किसको? कि जो बैखरी वाणी, मध्यमा वाणी, पश्यन्ती वाणी और परावाणी–इनके द्वारा बोला नहीं जाता, बल्कि ये चारों वाणियाँ ही यह वाग्वृत्ति ही जिसके द्वारा प्रकाशित होती हैं–देश-काल-वस्तु-सब वाणीके द्वारा

प्रकाशित होते हैं और वाणी स्थूलसे सूक्ष्म, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, फिर और सूक्ष्म होती है उसको जो प्रकाशित कर रहा है सो ब्रह्म है-

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।

तदेव उसको ही 'एव' शब्दका अर्थ है 'ही'; दूसरे किसीको ब्रह्म मत समझना। जहाँ दिखे दूसरा और मानना पड़े दूसरा वहाँ हम उपासनाकी कोटिमें होते हैं। जैसे देखो, स्नान तो कर रहे हैं नर्मदाजीमें और मानेंगे कि हम गंगाजीमें स्नान कर रहे हैं; तो यह गंगाकी उपासना हुई नर्मदामें गंगा-बुद्धिका नाम उपासना है; दिख तो रहा है छोटा-सा-शालग्राम और उसको मानते हैं चतुर्भुज नारायण-हाथ नहीं, पाँव नहीं, सिर नहीं, गदा नहीं, चक्र नहीं, शङ्ख नहीं और बोले सब हैं इसमें, इसीको उपासना बोलते हैं–दिखे अन्य और उसको निमित्त बनाकर बुद्धि बनायी जाय अन्य। बोले भाई, बाल्टीमें पानी और छू दिया हाथसे। बोले– *'गंगे च, जमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेस्मिन् सन्निधिं कुरु।'* यह नदियोंका स्मरण करके उपासना हुई। बाहरसे बाल्टीका पानी नलमें-से निकला और भीतरसे सातों नदी उसमें मौजूद हैं– इसका नाम उपासना होता है। प्रत्यक्षके द्वारा परोक्षमें बुद्धिको ले जाना–इसका नाम उपासना; अन्यके द्वारा अन्यमें बुद्धि ले जाना-उपासना है। देखते हैं-रासमें लड़के नाचते हैं, उनका कुल मालूम हैं, गोत्र मालूम है, नाम मालूम है, तनख्वाह मालूम है, जब वे रोते हैं तब मालूम है, जब उनको रासधारी पीटता है–पीट-पीटकर सिखाता है सो मालूम है और वे उतरनेके बाद खेती करेंगे सो मालूम है-बिलकुल निकम्मे होंगे, कोई काम-धन्धा उनके नहीं होगा-यह भी मालूम हैं, लेकिन उनको देखकरके अपने हृदयमें कृष्णाकार-वृत्ति बनाना इसका नाम उपासना है; झूठके द्वारा सत्यको प्राप्त करनेकी रीतिका नाम उपासना है; अन्यके द्वारा अन्यकी प्राप्तिकी जो रीति है उसका नाम उपासना है; प्रत्यक्षके द्वारा परोक्षको प्राप्त करनेकी जो रीति है सो उपासना है; स्थूलके द्वारा सूक्ष्मको प्राप्त करनेकी जो रीति है उसका नाम उपासना है, एक अंगको छूकर अङ्गीको पहचान लेनेकी रीतिका नाम उपासना है।

कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसको आप अपनेसे अलग पूर्ण देख लें– आपसे अलग कोई वस्तु होगी तो वह पूर्ण होगा? आप ही उसको अधूरा कर

रहे हैं और आप किसीसे अलग होंगे तो वह पूर्ण होगी? आप खुद ही उसको काट रहे हैं। आखिर परमात्माके बारेमें आपका क्या ख्याल है? आप उसको मच्छर समझते हैं, खटमल समझते हैं? बोले-उसने सृष्टि बनायी है। तो जितनी देर सृष्टि बनायेगा उतनी ही देर रहेगा! कि वह सृष्टिको पालता है। तो अच्छा, जितनी देर सृष्टिको पालता है उतनी ही देर रहेगा! कि अच्छा, संहार करता है। तो जितनी देर संहार करता है उतनी ही देर रहेगा! कि तीनों करता है तो जितनी देर तीनों करता है उतनी ही देर रहेगा। कर्मकी उपाधिसे तो ये प्रधान-मन्त्री होते हैं, राष्ट्रपति होते हैं-पाँच वर्षके लिए चुन दिये गये और उस पदपर बैठकर उन्होंने वह काम किया और फिर उतार दिये गये। ये पदारूढ़, सत्तारूढ़ जो लोग होते हैं वे चढ़ते और उतरते रहते हैं। क्या ईश्वर भी कर्मकी उपाधिसे चढ़ता-उतरता है? तो नहीं, ईश्वरके बारेमें जरा दृष्टि सूक्ष्म रखनी पड़ती है।

बोले-अन्न ब्रह्म है। अन्न ब्रह्म है तो अन्नको खानेवाला क्या है? बोले-वह भी ब्रह्म है, दोनों ब्रह्म हैं। कि तब क्या दो ब्रह्म हैं? कि नहीं दोनों एक हैं, दो होगा तो ब्रह्म कैसे होगा? बोले कि फिर अन्नमें अन्नपना नहीं रहेगा और खानेमें खानेवालापना नहीं रहेगा तब ब्रह्म होगा न? माने अन्नमें भोग्यता और आत्मामें भोक्तापन-ये दोनों जब कटेंगे तब एकता होगी; जबतक अन्न भोग्य है और आत्मा भोक्ता है तबतक दो ब्रह्म एक हो नहीं सकते और भोग्यपना बिना भोक्ताके और भोक्तापना बिना भोग्यके हो नहीं सकता; भोक्ता और भोग्य दोनों सापेक्ष हैं। तो भोग्यको ब्रह्म मानकर जो बैठा सो भी गलत और भोक्ताको ब्रह्म मान करके जो बैठा सो भी गलत। भोग्य इदं है और भोक्ता अहं है और इदं-अहं दोनोंका जो अधिष्ठान स्वयं प्रकाश प्रकाशक है उसका नाम ब्रह्म है-ऐसे।

बोले-कि अच्छा भाई, प्राण ब्रह्म है। तो प्राण माने क्या? जो साँस बाहर आती-जाती है सो? कि जो शरीरमें क्रियाशक्तिको देनेवाला है सो? वह तो देहको उपाधिसे परिच्छिन्न है, आने-जानेवाला है, चलने-फिरनेवाला है, बेचारा मजदूरी करता रहता है और तनख्वाह लेते रहता है-क्या इसका नाम ब्रह्म है? शरीरमें मजदूरी करना प्राणका काम है और जो हम खाते हैं, पीते

हैं उसकी मजदूरी लेना-यह प्राणका काम है। बोलेकि अच्छा भाई, मन ब्रह्म है? कि अरे, मन ब्रह्म काहेका है, यह तो क्लर्क है, भीतर बुद्धिमें जो मैनेजर बैठा हुआ है वह इस क्लर्कको जैसा हुक्म देता है वैसा यह करता है। कि तब बुद्धि ब्रह्म है। कि बुद्धि तो कभी-कभी छुट्टी भी ले लेती है-किसी-किसीकी बुद्धि उस आदमीको छोड़कर चली जाती है-कभी-कभी बुद्धि तलाक भी दे देती है और कभी बुद्धि छुट्टी भी ले लेती है, नहीं तो आदमी पागल कैसे होवे? तो यह बुद्धि ब्रह्म कैसे होगी? एक आफिस चलता है शरीरमें-उसमें यह बुद्धि हेड-क्लर्क है–मालिक नहीं है, मैनेजर है–इसको मानका ज्वर है इसलिए मान ज्वर है–मैनेजर है! बड़ा भारी अभिमान है इसे कि यह ब्रह्म है? मगर यह व्यक्तिकृत बुद्धि एक आफिसकी संचालिका है और समष्टिकृत बुद्धि जो है वह 'मदर' है–कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी वह 'मदर' है और पिताजी जो हैं अभी उनका तो पता ही नहीं है–बिना पिताके ही यह माता सारी सृष्टि दिखाती है, जादूका खेल खेलती है, इसलिए यह बड़ी जादूगरनी है–*'माया महा ठगिनि हम जानी'*–यह जादूगरनी है तबतक जबतक यह खेल दीखता है। यह ब्रह्म नहीं है। 'नेदं यदिदमुपासते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'–जहाँ 'यह' और 'यह'का भेद जिसमें नहीं है; 'यह' और 'वह'का भेद जिसमें नहीं हैं, 'वह' और 'मैं'का भेद जिसमें नहीं है 'मैं' और 'मैं'का भेद जिसमें नहीं हैं, 'मैं' और 'यह' का भेद जिसमें नहीं है वह ब्रह्म है। भेद होगा तो ब्रह्म कैसा?

कहते हैं–हमको तो बड़ा सुख मिला, बड़ी शान्ति मिली। कैसे कि जरा सोकर आ गये! उस समय यह, वह, मैं कुछ नहीं था, बस ब्रह्म था। अरे भाई, नींदका दुश्मन तो नींदके बाहर खड़ा है–यदि तुम ऐसी स्थितिमें पहुँच जाओ कि यहका भान न हो, वहका भान न हो, मैंका भान न हो, तो उस अभानके साक्षीके रूपमें तुम रहे या नहीं रहे? उस अभानका नाम योगदर्शनमें स्वरूप-शून्य है–जैसे कुछ न हो ऐसी स्थिति-वह सूनापना कि अरे, वहाँ भी तुम अकेले नहीं हो–एक तुम हो और एक सूनापन है; बाबा-दो तो हैं। एक आदमी बड़े भारी रेगिस्तानके मैदानमें अकेला खड़ा बोले–मैं अकेला हूँ। और यह मैदान है सो? यह बालू है सो? और यह रोशनी है सो? तो यह अकेलापन झूठा है, क्योंकि इस अकेलेपनमें पूर्णता नहीं है! जो इस

अकेलेपनके टूटनेके बाद-इस अभानके बाद जो भान होगा वह क्या है? तो बोले कि उससे हमारा क्या मतलब? तो मतलबी यार! तुम सचको जाननेके लिए चले थे-सत्यके जिज्ञासु थे, अब कहते हो कि उससे हमारा क्या मतलब? जो विचारसे कतराते हैं वे बुद्धिके निर्बल होते हैं, उनमें विचार-शक्ति नहीं होती है, वे सत्यके जिज्ञासु भी नहीं हैं! क्यों नहीं तुम इस बातको समझ लेते कि केवल अभान-दशाका जो साक्षी है सो तुम हो और यह जो भान हो रहा है यह क्या है? तो, वेदान्त सिखाता है 'जन्माद्यस्य यतः।' सारे दृश्यमान प्रपंचके कारणपनेका आरोप ब्रह्ममें कर दिया। अब क्योंकि ब्रह्मके स्वरूपमें कारणत्वकी योग्यता नहीं है और सारा-का-सारा प्रपंच अभानमें-से ही निकला है और अभान अपने अधिष्ठानसे जुदा नहीं होता, तो ऐक्य होनेपर यह सम्पूर्ण प्रपंच अपने आपसे जुदा नहीं होगा। इसलिए देखो अन्तर क्या पड़ता है सो आपको सुनाता हूँ-यदि केवल अभानके साक्षीको ही तुम अपना-आपा मानोगे, तो यह भी उपासना है। यदि अभानके साक्षीको ही तुम अपना आपा मानोगे तो भान होनेपर तुम्हारा दुश्मन निकल आया और तब तुम जीवन्मुक्त नहीं हो सकते। भासित वस्तुके बारेमें जैसी वासना तुम्हें पहले थी वैसी फिर हो जायेगी, जिससे द्वेष था उससे द्वेष हो जायेगा, जिससे राग था उससे राग हो जायेगा और अभान जो है वह अधिष्ठानमें आरोपित है, अध्यस्त है, इसलिए ब्रह्मसे जुदा अभान नहीं है। देशमें भी अभान होता है-अन्तर्देशमें अभान होता है, कालमें भी अभान होता है और समाधि कालमें भी अभान होता है और एक वस्तुमें चित्तके तन्मय हो जानेपर भी अभान होता है। तो यदि कहीं भी पिण्डमें, ब्रह्माण्डमें या मायामें अभान होनेके कारण तुमने अपने आपको ब्रह्म मान लिया, अपने आपको कि इस अभानका मैं साक्षी हूँ ऐसा जान लिया तो असलमें भेदका ही ज्ञान हुआ। एक तो पूर्णका ज्ञान नहीं हुआ, अद्वितीयका ज्ञान नहीं हुआ-अद्वितीयताका अज्ञान होनेसे अज्ञान रहा; और दूसरी बात हुई कि जीवन्मुक्ति नहीं होगी! जो अपनेसे अन्य भासेगा फिर उसके प्रति राग-द्वेष रहेगा। राग-द्वेष बना रहनेसे जीवन्मुक्ति नहीं होगी और जीवन्मुक्ति न होनेसे, राग-द्वेष होनेसे, सुख-दुःखका जो द्वन्द्व है वह नहीं छूटेगा और सुख-दुःखका द्वन्द्व न छूटनेसे उनके लिए जो प्रयत्न है वह भी

नहीं छूटेगा। तो राग-द्वेष रहेगा, सुख-दुःखका द्वन्द्व रहेगा और तुम थोड़ी देरतक पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठ जाओगे आँखके बीचमें कोई रोशनी देख लोगे या देख लोगे कि थोड़ी देर प्रपंचका भान नहीं होता है और थोड़ी देर किसी भावनामें मगन रह लोगे और फिर उठोगे तो वही-की-वही दुनिया और वही-का-वही बखेड़ा!

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।
मनोरथान् प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोति तत्क्षणात्।।

(अष्टावक्र. 18.75)

अष्टावक्रजी महाराज कहते हैं कि जब ये मूर्ख लोग समाधिसे उठते हैं तो मूर्ख और कर लिया समाधिमें सृष्टिका अभान, तो उनको यह नहीं भासता कि मैंने जो समाधि लगायी सो भी एक कर्म है। और समाधिकी जो स्थिति हुई वह भी एक देशमें अन्तर्देशमें है और एक कालमें है और मनकी एक स्थिति है, वह मैं नहीं हूँ। तो, जब वे उसको छोड़कर बाहर विक्षेप में आवेंगे तो क्या होगा कि,

मनोरथान् प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोति तत्क्षणात्।

वह तुरन्त मनोरथ करने लगेंगे और तुरन्त प्रलाप करने लगेंगे और अभिमान यह होगा कि हम तो ब्रह्म हैं, ब्रह्मको देखकर आये हैं! अरे! जिसमें दुनिया नहीं भास रही थी वह अज्ञान था-अज्ञानमें ब्रह्म-बुद्धि करके लौटेंगे! जिसमें समाधि भी भासती है औप प्रपञ्च भी भासता है वह ज्ञान-स्वरूप आत्मा है और जिससे केवल समाधि भासती है और दुनिया नहीं भासती, प्रपञ्च नहीं भासता वह तो कल्पित ज्ञान है।

नेदं-नेदं अनात्मा ब्रह्म न भवति तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि।

उस सर्वावभासक स्वयंप्रकाश प्रत्यक्चैतन्यको तुम ब्रह्म अर्थात् देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेद-शून्य, अद्वितीय समझो-'नेदं यदिदमुपासते-यद् इदं इदं इदं उपासते-लोकाः'-ये मूर्ख लोग जिसके बारेमें यह कहा करते हैं कि यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है-यह मैंने देख लिया समाधिमें, यह ब्रह्म रहा, यह मैंने देख लिया ध्यानमें-यह ब्रह्म रहा; जिसको ये यह ब्रह्म, यह ब्रह्म करके लौटते हैं-वह ब्रह्म नहीं है।

'यद्-इदं इति उपासते लोकाः'-यह उपात्ते नहीं है, उपास्ते नहीं हैं, उपासते नहीं है, उपासते अन्य पुरुषकी बहुवचन क्रिया है। तो यह जो दुनियाके अज्ञान लोग, अविवेकी लोग, अविचारी लोग जिस-जिसको ब्रह्म मान करके उपासना करते हैं-वह ब्रह्म नहीं है। किसीने एक चीज रख ली-बोले यह ब्रह्म है; किसीने वह चीज हटा दी- बोले यह हटा दिया सो ब्रह्म है; तो जिसको रख लिया सो भी ब्रह्म नहीं है और जिसको हटा लिया सो भी ब्रह्म नहीं हैं; जो चीज रखी गयी उसको जाननेवाला भी ब्रह्म है। और जो चीज हटाई गयी उसको जाननेवाला भी ब्रह्म है। असलमें ब्रह्ममें रखनेकी क्रिया नहीं है और रखनेवाली चीज नहीं है और हटानेवाली चीज नहीं है, वह अद्वितीय है-यह बात ध्यान देनेकी है। तुमने वस्तुका रखना देखा और उसका हटना देखा, परन्तु वह भावाभाव देखनेपर भी तुमने अपनेको ब्रह्म नहीं जाना, अब हम तुमको 'तत्त्वमसि' महावाक्यसे जो तुम शेष रहे गये हो, भावाभावके साक्षी, उस साक्षीको हम यह बोध करा रहे हैं कि तुम ब्रह्म हो, तुम्हारे अज्ञानको मिटा रहे हैं-साक्षी होनेपर भी अज्ञानता बनी हुई है, क्योंकि साक्षीको भी लोग अलग-अलग मैंके रूपमें जानते हैं–हम ध्यानी हैं, हम ज्ञानी हैं, हम साक्षी हैं, हम इससे जुदा हैं-साक्षीमें जो भिन्नत्व, भिन्नत्वका संस्कार है कि मैं साक्ष्यसे, भाव-अभावसे जुदा हूँ यह संस्कार साक्षीके स्वरूपके अज्ञानके कारण है-मैं किसीसे अलग हूँ। इसीका नाम तो भेद है? बोले–साक्षी होने पर मैं किसीसे अलग हूँ–यह वृत्ति कैसे मिटेगी? तो, जब साक्षीको ब्रह्म जानेंगे तब मुझसे अलग कोई है या मैं किसीसे अलग हूँ–यह वृत्ति बाधित हो जायेगी। इसलिए साक्षी-ज्ञान अभीष्ट नहीं है साक्षीका ब्रह्मत्व-ज्ञान अभीष्ट है–यह वेदान्तका सिद्धान्त है। योगका सिद्धान्त है-द्रष्टा होना, साक्षी होना-वेदान्तका नहीं। हमसे भी कोई योगकी बात पूछे तो हम भी उसको ऐसे ही बतावेंगे लेकिन उस द्रष्टाका ब्रह्म बताना यह वेदान्तका खास काम है।

योगमें अभानका साक्षी होता है, सांख्यमें भान-अभान दोनोंका साक्षी होता है-विविक्त है-आप ध्यान देना–योगमें जब निरुद्धवृत्ति है तब द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित है। चित्त-वृत्ति-निरोधमें-चित्ताभाव नहीं है, वृत्तिका निरोध है, चित्त तो ज्यों-का-त्यों है 'योगःचित्तवृत्ति निरोधः'–चित्त-निरोधका नाम

योग नहीं है चित्तके व्यवहारके निरोधका नाम योग है–'योगः चित्तवृत्ति-निरोधः'में चित्त-पिण्ड जो है, चित्तसत्त्व जो है, वह ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। उस वृत्ति-व्यवहारसे शून्य चित्तका जो द्रष्टा है उसको द्रष्टा बोलते हैं। सांख्ययोग कहता है कि बाबा, चित्त चाहे व्यवहार करे और चाहे न करे, विवेककी दृष्टिसे देख लो द्रष्टा तो असङ्ग है।

अब वेदान्त बताता है कि देखो इस तरह जो हजार शरीरमें हजार द्रष्टा मालूम पड़ते हैं-बोले-ऐ, तुम कर्त्ता हो हम द्रष्टा हैं; जब आदमी बोलता है। न कि ए-ए, तुम पापी हो, हम द्रष्टा हैं, कि तुम पुण्यात्मा हो हम द्रष्टा हैं; तुम सुखी हो हम द्रष्टा हैं; तुम दुःखी हो हम द्रष्टा हैं-यह दूसरेको पापी-पुण्यात्मा बनाना, दूसरेको सुखी-दुःखी बनाना, दूसरेको रागी-द्वेषी बनाना और स्वयं द्रष्टा होना-तो यह द्वैत-ज्ञान है कि अद्वैतज्ञान है? इसका नाम द्वैत-ज्ञान है। सांख्यने कहा कि चाहे कुछ भी भासे आत्मा तो विविक्त है, चेतन है, द्रष्टा है और जो कुछ दीखता है वह सब-का-सब प्रकृतिका विलास है, कहीं भी राग-संस्पृष्ट और द्वेष-संस्पृष्ट नहीं होना-यह प्रकृतिका जो परिणाम है। राग-द्वेष-उसमें अपनेको कहीं रागी-द्वेषी नहीं मानना-'रागोपहतिध्यानम्'-अपने विविक्त आत्मस्वरूपसे दोनोंके द्रष्टा रहो। वेदान्तियोंने कहा कि बाबा, द्वैत ही नहीं है, निरोधमें और अनिरोधमें क्या फर्क? असलमें अपना आत्मा जो है वह ब्रह्म है। तो–

'जीवभेदो जगत् सत्यं ईशोऽन्यः' जीव अलग-अलग है यह भेद छोड़ दो; और जगत् सत्य है यह बुद्धि छोड़ दो; ईश्वर हमसे अन्य कोई परोक्ष सत्ता है यह भ्रान्तिके तीन रूप-जगत् सच्चा है, जीव बहुत-से हैं और ईश्वर कोई अन्य है। इन तीनों रूपोंको काटनेवाला ज्ञान कौन-सा है कि मैं अखण्ड ब्रह्म हूँ यह ज्ञान इन तीनों भ्रान्तियोंको बाधित करता है। यह अखण्ड ज्ञान कैसे होता है? कि आप देखो–

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।

लोग जिसकी इदंके रूपमें उपासना करते हैं–'इदं न' यह ब्रह्म नहीं है। कि तब? 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'–जो प्रत्यक्चैतन्य है उसीको तुम ब्रह्म समझो-'येन वागभ्युद्यते'–जो चतुर्विध वाणीका प्रेरक, चतुर्विध वाक् वृत्तिका जो

प्रकाशक है प्रत्यक्-चैतन्य आत्मा उसको तुम ब्रह्म जानो, उसको अद्वितीय जानो, उसको अखण्ड जानो। यह वेदान्तका सिद्धान्त है, वेदान्तकी वाणी है। उपनिषद्को ही वेदान्त बोलते हैं और जो इस सिद्धान्तको समझावे किसी भी भाषामें भले समझावे, उसमें भाषाका भेद नहीं हैं-अंग्रेजीमें समझावे, फारसीमें समझावे, अरबीमें समझावे, सिन्धीमें, गुजरातीमें, मराठीमें, तमिलमें-किसी भी भाषामें समझावे-जो यह समझावे कि आत्मा ब्रह्म है और इसके सिवाय कोई भी ज्ञात-अज्ञात नहीं है, इसके सिवाय न जगत् है, न जीव है, न ईश्वर है–यह जो अपना आत्मा है यही अखण्ड ब्रह्म हैं-यह ज्ञान देनेवाली विद्याका नाम वेदान्त है–वेदान्त 'ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'–यत् इदं।

उपासनाकी बात आपको सुनायी-अन्यके द्वारा, अन्यमें वृत्ति लगानेकी विधि-इसका नाम उपासना है। उपासना दूसरी चीज है और अद्वितीय वस्तुको समझना दूसरी चीज है, तो 'नेदम् यदिदमुपासते'-उपासतेमें देखो उ और ते दोनोंको अलग कर दो तो क्या रह जायेगा-पास; उप माने समीप और आसन माने बैठना-इससे बना उपासते और गाँवके लोग इसको पास बोलने लगे-पास बैठना, तो यदिदमुपासते' जो परमात्माके पास बैठते हैं, अभान-दशामें भी पास बैठते हैं और भाव-दशामें भी पास बैठते हैं और पूजा-दशामें भी पास बैठते हैं, पर, यह अन्य है और मैं अन्य हूँ, ऐसे जो बैठते हैं, वे वेदान्ती नहीं हैं। बोले–बाबा, वहाँ तो 'अन्य' और 'स्व'का भान ही नहीं होता-बोले कि यह जो अभान दशामें बैठते हो वह भी काल परिच्छिन्न ही है-एक कालमें अभान रहता है–उस अभानका नाम ब्रह्म नहीं है। तो बोले कि अभानके साक्षीका नाम ब्रह्म है, तो अभानके साक्षीका नाम यदि ब्रह्म है तो भानका साक्षी कौन है? कि भानाभान दोनोंका साक्षी है। तो ये भानाभान मिथ्या है कि सत्य है? बोले-यह भानाभान दोनों अपने अद्वितीय, अधिष्ठान, प्रत्यक् चैतन्यके ज्ञानसे बाधित हो जाते हैं, दोनों मिथ्या हो जाते हैं। कि तब? एक अद्वितीय ब्रह्म ही शेष रहता है। इसलिए अनात्मा जो है वह ब्रह्म नहीं है-यह दुबारा नेदं क्यों कहा कि अनात्मनः अब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यर्थम्–जो अपनेसे जुदा है जो ब्रह्म नहीं है यह बात बतानेके लिए 'नेंद' कहा गया।

●

प्रवचन : 5.1

मनका प्रकाशक आत्मा ब्रह्म है : 'यन्मनसा न मनुते०'

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।

(केन. खण्ड 1, मन्त्र 5)

'यन्मनसा' मनसे जिसका मनन नहीं होता, ज्ञान नहीं होता- येनाहुर्मनो मतम्'-जिससे मन मत होता है, माने मन ज्ञानका विषय होता है, माने मन ज्ञानका विषय होता है; जो मनके द्वारा ज्ञानका विषय नहीं होता, मन ही जिससे ज्ञानका विषय होता है उसको तुम ब्रह्म समझो। नारायण! यह दुनिया इन्द्रियोंसे दीखती है और किसीको देखकर आँख बन्द कर लो तो भीतर भी एक मिनट, आधा मिनट तो दीख ही जाता है। तो, आँख बन्द करनेपर वह भीतर किसको दिखता है?वह असलमें आपको सपना ही दिख रहा है। वह तो मन है जो सपनेको देख रहा है।

अब मनसे क्या दिखता है इसपर आप विचार करो-मनसे वही चीज दिखती है जो इन्द्रियोंसे पहले देखी हुई होती है–मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंके ज्ञानके प्रति साधारण करण है-साधारण माने मामूली। एक होता है असाधारण करण माने गैरमामूली औजार और एक होता है साधारण करण-माने मामूली औजार-करण माने औजार। अब देखो कि रूप देखनेके लिए आँख-गैर मामूली औजार है-बिना आँखके रूप दिखता ही नहीं; रूपके दर्शनमें असाधारण करण है आँख; और गन्धके सूँघनेमें असाधारण करण है–नासिका और स्वाद लेनेमें असाधारण करण है–जिह्वा। माने जिस इन्द्रियके बिना जिस खास चीजका ज्ञान नहीं होता है उसके ज्ञानमें वह इन्द्रिय असाधारण करण होती है, लेकिन, मन पाँचोंमें साधारण करण है। कर्म तो बिना मनके भी हो सकता है, जैसे, शरीरसे-पाँवसे चलते रहें और मन दूसरी जगह रहे, तो चल सकता है; हाथसे मशीन घुमाते रहे और मन कहीं दूसरी जगह चला जाये–देखो-आप लोग माला घुमाते हो तो, हाथमें माला घूमती रहती है और मन कहाँ-कहाँ घूम आता है। तो कर्मेन्द्रियोंसे जो काम होता है उसमें वह काम होते रहनेपर भी मन दूसरी जगह

जा सकता है, लेकिन, ज्ञानेन्द्रियोंसे जो काम होता है वह काम बिना मन रह नहीं सकता। नमक खाया कि मीठा-यह मन रहे तो ज्ञानेन्द्रिय बतावेगी; लाल देखा कि पीला-यह मन रहे तब ज्ञानेन्द्रिय बतावेगी। साधारण-करण वैसे तो सभी इन्द्रियोंमें मामूली रूपसे रहता ही है-उसकी गति बड़ी तेज है-हाथमें भी है, पाँवमें भी है, मुँहमें भी है, आँखमें भी है-लेकिन सब इन्द्रियोंमें मामूली तौरसे साधारण रूपसे वह रहता ही है-मनके बिना आँखसे कोई चीज देखेंगे भी तो कहेंगे कि हमने गौरसे नहीं देखा तो ठीक-ठीक नहीं देख पाये हमारा मन कहीं और लगा हुआ था, हमने ध्यान नहीं दिया। तो, आँखमें मन रहे तब रूपकी बारीकी मालूम पड़े, कानमें मन रहे तो शब्दकी बारीकी मालूम पड़े, नाकमें मन रहे तो गन्धकी बारीकी मालूम पड़े और जीभमें मन रहे तो स्वादकी बारीकी मालूम पड़े। महात्मा लोग आँख बन्द करके लेटे हुए हैं और कोई आकरके पाँव दबाने लग जाता है, तो आँख बन्द किये-किये हाथके स्पर्शसे ही वे पहचान जाते हैं कि हाथ किसका है–आँखसे न देखनेपर भी केवल स्पर्शके द्वारा मनमें पहचान हो जाती है। तो यह बात आपको मनकी इसलिए बतायी कि मन जो है वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा विषय ग्रहण करनेमें एक साधारण करण है-एक मामूली औजार है माने उसके बिना कोई इन्द्रिय काम नहीं कर सकती और इन्द्रियाँ तो खास-खास हैं। अब देखो, जब हम मनमें किसी बातको सोचने लगते हैं तो कैसे सोचते हैं? कि कहीं सुनी हो तो सोचेंगे, गुरुजीने एक मन्त्र बता दिया–अब इस समय तो बोल कोई नहीं रहा है लेकिन मनमें उसको हम दोहरा रहे हैं, तो मनमें गुरुजीके बताये हुए मन्त्रकी स्मृति है। अच्छा देखो, एक इष्टदेव बतावें आपको-कि एक साँवरा-साँवरा बालक है, उसके कमरमें करधनी बँध रही है और उसकी आँखोंमें काजल लगा हुआ है और उसके मुँहमें दूधकी दँतुलियाँ हैं और वह मुस्कुरा रहा है–बड़ा प्यारा-प्यारा है-यह तो आपने हमसे सुना अब, बैठकर मनमें आपने याद करना प्रारम्भ किया। तो, किसने याद किया? कि मनने किया। अच्छा, कल किसीको देखा था और आज याद आयी, तो किसने याद किया? कि मनने याद किया। अच्छा, कल कहाँ-कहाँ जाना है आज जो आप सोचते हैं वह कौन सोचता है? कि मन सोचता है। यह सब मनका काम है।

भावका यह नियम है कि कहीं, किसी इन्द्रियके द्वारा अनुभव की हुई वस्तु होवे तो उसके बारेमें मन सोचता है और जो वस्तु किसी इन्द्रियके द्वारा अनुभवकी हुई नहीं है, उसके बारेमें मन नहीं सोचता है। कल्पनाका आधार भी ऐन्द्रियक अनुभूति ही होती है। सुनी हुई है कानसे उसके बारेमें कल्पना करता है–वह ऐसी होगी, ऐसी होगी। तो स्मृति, कल्पना और इन्द्रियके द्वारा वर्तमानमें विषयोंको ग्रहण करना-मनके ये तीन काम हैं। साधारण-करणके रूपमें इन्द्रियोंसे वर्तमानमें विषयोंका अनुभव, भूतकालिक अनुभवकी वर्तमानमें स्मृति और भविष्यके लिए कल्पना। यह मनका काम है।

अब आप जरा मनसे ब्रह्मको सोचो-कैसे सोचोगे? कभी आपने ब्रह्मको आँखसे देखा है, कि नाकसे सूँघा है, कि जीभसे चखा है, कि त्वचासे छूआ है? बोले-महाराज, कानसे सुना है। तो, कानसे सुने हुए तो शब्द हैं, कानसे तो तुमने ब्रह्म नहीं सुना है, ब्रह्म-वाचक शब्द सुना है। तो, आप अपने मनमें क्या सोचोगे कि ब्रह्म अपूर्व है, अनन्तर है, अबाह्य है-ऐसा सोचोगे। ब्रह्म सत् है, ब्रह्म चित् है, ब्रह्म आनन्द है- ऐसा सोचोगे-और वही जो सोचे हुए शब्द हैं उनको दोहराओगे। तो, यह तो स्मृति है! योगदर्शनके अनुसार स्मृतिका नियम यह है कि अनुभव किये हुए विषयका चित्तमें फिर ज्ञान होगा स्मृति है : अनुभूतविषया संप्रमोषाः स्मृतिः।

नैयायिक वैशेषिक मानते हैं कि संस्कार-जन्य ज्ञानका नाम स्मृति है- माने जिसका पहले अनुभव हुआ हो और उसका संस्कार हृदयमें हो, तो उसी संस्कार-जन्य-ज्ञानकी स्मृति होती है। फिर बोले कि आगे हम जिस वैकुण्ठमें जायेंगे उसका स्मरण कर रहे हैं, गोलोकका स्मरण कर रहे हैं, साकेतलोकका स्मरण कर रहे हैं। कि अरे भाई, वह तो तुमने देखा ही नहीं। कि देखा तो नहीं है पर सुन-सुन करके उसका जाल हमने बनाया है अपने मनमें। जब पहले वर्षका कल्याण निकला उस समय मेरी उम्र तो छोटी ही थी, उसमें जयदयालजी गोयन्दकाके लेख निकलते थे। तो उनका लेख पढ़कर हमारे मनमें यह ख्याल हुआ कि जयदयालजी कैसे होंगे-सच्ची बात आपको बताता हूँ–जयदयालजी बड़े महापुरुष थे, मैं उनके महापुरुषपनेकी बात नहीं कर रहा हूँ, अपने मनकी बात आपको बता रहा हूँ कि मेरे मनने उनके बारेमें क्या

जाल बुना! जब उनका लेख मैं पढ़ता कल्याणमें तो मेरे मनमें आता-बड़ा तेजस्वी मुखमण्डल होगा उनका और वे संन्यासी तो नहीं हैं गृहस्थ हैं इसलिए कम-से-कम पीताम्बर जरूर पहनते होंगे और बड़े सुन्दर होंगे-यह अपने मनमें जयदयालजीके बारेमें कल्पना हुई कि इतना बढ़िया ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी लेख जो लिखता है वह होगा कैसा? अब महाराज, जब श्रीविष्णु दिगम्बरने प्रयागराजमें गीता-ज्ञान-यज्ञ किया, तो मैं अपने गुरुजीके साथ वहाँ गया। वहाँ जानेपर मालूम हुआ कि जयदयालजी बैठे हैं। अब देखा महाराज-सिरपर मारवाड़ी पगड़ी बाँधे और कानमें सोनेकी मुर्की पहने और बगलबन्दी पहने और रंगके साँवले-जयदयालजी बैठे हैं-अब हमारे मनमें उनके बारेमें जो कल्पना हुई थी वह सारी-की-सारी उनको देखते ही ढह गयी। उनके ज्ञानमें कोई कमी नहीं हुई, पर उनके प्रति जो कल्पना मेरे मनमें थी वह ढह गयी। उनसे मैं फिर मिला और मेरा उनका तीस-चालीस वर्ष तक घनिष्ठ सम्बन्ध भी रहा-लेकिन मेरा मन जो उनके बारेमें सोचता था वह गलत निकला। तो, हम ईश्वरके बारेमें, उसके लोकके बारेमें, जो ईश्वरको बिना देखे सोचते हैं और सोचते हैं कि जो हम सोचते हैं वही बिलकुल ठीक है, वह ठीक नहीं है। फिर बोले कि सोचते नहीं हैं महाराज, हम तो याद करते हैं कि कभी देखा तो है नहीं, याद कहाँसे करोगे? याद तो अनुभव किये हुए पदार्थकी होती है तो स्मरण कैसे होगा? तो बोले कि सुन-सुनकर कल्पना करते हैं महाराज, तो कल्पना तो सच्ची होती नहीं झूठी होती है।

अब एक बात दो मिनटकी जिज्ञासुओंकी कल्पनाकी भी सुना देते हैं-दिल्लीकी बात है। एक सज्जन विपिन बाबूके पास आये। बोले कि मिश्राजी, आप तो सन्तोंके पास खूब जाते हो, खूब सत्सङ्ग करते हो, हमको कोई अच्छा संत बताओ तो हम जाकर सत्सङ्ग करेंगे। तो विपिन बाबूने कहा कि आजकल यहाँ श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज पधारे हुए हैं, तुम जाकर उनका सत्सङ्ग करो, बहुत अच्छे सन्त हैं वे। वह गया उनके पास और घंटे-आध घंटे उनके पास बैठकर चला आया। फिर बहुत दिनोंके बाद मिश्राजी उसको मिले तो उन्होंने उससे पूछा कि क्यों भाई, गये थे क्या उनके पास सत्सङ्ग करने? बोला-गया तो था, पर सत्सङ्ग कुछ नहीं हुआ। कि क्यों नहीं हुआ? कि

उनकी शक्ल देखकर अपने मुँहका जायका बिगड़ा गया, इसलिए सत्सङ्ग कुछ नहीं हुआ। तो भाई, तुमको शक्ल-सूरत चाहिए कि सत्सङ्ग चाहिए? संतकी शक्ल देखनी है कि उससे ज्ञान सीखना है?

एक बार हमारे यहाँ सन् चौवालीस-पैंतालीसमें बड़ी गड़बड़ हुई। क्या? कि एक बी.ए. में पढ़ता हुआ लड़का आता था, अभी है वह और अब तो बड़े ऊँचे ओहदेपर पहुँच गया है, पर उन दिनों सत्सङ्ग करनेके लिए वृन्दावनमें आता था। उसने-हमारे एक नौजवान शिष्यको अपना गुरु बना लिया। वर्ष-छह महीने तो चला, पर बादमें गुरुचेलामें दोनोंमें लड़ाई हो गयी और बड़ी जोरदार लड़ाई हुई, ऐसी जोरदार कि दोनों एक–दूसरेकी जानके दुश्मन हो गये। वह मेरे पास आया। तो, मैंने उससे कहा कि यहाँ श्रीउड़ियाबाबाजी मौजूद थे उनको गुरु क्यों नहीं बनाया? यहाँ आनन्दमयी माँ हैं उनको गुरु क्यों नहीं बनाया? यहाँ हरिबाबाजी महाराज मौजूद हैं, उनको गुरु क्यों नहीं बनाया? और मैं भी हूँ पाँचवें सवारोंमें, मुझे ही गुरु बना लेता! तूने इस छोकरेको गुरु क्यों बनाया? ऐसे ही कह दिया मैंने तो वह बोला कि स्वामीजी मैंने यह सोचा कि अब आपलोग तो बुड्ढे हो गये हैं जल्दी मर जाओगे और यह जवान है और मैं भी जवान हूँ तो जिन्दगी भर गुरु-चेलेका साथ रहेगा–यह सोचकर मैंने इसको गुरु बनाया था। तो, बाबा तुमको ज्ञान चाहिए, ईश्वर चाहिए कि जवानी चाहिए? एक जनेने तो पाँच-सात गुरु बनाये, क्यों बनाया? कि जब कोई आकर उससे कहता कि हम तुमको ईश्वरकी प्राप्ति करा देंगे तो गुरु बना लेता। दो पैसेकी फूल-माला चाहिए-ज्यादा तो कुछ लगता नहीं! तुमको ईश्वर चाहिए, तुमको ज्ञान चाहिए कि तुमको सुन्दर चेहरा चाहिए कि तुमको जवानी चाहिए? असलमें देखो कि हम कितनी गलत कल्पना करते हैं। तो 'यन्मनसा न मनुते'-यह मन जो है यह भविष्यके बारेमें गलत कल्पना करता है और भूतमें देखे हुए संसारकी ही केवल याद करता है। और सुनी हुई बातको ठीक धारण भी नहीं कर सकता और सामने दीखनेवाले पदार्थपर मोह-ग्रस्त हो जाता है–ऐसे मनके द्वारा बोलते हैं कि हम ब्रह्मका ध्यान कर रहे हैं। कैसे होगा ध्यान? कि यह तुम्हारा जो मन है यह तो बड़ा गन्दा है, इससे ब्रह्मका भला कैसे ध्यान होगा?

'यन्मनसा न मनुते'–मनसे जिस वस्तुका मनन-ध्यान नहीं प्राप्त किया जा सकता-'येनाहुर्मनो मतम्'–महात्माओंका कहना है कि उसीसे मनका ज्ञान होता है। 'मन है' यह किसको मालूम पड़ता है? तो जिसको मन है ऐसा मालूम पड़ता है-उसीको मन मालूम पड़ता है। हमको मालूम पड़ता है। कहो कि दूसरोंको भी तो मालूम पड़ता है तो, दूसरोंको मालूम पड़ता है–ऐसा भी हमको ही मालूम पड़ता है। अब जरा एक-आध बात आपको मनके बारेमें सुनाते हैं।

मनके बारेमें जो जड़वादी है-मैटर माननेवाले चार्वाक, डार्विन, हैकले, मार्क्स-ये नामधारी जो आदमी हैं ये तो कभी-कभी होते हैं, कभी मर जाते हैं-इनकी कोई गिनती नहीं है और इनकी कोई कीमत भी नहीं है-सृष्टिके अनादि प्रवाहमें किसी विषयके आचार्यकी कोई कीमत नहीं है-वह तो वे सिद्धान्त जो हैं वे अनादि होते हैं और समय-समयपर उनको बोलनेवाला कोई पैदा हो जाता है। सिद्धान्त तो अनादि ही होता है। इसीलिए हमारे आचार्य लोग नामका निर्देश नहीं करते हैं–इति अपरे आहुः, इति अन्ये आहुः-वे ऐसा बोलते हैं। सिद्धान्तका उल्लंघन करके उनका खण्डन करते हैं, सिद्धान्तके वक्ताकी ओर नहीं जाते। और संसारी लोगोंके सामने कोई बात कहो तो पहले पूछेंगे-किसने कही? कि अरे बाबू, किसने कहीसे क्या मतलब, सच कही कि झूठ कही यह सोचो-बात अगर सच्ची हो तो किसीने भी कही-काले कौएने कही-यदि बात सच्ची है तो वह मान्य होती है।

अच्छा, अब आपको चार्वाककी (जड़वादकी) बात सुनाते हैं-वे कहते हैं कि ये जो मिट्टी, पानी, आग, हवा हैं ये सब सच्ची हैं और ये ही जब एक खास ढंगसे आपसमें मिलती हैं-रजमें, वीर्यमें, पशुमें, पक्षीमें, मनुष्यमें, कीड़ेमें, मकोड़ेमें खास ढंगसे जब मिलती हैं, तब चेतना पैदा हो जाती है–माने -मैटर'से मन पैदा होता है और जैसा-जैसा हम लोगोंको करते देखते हैं उसकी उस चेतनामें फोटो खिचने लगती है; तो मनुष्य नकल करने लगता है, फिर उसीका नाम मन हो जाता है; मनमें जो कुछ है, वह बाहरसे गया हुआ है और मन जो कुछ है वह बाहरसे बना हुआ है, मन बना भी बाहरसे, मैटरसे और मनमें जो कुछ संस्कार है, वासना है वह भी बाहरसे ही गया

हुआ है। वे कहेंगे कि तुमने सुना कि स्वर्ग है और ऐसा-ऐसा है तो तुम्हारे मनमें उसका संस्कार बैठ गया, तुम मानने लगे। इसी तरह तुमको किसीने सुनाया कि नरक है और उसका संस्कार तुम्हारे मनमें बैठ गया और तुम मानने लगे कि नरक है; किसीने बताया कि पुनर्जन्म होता है और तुम्हारे मनमें उसका संस्कार बैठ गया और तुम मानने लगे। असलमें ये सारी बात तुम्हारे मनमें बाहरसे किसीने ठूँस दी है, यह असली नहीं है; असली तो यह है कि यह शरीर रज-वीर्यके मिश्रणसे पैदा हुआ और इसमें चेतना पैदा हुई और इसने यह ग्रहण किया कि यह अच्छा, यह बुरा और यह हमारी मामी और यह नानी, यह दादी, यह दादा। यह सब बात बाहरसे ही ठूँसी गयी है। अब देखो, विलायतके यदि बच्चे होंगे तो वे मम्मी और डैडी बोलेंगे और यहाँ गाँवका कोई बच्चा होगा तो यह माई-बाप ही बोलेगा वह कोई मम्मी-डैडी थोड़े ही बोलेगा-यहाँका बच्चा होगा तो बचपनसे ही बैठकर लघुशंका करना सीख जायेगा, वहाँका बच्चा होगा तो बचपनसे ही खड़ा होकर लघुशंका करना सीख जायेगा, मतलब यह है कि ये सारी बातें बाहरसे ही आती हैं-ये शिवजी हैं, ये हनुमानजी हैं, ये गणेशजी हैं–ये सब बात और ये माँ हैं, ये बाप हैं–ये सब बात बाहरसे सिखायी हुई ही मनमें आती हैं, मन भी मैटरसे ही पैदा होता है और उसमें जो संस्कार पड़ते हैं वे सब बाहरसे आते हैं। इसका नाम है चार्वाक मत, मार्क्स हैकले मत, डार्विन मत-सोचनेका एक ढंग यह है।

विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि ये सब बातें बाहरसे नहीं आतीं, ये सारी बातें भीतरसे आती हैं यहाँ तक कि यह जो बाहर 'मैटर' है वह भी भीतर है। जो विज्ञानकी अनादि-संस्कार-धारामें भरा हुआ है, जैसी वासना मनमें भरी हुई है वही बाहर निकलती है-मनमें देखनेकी वासना है इसलिए आँख बनी, मनमें सूँघनेकी वासना है इसलिए नाक बनी, मनमें खानेकी वासना है इसलिए मुँह बना, मनमें करनेकी वासंना है इसलिए हाथ बना, मनमें चलनेकी वासना है इसलिए पाँव बना।

तो चार्वकने कहा कि बाहर ही तत्त्व है, भीतर सब बना हुआ है, और विज्ञानवादी बौद्धोंने कहा कि भीतर ही तत्त्व है और बाहर सब बना हुआ है–

यह आपको इसलिए सुनाते हैं कि आप 'यन्मनसा न मनुते' इसका जो विस्तार है उसको समझ जायें। वे कहते हैं कि पहलेसे ही मनमें पूर्व-पूर्व जन्मसे वासना बैठी हुई है; पूर्व-पूर्व-जन्मसे, पूर्व-पूर्व-विज्ञानसे उत्तर-उत्तर वासना आती है; विज्ञान तो सबके-सब क्षणिक होते हैं परन्तु पूर्व-वासनासे उत्तर वासनामें जो समता मालूम पड़ती है उसके कारण सब एक मालूम पड़ता है-सब भीतर ही है, बाहर कुछ नहीं है। विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि मन ही सब बना हुआ है; क्योंकि खानेकी वासना है, यह पानी मन ही बना हुआ है क्योंकि पीनेकी वासना है,यह अग्नि मन ही बना हुआ है क्योंकि ठण्ड मिटानेकी वासना है कि यह वायु जो है यह मन ही बना हुआ है क्योंकि साँस लेनेकी इच्छा है, यह अवकाश भी मन ही बना हुआ है क्योंकि मनमें घूमने-फिरनेकी इच्छा है। तो इस तरहसे इस लोकमें भी जब मन ही से सब बना हुआ है तो पुनर्जन्म और परलोक और नरक भी सब मनसे ही बना हुआ है–और वह है माने मनसे बना हुआ ही है–माने मनमें जब वासना रहेगी तो नरक-स्वर्गमें जाना होगा, मनमें जब वासना रहेगी तो पुनर्जन्म होगा–यह सब मनका ही खेल है।

जैनोंने कहा कि ये दोनों मत अधूरे हैं-बाहरसे भीतर संस्कार आया यह भी गलत और भीतरसे सब कुछ निकला यह भी गलत- यह बाहर और भीतर दोनों ही अनादि हैं; मन भी आनादि है, पुनर्जन्म भी होता है और नरक-स्वर्ग भी। जैन मतमें देखो नरक-स्वर्ग मानते हैं; बौद्ध-मतमें भी पुनर्जन्म, नरक-स्वर्ग मानते हैं। चार्वाकका जो मत है कि सब बाहरसे ही आया है, और यह कि सिखा-सिखाकर लोगोंने हमारी चेतनामें नरक और स्वर्ग और पुनर्जन्म घुसेड़ दिया है-यह बात जैनमतके अनुसार गलत है। वे कहते हैं कि असलमें मन भीतर भी है और बाहर भी है और इन दोनोंमें जब तादात्म्य हो जाता है तो मनुष्य यहाँ फँस जाता है। वे कहते हैं कि बच्चा पैदा होते ही उसमें मन दिखायी पड़ता है और संस्कार भी दिखायी पड़ते हैं, दूध खींचनेकी विद्या आखिर बच्चेको कौन सिखाता है? तो, मन जो है वह पहलेसे ही रहता है, शरीर न रहे तो मन रहे कहाँ? तो, मैटरसे मन बनता है और मनसे मैटर बनता है–ये दोनों परस्पर एकमें मिले-जुले रहते हैं, पञ्चभूतसे मन बना और

मनसे पञ्चभूत बना-बाहरका संस्कार भीतर गया और भीतरके संस्कारके अनुसार बाहर हुआ, तो दोनों परस्पर-परस्पर मिलकरके दुनियाका काम चलाते हैं।

शून्यवादी बौद्धोंने कहा कि दोनों गलत-न बाहर, न भीतर-यह बाहर-भीतर तो एक विज्ञानमात्र है–शून्यमें यह बाहर और भीतरका भेद कल्पित है–और यह कि पहलेकी क्रियाका बादवाली क्रियापर संस्कार है, पहलेकी वृत्तिका बादवाली वृत्तिपर संस्कार है कि यह सब बात झूठी है–न बाहर कुछ है मैटर और न भीतर कुछ है अन्तःकरण-न भीतरका बाहर आता है और न बाहरका भीतर आता है यह सब। तत्त्व-दृष्टिसे शून्य है और केवल यह प्रतीत्य-समुत्पाद्य मालूम पड़ता रहता है।

अब पाँचवीं बात वेदान्तियोंकी देखो-वेदान्तियोंने कहा कि यह ठीक है कि बाहरसे भीतर आता है और यह भी ठीक है कि भीतरसे बाहर जाता है-किसीको कोई काम करते देखते हैं तो उसका संस्कार मनमें बैठ जाता है और पहलेसे यदि मनमें संस्कार रहता है तो जल्दीसे वह उदय हो जाता है, किसी-किसीको कोई बात सिखाओ तो वह बहुत जल्दी सीख लेता है और किसीको बहुत देर लगती है, तो मनमें संस्कार रहता है और उससे शरीर बनता है और पञ्चतन्मात्राएँ बाहर होती हैं, वे अन्तःकरण बनाती हैं और इनमें अभिमान करके बैठा हुआ जो जीव है वह अनादि और नित्य होता है और एक ज्ञानमात्र तत्त्व है जिसमें न मैटर है, न संस्कार है, न प्रवाह है–अखण्ड, अनन्त, असंग उसीको सब भासता है–जिसको तुम शून्य कहते हो वह शून्य भी भासता है, कालकी शून्यता भी भासती है, देशकी शून्यता भी भासती है, वस्तुकी शून्यता भी भासती है–शून्यता जो है वह अपने भासक चैतन्यके बिना सिद्ध नहीं होती, इसलिए यदि अपनी अखण्डताका ज्ञान हो जाये और वासना और मैटरके साथ सम्बन्ध रहे तब तो मुक्ति मिल जाती है, लेकिन अपने अखण्ड चैतन्य आत्माका, ब्रह्मका ज्ञान न होवे तो ये बाहरसे भीतर वासनाएँ बनती रहती हैं। और भीतरकी वासनाओंके अनुसार बाहर काम होता रहता है। कई चीज बाहर-ही-बाहर हैं जैसे मिट्टी, पानी आदि; कई चीज भीतर-ही-भीतर हैं जैसे निश्चय, संकल्प आदि और कई दोनोंके मिश्रणसे

क्रिया होती रहती है। तो, एक रकम सेतो चार्वाक् बाहरकी चीजोंका निरूपण करता है और एक प्रकारसे विज्ञानवादी बौद्ध भीतरकी चीजोंका निरूपण करते हैं; जैन जो हैं वे दोनोंका निरूपण करते हैं और शून्यवादी बौद्ध जो हैं वे दोनोंका निषेध करते हैं। वेदान्त कहता है कि व्यावहारिक दृष्टि यह सब अपनी-अपनी जगहपर ठीक होनेपर भी-पुनर्जन्म भी ठीक, नरक भी ठीक, स्वर्ग भी ठीक और जाना-आना भी ठीक और वासनाकाल अन्तःकरण भी ठीक और चारों-पाँचों प्रकारके विषयवाले ये द्रव्य भी ठीक और इससे बना हुआ सूक्ष्म शरीरका जो पुद्गल है सो भी ठीक, लेकिन यह कब तक कि जब तक अपने अखण्ड चैतन्य आत्माका ज्ञान नहीं होता। ज्ञान होनेके बाद ये सब-के-सब बाधित हो जाते हैं और जन्म-मृत्युकी निवृत्ति हो जाती है।

तो, इस प्रकार मैंने आपको बताया कि चार्वाक्के मतमें मन जो है वह बिलकुल भौतिक पदार्थोंसे बना हुआ है; विज्ञानवादी बौद्धके मतमें केवल आन्तर पदार्थोंसे ही बाहरके पदार्थ बने हुए दिखायी पड़ते हैं; जैन-मतमें दोनों सत्य है; शून्यवादीके मतमें दोनों मिथ्या हैं; और वेदान्तियोंके मतमें इनसे परे एक जो अखण्ड आत्म-चैतन्य है—अपना-आपा-वह तो सत्य है और बाकी ये सब जो मत हैं ये व्यवहारको देख-देख करके लागोंने अपने मतोंकी रचना की है, वस्तु-तत्त्वके अनुभवसे इन मतोंका सम्बन्ध नहीं है। हम केवल मतोंका वर्गीकरण करनेके लिए, पृथक्करणके लिए ऐसा आपको सुनाते हैं।

अब एक दूसरी प्रक्रिया सुनो-चार्वाक्का मत है कि जब शरीर मरता है तब मन भी मर जाता है। असलमें शरीर और मन दोनों जुदा-जुदा नहीं हैं, इसलिए शरीरके पहले मन नहीं था और शरीरके बाद भी मन नहीं रहेगा—न कहीं यह नरकमें जायेगा और न स्वर्गमें जायेगा, न इसका पुनर्जन्म होगा, न जीव नामकी कोई वस्तु है—शरीरका पैदा होना जीवका पैदा होना है और शरीरका मर जाना जीवका मर जाना है, आगे-पीछे कुछ नहीं है-यह चार्वाक्का मत है। विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि शरीरके मर जानेसे मन नहीं मरता, वह बना रहता है और वह वासनाके अनुसार जन्म-मृत्यु, नरक-स्वर्गादिको प्राप्त होता है और प्रवाहमें बहता रहता है। जैन भी यह मानते हैं कि शरीरके मर जानेके बाद मन बना रहता है और अपने कर्मके अनुसार

उसकी गति होती है-इतनी बात जरूर है कि जैन कर्म-प्रधान हैं और बौद्ध वासना-प्रधान हैं परन्तु जन्मको दोनों मानते हैं; बौद्ध लोग जीवकी बड़ाई-छोटाई, योनि-सव विज्ञानमात्र मानते हैं और जैन शरीरके बराबर उसका अस्तित्व मानते हैं।

अब आपको तीसरी प्रक्रियासे सुनाते हैं-कुछ लोग कहते हैं कि मन एक अणुके बराबर है; दूसरे लोग कहते हैं कि मन एक शरीरके बराबर है; और तीसरे लोग कहते हैं कि मनका विभु परिमाण है माने सर्वत्र व्यापक है। अब देखो इस मतवादका खेल आपको सुनाते हैं-यह जिन लोगोंका दिमाग कमजोर है उनका तो सिर चकरा जाये! एकबार हमलोग कनखलमें एक महात्माके पास गये। उनका नाम शंकर चैतन्य भारती था-काशीमें बड़े भारी विद्वान् माने जाते थे, तो कनखलमें आये हुए थे, उत्तरकाशीसे लौट रहे थे तो मिल गये। हमारे साथीने प्रश्न दिया कि महाराज मनका क्या स्वरूप है? तब उन्होंने बताना शुरू किया कि चार्वाक्के मतमें मनका क्या स्वरूप, जैन मतमें, बौद्ध मतमें, शैव मतमें, वैष्णवोंके मतमें, न्याय-वैशेषिक लोगोंके मतमें, सांख्योंके मतमें, पूर्व-मीमांसाके मतमें, वेदान्तियोंके मतमें-ऐसे कोई बीस-तीस मतोंके अनुसार उन्होंने मनका निरूपण किया और उसके बाद फिर ऐसे सिरपर हाथ रखकर बैठ गये और बोले कि तुम्हारा प्रश्न तो छोटा था और मैं इतनी देर बोल गया। बोले-बाबा हमारा तो दिमाग चकराने लगा! तो नारायण! यह तो विचारवालोंकी बात है कि मन जो है वह अणु परिमाण है कि विभु परिमाण है, कि मध्यम परिमाण है—शास्त्रमें इसका विवेक आता है। तो, अब आप देखो कि जो लोग अणुपरिमाण मनको मानते हैं-अणुके बराबर नन्हा-सा और रहता है हृदयमें-तो कोई पाँव छूये तो मनको कैसे मालूम पड़ जाता है? तो उन लोगोंने कहा कि वहाँ तो जैसे टेलीफोनके तार लगे होते हैं ऐसे ही ये जितनी नसें हैं इनमें-से टेलीफोनका तार लगा हुआ है और एक जगह छूनेपर मनको तुरन्त टेलीफोनसे सूचना मिल जाती है—संवेदन हो जाता है और वहाँ पता लग जाता है कि यहाँ किसीने छूया है; चींटी काटती है पीठमें तो मनको कैसे पता लगता है कि वहाँ की नसोंके साथ जो संवेदन-सूत्र हैं उनसे। बड़े-बड़े एक-एक कणमें हजारों सूत्र होते हैं, लाखों-लाखोंतक होते हैं-इतने महीन, इतने पतले होते हैं

कि आँखसे दिखायी नहीं पड़ते हैं! तो आप मनीरामके सम्बन्धमें सोचें! अभी जब आपको वेदान्तका विचार करना पड़ेगा तो आयेगा कि मनसे बाहरका जो मालूम पड़ता है सो भी ब्रह्म नहीं है और बाहरके संस्कारसे आक्रान्त जो मन है सो भी ब्रह्म नहीं है–'यन्मनसा न मनुते'–मनसा यन् मनुते तन् न–मनो न यन् मनुते तन् न–मनसे जिसका तुम मनन करते हो वह ब्रह्म नहीं है और जिस मनसे मनन करते हो वह ब्रह्म नहीं है।

तो मन अणु-परिमाण है तो दृश्य हुआ और वह बाह्य संस्कारोंसे आक्रान्त होता है। और दूसरा मत यह है कि मन विभु परिमाण है-विभु माने सारी सृष्टिमें एक ही मन व्यापक होता है। मन तो एक ही है, जैसे आकाश एक है वैसे मन भी एक है-समूचे आकाशको अपने पेटमें ले ले-मनका तो बड़ा सामर्थ्य है,लेकिन, यह गन्दगीके कारण, मलिनताके कारण, वासनाके कारण, अभिनिवेश, राग, द्वेष, अस्मिता और अविद्याके कारण, अपनेको एक शरीरमें आबद्ध मान रहा है। तो जब क्लिष्ट और अक्लिष्ट-दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध हो जाता है तब द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है और मनकी व्यापकताका बोध होकर विभूतियोंका अनुभव हो जाता है। क्लिष्ट वृत्तियाँ कौन-सी हैं कि जो साधनमें उपयोगी नहीं है, विरोधी हैं, मनको अधर्मकी ओर ले जाती हैं, वासनाकी पूर्तिकी ओर ले जाती हैं, भोगकी ओर ले जाती हैं–वे क्लेश देनेवाली, क्लेश बढ़ानेवाली वृत्ति हैं, उनसे राग-द्वेष, अविद्या, अभिनिवेश, अस्मिता और बढ़ती है और कुछ वृत्तियाँ ऐसी होती हैं जो इन पाँचों क्लेशोंको क्षीण करनेवाली होती हैं, उनमें धर्म होता है। उनमें योग होता है, उनमें उपासना होती है, ईश्वरका ध्यान होता है, समाधि होती है, जिससे राग-द्वेष, अविद्या, अस्मिता, अभिनिवेश आदि वृत्तियाँ क्षीण होती हैं–ये क्लेश उनसे क्षीण होते हैं, नष्ट होते हैं। तो, कुछ वृत्तियाँ क्लेश मिटानेवाली होती हैं और कुछ वृत्तियाँ क्लेश बढ़ानेवाली होती हैं। आप यह समझ लो कि जितना-जितना सम्बन्ध दुनियामें बढ़ेगा उतना-ही-उतना क्लेश बढ़ेगा-जैसे, यदि आपकी एक आदमीसे जान पहचान है तो उसके माँ-बाप मरेंगे तो आपको मातमपुर्सी करनी पड़ेगी और आपकी पचास आदमियोंसे जान-पहचान है तो पचासके माँ-बाप मरेंगे मातमपर्सी करनी पड़ेगी। तो,

आपका क्लेश बढ़ेगा कि नहीं बढ़ेगा? एकसे सम्बन्ध है तो उसके गरीब होनेसे आपको दुःख होता है और यदि पचाससे आपका सम्बन्ध है तो पचासके गरीब होनेसे आपको दुःख होगा!

अपने मनको प्यारे लगनेवाले जितने सम्बन्ध मनुष्य इस संसारमें बढ़ाता है, उतनी-ही-उतनी कील, उतने-ही-उतने शल्य, उतने-ही-उतने नोक उसके हृदयमें गड़ते हैं-

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसा प्रियान्।
......................तावद्हृदये शोकशंकवः॥

हमारे एक मित्र हैं उनका बड़ा भारी सम्बन्ध है दुनियामें, बहुत सम्बन्धी, बहुत रिश्तेदार, बहुत परिचित-तो कोई-न-कोई सूतक-पातक उनके लगा ही रहता है—सबेरे जाकर किसीके घरकी मातमफूर्सी कर आवेंगे तो शामको किसीके घरमें बेटा होनेका सुख मना आवेंगे और रातको किसीके ब्याहमें शामिल होंगे! अब वे सुख मनाते हैं कि दुःख मनाते हैं इसका उनको ही पता न चले! तो, दुनियामें मनुष्यके जितने ज्यादा रिश्ते-नाते होते हैं उतना ही ज्यादा मनुष्यको दुःख होता है। तो जिससे क्लेश बढ़ता है उसको क्लिष्ट वृत्ति बोलते हैं माने क्लेश देनेवाली वृत्ति-क्लेश-युक्त वृत्ति और जिससे क्लेश कम होता है उसको अक्लिष्ट-वृत्ति बोलते हैं, जैसे धर्म है, भगवान्‌की उपासना है, चित्तकी एकाग्रता है, ध्यान है-ये मनुष्यके क्लेशको मिटानेवाली वृत्ति हैं। अब आप देख लो कौन-कौन-सी वृत्ति आपके क्लेशको बढ़ानेवाली हैं? आपको दुःख क्यों होता है? आप आश्चर्य करेंगे कि जब ईश्वरने यह सृष्टि बनायी तब उन्होंने दुःख नहीं बनाया था—बड़ा आनन्दमय हाथ है उनका, उन्होंने दुःख-नहीं बनाया-अपने आनन्दमय, रसमय, कल्याणमय हाथोंसे ईश्वर जिस चीजको छू देता है, बना देता है वह चीज आनन्दकी हो जाती है, लेकिन, महाराज, इस जीवने जिस चीजको छूया और मैं-मेरा किया उस चीजको उसको गन्दा कर दिया! एक फूल होता है ईश्वरकी ओरसे वह खिलता है, कैसी बढ़िया उसमें सुगन्ध होती है और कैसी सुन्दरता होती है और क्या मह-मह-मह-महकता है—सारे बगीचेको महका देता है और जब मनुष्यकी नजर उसपर पड़ती है तब वह उसको तोड़ लेता है, उसको सूँघता

है, उसको गालसे लगाता है, आँखसे लगाता है, उसको हाथमें लिये रहता है और थोड़ी देर बाद ही उसको हाथसे मसलकर धरतीपर फेंक देता है-जीवनको नष्ट करना, यौवनको नष्ट करना, सौन्दर्यको नष्ट करना-यह मानो जीवके पल्ले पड़ा हुआ है! एक बार मैं धर्म-शास्त्रकी कोई पुस्तक पढ़ रहा था तो उसमें यह लिखा था कि पृथिवी सब जगह पवित्र है-'सर्वत्र वसुधाः पूताः'–पृथिवी सब जगह पवित्र है–कि अपवित्र कहाँ होती है कि जहाँ जाकर यह प्राणी टट्टी कर देता है, पेशाब कर देता है, थूक देता है-जहाँ ये आदमी धरतीको गन्दी कर देते हैं वहाँ यह धरती गन्दी होती है, नहीं तो ईश्वरने तो बिलकुल ठीक-ठीक धरती बनायी थी-धरती कहीं गन्दी नहीं होती–

सर्वत्र वसुधाः पूताः यत्र लेपो न विद्यते।
यत्र लेपः कृतः तत्र पुनर्लेपेन शुद्ध्यति॥

यह धर्म-शास्त्रमें वचन आता है। तो, असलमें ईश्वरमें क्लेश नहीं है, प्रकृतिमें क्लेश नहीं है, महत्तत्त्वमें क्लेश नहीं है, अहंतत्त्वमें क्लेश नहीं है, पञ्चतन्मात्रामें क्लेश नहीं है, पञ्चमहाभूतमें क्लेश नहीं हैं-यह सारा क्लेश जो है सो मैं-मेरेका है; जीव-सृष्टिमें दुःख है, ईश्वर-सृष्टिमें दुःख नहीं है। जहाँ 'मैं-मेरा' है वहीं दुःख पैदा होता है। तो क्लेशसे यदि आपको बचना हो-तो क्लिष्ट-वृत्तिका तो निरोध होता ही है, अक्लिष्ट-वृत्तिका भी निरोध होता है, जैसे आपके मनमें किसके ऊपर दया आवे, तो बहुत बढ़िया! सेठ लोग कहेंगे कि वाह–वाह, देखो, धर्मकी वृत्ति हमारे मनमें आयी कि बहुत अच्छा है भाई, जो इकट्ठा करते हैं उनके मनमें धर्मकी वृत्ति आना बड़ा भारी धर्म है, जो परिग्रह-शील हैं उनके मनमें धर्मकी वृत्ति आना तो बहुत आवश्यक है, परन्तु, धर्मके लिए इकट्ठा करनेकी जरूरत नहीं है–अपरिग्रह-त्यागमें जितना धर्म है परिग्रहमें उतना धर्म नहीं है; परिग्रहसे होनेवाला जो धर्म है वह कर्तृत्व-पूर्वक होता है और अपरिग्रहसे होनेवाला जो धर्म है वह अकर्त्ता-आत्माका स्वरूपभूत है। इसीलिए त्याग जो है वह स्वाभाविक धर्म है और संग्रहके द्वारा होनेवाला जो धर्म है वह बिलकुल अस्वाभाविक है, अप्राकृत है, दुःखद है! अच्छा भाई, बोले कि दया आयी मनमें-देखा सड़कपर कोई गरीब पड़ा है तो दया तो आयी, चित्तमें सात्त्विक-भाव आया कि अहा-अहा-यदि इसकी सेवा हम नहीं करेंगे तो अपने

कर्तव्यसे हम च्युत हो जायेंगे! तो उस कोढ़ीको, उस बीमारको, उस गरीबको उठाकर घरमें ले आये या अस्पतालमें ले जाकर दाखिल करा दिया-बड़ी दया आयी। तो फिर थोड़ी देरमें मनमें आयेगा कि मैंने कितनी दया की, कितना परोपकारका काम किया, मैं बड़ा परोपकारी हूँ! तो वह जो सत्त्वकी वृत्ति थी, दया करनेवाली, वह जब अहंकारका उदय हुआ तब रजोगुण हो गयी और थोड़ी देरके बाद उस रोगीने थूक दिया, टट्टी कर दिया, पेशाब कर दिया तो मनमें आया—बड़ा गन्दा है, घृणित है--राम-राम-राम-दो-चार दिन सेवा की, मन ऊब गया कि सारी जिन्दगी इसीमें लगा देंगे क्या?, तो यह तमोगुणकी वृत्ति हो गयी! तो, इस संसारमें जो वृत्तियाँ होती हैं वे सत्त्वगुणीसे रजोगुणी और रजोगुणीसे तमोगुणी होती रहती हैं—ये जो लोग चन्दा करके धर्म करते हैं, जब उनको यह पता लगता है कि हमारे दिये हुए चन्देमें किसीने बेईमानी कर ली-कि हमारे दिये हुए चन्देका ठीक उपयोग नहीं हुआ, अच्छे काममें नहीं लगा तो उनका दुःख हो जाता है। तो, यह संसारमें जितनी क्लिष्ट वृत्तियाँ और अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं इनका जब निरोध कर दिया जाता है—ये ही मनको गन्दा करती हैं—अच्छी और बुरी दोनों प्रकारकी वृत्तियाँ मनको गन्दा करती हैं-जब अच्छी और बुरी दोनों प्रकारकी वृत्तियाँ मनको गन्दा करती हैं—जब अच्छी-बुरी दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध हो जाता है और मन शान्त और सम हो जाता है, तब उस समय मन बृहत् हो जाता है, मनकी बृहत्ता तब प्रकट हो जाती है! असलमें एक ही 'विभु' मन सारे संसारमें व्याप्त है, तब दूसरोंके मनकी बात भी मालूम पड़ने लगती है, दूसरी जगहकी बात भी मालूम पड़ने लगती है। मन तो अपना ही है, वही सब जगह भरपूर है, यह तो जो मैल आ गया था मनमें उसके कारण सब जगहकी बात नहीं दिखती थी, जब मैल छूट गया तो सब जगहकी बात दीखने लगी।

तो न्याय-वैशेषिक मनको अणु-परिमाण मानते हैं और सांख्य और योग मनको विभु परिणाम मानते हैं—एक ही मन है—शुद्ध हो जानेपर मनको सब जगहकी बात मालूम पड़ सकती है, सबके मनकी बात मालूम पड़ सकती है और वह जहाँ चाहे अपने संकल्पसे सब काम कर सकता है, सिद्धियाँ आजाती हैं; मनीराम तो बहुत बड़े हैं। अब देखो ये सब बात मनसे ही हो

जाती हैं—मनसे बाहरकी सब बात ले सकते हैं, मनसे बाहर सब बात दे सकते हैं, मनको सबसे न्यारा कर सकते हैं। लेकिन जिस चीजका मनके साथ सम्बन्ध है वह और खुद मन भी दोनों ब्रह्म नहीं हैं-'यन्मनसा न मनुते!' वेदान्तियोंने कहा कि मन मध्यम परिणाम है-मध्यम परिणाम है माने शरीरमें नखसे शिखातक मन व्याप्त है। जैसे सारे शरीरमें खून दौड़ता रहता है तो खूनसे भी सूक्ष्म वीर्योत्पादक धातु है—शरीरमें जो वीर्य पैदा होता है उसकी कोई थैली ही है—वीर्य नामकी धातु रक्तसे सूक्ष्म है और वीर्यसे भी सूक्ष्म है-वीर्यमें जो ऊर्जा है, जो शक्ति है। वहाँ उससे भी सूक्ष्म है-वीर्यमें एक चेतना नामकी धातु है वह, और वह चेतना सारे शरीरमें व्याप्त रहती है; प्राण उसका वाहन है, संकल्प उसका सारथी है और उसमें संकल्प और निश्चयकी शक्ति हैं संकल्प और निश्चय उसका स्वरूप है और वासना ही उसकी आकृति है। मन क्या है कि मनकी आकृति है वासना, संकल्प और निश्चय है उसका स्वरूप, आत्मा है उसका अधिष्ठान और वह प्राणवायुके रथपर चढ़ करके अपनी इच्छित गतिको प्राप्त करता है, इच्छित देशमें जाता है। लेकिन मन जहाँ जाता है सो भी ब्रह्म नहीं है क्योंकि जाना पड़ा तो एक जगहपर है वह; और मन जहाँ लौटकर आता है वह भी ब्रह्म नहीं है क्योंकि वहाँ लौटकर आना पड़ा। तो जो लोग ब्रह्मको जान जाते हैं वे इस बातको जानते हैं कि 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः'।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र-यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

यदि देहाभिमान गलित हो गया-कि मैं देह हूँ-यह भ्रान्ति मिट गयी; और यदि 'विज्ञाते परमात्मनि'-अर्थात् यह बोध हो गया कि जितना यह अध्यस्त प्रपञ्च दिख रहा वै, वह सब अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्मसे बिलकुल न्यारा नहीं हैं, बिलकुल जुदा नहीं है! कि तब? 'यत्र यत्र मनो याति'—क्योंकि यह मन चेतन अधिष्ठानमें कल्पित है, इसलिए इसकी जितनी भी फुर्फुराहट है वह सब ब्रह्ममयी है, सब समाधिरूप ही है। इसलिए—

क्षणमेकं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं बिना।
यथा तिष्ठति ब्रह्मादि - सनकादि - शुकादयः॥

जहाँ-जहाँ मन है, जो-जो मन है, जब-जब मन है-चाहे किसी भी आकृतिकी स्फुरणा हो रही हो-आकृतिका भाव हो, चाहे अभाव हो, वह अपने अधिष्ठान चेतनसे तो भिन्न है नहीं। तो बोले, बाबा कि यह मनन करनेवाला जो मन है इससे तो ब्रह्मका मनन नहीं होता है और जिसका मनन होता है वह ब्रह्म नहीं है। तो मनन करनेका जो औजार है मन वह भी ब्रह्म नहीं है और जिसका मनन किया जाता है वह भी ब्रह्म नहीं है-दोनोंका निषेध किया। तो यह मनीराम बड़े प्रबल हैं-

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

तुम्हारा मन कैसा है? कि हमारा मन तो ऐसा है बाबा कि जागते ही, सड़कपर जाता है कि सड़कपर कौन-सी मोटर चल रही है। घरमें अभी तुम खाटपरसे उठे हो और तुम्हारा मन सड़कपर क्यों चला गया? बोले कि हम तो उठ गये, हमारा पड़ौसी अभी उठा होगा कि नहीं उठा होगा! अब लो तुम तो अभी लेटे हुए हो पलंगपर और यह मन 'दूरमुदैति'। तुम्हारा मन कोई-न-कोई कल्पना दूसरेके बारेमें दिखा देगा-कि अमुक स्त्री ऐसे कर रही है, अमुक पुरुष ऐसे कर रहा है, फलाँ लड़की ऐसी है, फलाँ लड़का वैसा है, अमुक जगह नोट रखा हुआ है! यह मन कुछ-न-कुछ जाहिर करेगा और तुम्हारे जागते ही दूर भाग जायेगा। और जब तुम सोने लगोगे तो, लौटकर तुम्हारे पास आ जायेगा और तुम्हारे साथ सो जायेगा-तुम्हारे बिना रह नहीं सकता। तुम सब जागते हो तब भागता है और जब तुम सोते हो तब वह भी आकर सो जाता है और दूर-दूरका सफर करके आता है-क्षणमें अमेरिका चला जाये, क्षणमें यूरोप चला जाये, क्षणमें अफ्रीका चला जाये-'दूरम् गमम् ज्योतिषां ज्योतिरेकम्'—यह आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा, इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं परन्तु मन सबके साथ एक है। यह मन ही सब विषयोंको प्रकाशित करता है। ये बुरे हैं, ये अपने हैं, ये पराये है, ये शत्रु हैं, ये मित्र है, यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है! किसीमें ईश्वर-बुद्धि करा देता है और किसीमें जीव-बुद्धि करा देता है यह मन। किसीको अपना बता देता है और किसीको पराया। बड़ा खतरनाक है यह मन, सावधान रहना, कहीं यह गलत सलाह न दे दे! जैसे

महाराज अपने पड़ोसीकी सलाहपर या घरकी औरतकी सलाहपर आदमी किसीको अपना दुश्मन मान लेता है और खुद उसकी खोज नहीं करता तो, कभी-कभी उसको गलतफहमी हो जाती है और वह गल्ती कर बैठता है-ऐसे ही मनको जो प्यारा लगता है उसको यह प्यारा बता देता है और मनको जो अप्रिय लगता है उसको यह अप्रिय बता देता है। जहाँ कोई मेहनतका का होवे वहाँसे बच निकलनेके लिए प्रेरणा देता है और यह तपस्यासे बचता है, यह योगसे बचाता है, यह उपासनासे बचाता है-कहता है–इन सब कामोंमें मत पड़ो। जब एक प्याला शराब पी लेनेसे सारे गम गलत हो जाते हैं तो तुम काहेको योगके चक्करमें पड़ते हो--यह ऐसा बताता है। बोलता है-यह ईश्वर-वीश्वर क्या है, इनके चक्करमें मत पड़ो; मन बड़ी गलत-गलत सलाह देता है। तो ऐसी गलत सलाह देनेवाला कि अपने माँ-बापसे अलग करा दे, भाई-भाईमें फूट करा दे, पति-पत्नीमें लड़ाई करो दे–यह मन ही है। जो ईश्वरपर अश्रद्धा करा दे, जो जीवको खुदकुशी करनेकी सलाह दे दे–ऐसे मनके कहे अनुसार तुम चलते हो, जरा इसकी जाँच तो तुम करो। ऐसा गन्दा मन ईश्वरके बारेमें तुमको कोई सच्ची बात नहीं बता सकता!

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मनत्।

यही मन धनके लिए चोरी-बेईमानी करनेकी प्रेरणा दे देता है। और फिर उसको फेंक देनेकी सलाह भी देता है। तो इसमें तो फिर कोई निश्चय नहीं है, कोई ज्ञान नहीं है। इसीमें सारे संस्कार, इसीमें सारी वासना भरी हुई हैं, इसीसे रुकावट होती है और इसीमें बहना होता है। सबके भीतर ज्योतिके रूपमें यह प्रज्वलित रहता है; जो भी काम बाहर किया जाता है उसमें यह लगता है। तो ठीक है बाहरके काममें तो यह लगे, तुम्हारे पाँवको यह चलावे, तुम्हारे हाथको यह चलावे, तुम्हारी जीभको यह बुलावे, तुम्हारी आँखसे यह दिखावे-सब काम तो यह करे सो करे लेकिन, बाबा इसके पीछे जो आत्म-वस्तु बैठी हुई है उसके बारेमें यदि यह कोई झूठी कल्पना करा दे कि आत्मा कैसा है कि लाल-लाल आत्मा है तो, इसको मत मानना। यह कहदे कि शून्य-शून्य आत्मा है तो मनकी कही मत मानना, यह कहे कि बड़े-पहाड़की तरह आत्मा है तो मत मानना; और यह कहे कि चार-भुजावाला आत्मा है तो

उसको भी मत मानना-यह भन जो कुछ संसारमें देखकर, सुनकर, छूकर, सूँघकर, चखकर, पढ़कर-लिखकर आत्माके बारेमें कल्पना करता है वह मनः-कल्पित आकृति ब्रह्म नहीं है-नेति-नेति मनके द्वारा कल्पित जो आकृति है वह ब्रह्म नहीं है। फिर ब्रह्म कैसा है? कि जिससे मन मालूम पड़ता है, मनकी प्रतीति जिसको होती है-

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

एक मनके अनुसार चलनेके कारण कैसे-कैसी गलती हो जाती है इसका भी आपको एक दृष्टान्त सुनाते हैं-लोग समझते हैं कि हमारा मन जो है सो ईश्वर है। यह जबसे अपने मनको ईश्वर मानने लगे-गुरुको तो न माने, उसकी तो चोरी कर ले; माँ-बापको न मानें, उनको तो धोखा दे दें; वेद-शास्त्रको न माने, उसको धोखा दे दें; पति परमेश्वरको न मानें, उससे तो छल-कपट करें, छोड़ दें और माने किसकी? कि मनकी। वासनासे वासित संस्कारोंसे आक्रान्त, बन्दरसे भी ज्यादा चंचल, अत्यन्त कामी मन जिसके बारेमें सिर्फ आप ही जानते हैं दूसरा कोई नहीं जानता, अत्यन्त क्रोधी मन जिसके बारेमें बाहरसे लोगोंका पता नहीं लगता; अत्यन्त लोभी मन, अत्यन्त मोही मन, अत्यन्त देहासक्त मन–ऐसे इस मनकी सलाह मानकरके जो मनुष्य परमात्माके बारेमें निर्णय कर लेता है वह बिलकुल गलत रास्तेपर जाता है–

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।

तो, यह जो मन है यह शुद्ध होनेपर भी अशुद्ध होता है। कहो भाई, इसको शुद्ध कर लें, तो यह शुद्ध करना भी वैसा ही है–आपलोग बुरा मत मानना–कि जैसे रोज सबेरे उठकरके ये बाबू लोग हजामत बनाते हैं और खुश होते हैं कि कैसा चिकना-चुपड़ा गाल है हमारा, लेकिन, शामतक उसमें खूँटी निकल आती है, शामतक कीलें निकल आती हैं–ऐसे ही जिन लोगोंको यह ख्याल है कि मन शुद्ध हो जाता है तो सबेरे मन शुद्ध करोगे और शामको मन गन्दा हो जायेगा, शामको शुद्ध करोगे, रातको फिर गन्दा हो जायेगा-इसमें खूँटी निकलती रहती हैं, क्योंकि रजसके-तमसके जो उपादान हैं वे इसके

भीतर भरे हुए हैं; न जाने क्या-क्या देखा है, न जाने क्या-क्या सुना है, न जाने क्या-क्या कूड़ा-करकट इसमें भरा हुआ है! तो यह इतना विश्वास करने योग्य नहीं है। यह तो जैसा है वैसा-मन देखता है संसारको और संसार घुसता है मनमें-इसकी ओरसे अपनेको हटाकरके अपनेको पर-ब्रह्म परमात्मामें लगाना चाहिए।

परब्रह्म परमात्मा कैसा है कि मनमें जो लम्बाई-चौड़ाई आती है वह झूठी है और मनमें जो उम्र आती है सो भी झूठी है और मनमें जो चीजोंके गुण-दोष आते हैं सो भी झूठे हैं और मनमें जो चीजें आती हैं वे भी झूठी हैं और यह मन खुद झूठा है और झूठी चीजोंको बतानेवाला, झूठी चीजोंमें जानेवाला, झूठोंकी संगत और सोहबत करनेवाला है यह मन। मन माने बड़ा भारी उपद्रवी एक पिशाच, जो तुम्हारे कलेजेमें आकरके और घर बना करके बस गया है। तुम यह मन नहीं हो और यह तुम्हारा नहीं है! तुम इसको और इसके द्वारा बसाये हुए जो विषय हैं, इसके द्वारा बतायी हुई जो सलाहें हैं, यह जो तुम्हें भोगके मार्गपर ले जाता है उसकी ओर ख्याल न करके, मन और मनके विषय दोनोंको एक कोटिमें डाल दो–'तत् मनसा न मनुते यन्मनसा मनुते तत् न'-जो मनसे मालूम पड़ता है वह नहीं है–'मनश्च तन् न' और वह मनन करनेवाला मन भी वह नहीं है। दोनोंका साक्षी ब्रह्म है। वह साक्षी कौन? कि हम हैं–समूचा वेदान्त-उपनिषद् यह कहती है कि यह जो तुम साक्षी हो, यह साक्षी तुम असलमें एक शरीरके साक्षी नहीं हो। इन्द्रियके साक्षी नहीं हो। मनके साक्षी नहीं हो, बुद्धिके साक्षी नहीं हो, अभावके साक्षी नहीं हो, तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके साक्षी हो, कि नहीं तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके ही साक्षी नहीं सम्पूर्ण-प्रकृतिके साक्षी हो; सम्पूर्ण-प्रकृतिके ही नहीं सम्पूर्ण माया और अविद्याके साक्षी हो और सम्पूर्ण-माया-अविद्याके ही नहीं, उसकी उपाधिसे उपरक्त चैतन्यमें जो जीवत्व और ईश्वरत्वकी कल्पना हुई है उस कल्पनाके भी तुम साक्षी हो और वह कल्पना भी तुम नहीं हो। उस कल्पनासे न्यारे तुम्हारा स्वरूप कैसा है कि देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय, विजातीय स्वगतभेदसे रहित, अद्वितीय ब्रह्मचैतन्य स्वयं तुम हो! तो–

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।

तुम उसी ब्रह्मको जानो और आत्माके रूपमें जानो और अपनेसे अभिन्न जानो–'यद् इदम् उपासते तन् न'–ये दुनियादार लोग जिसकी उपासनामें लगे हुए हैं, अपने मनके साथ जा-जाकरके जिसके पास बैठते हैं कि उसका नाम ब्रह्म नहीं है; तुम इन छोटी-मोटी चीजोंके चक्करमें मत फँसो। यह मन मरनेवाली चीजोंको अमर बताता है-हम जानते है कि ये मर जायेंगे, हमारा हृदय कहता है कि ये मर जायेंगे, लेकिन, हमारा मन कहता है कि ओहो, ये तुम्हारे प्यारे हैं तो भला कभी मरेंगे? हम जानते हैं कि धन छिन जायेगा, पर यह कहता है कि ओहो, तुम्हारी मुट्ठीमें है धन, भला यह कैसे निकलेगा-तुम्हारी मुट्ठी इतनी कड़ी, तुम्हारी बुद्धि इतनी प्रबल-यह धन नहीं निकल सकता! तो यह मन तुमको धोखेमें डालता है कि यह धन तुम्हारे हाथसे निकल नहीं सकता, ये सगे-स्वजन तुमसे छूट नहीं सकते-जिससे तुम मुहब्बत करते हो वह अमर है। रोज देखते हो आप सुषुप्तिके समय जब गाढ़ी निद्रामें सो जाते हो तब आपके लोभका पता नहीं लगता, मोहका पता नहीं लगता, कामका पता नहीं लगता, आपके माने हुए जो झूठे ईश्वर हैं सो सब खो जाते हैं-तुम्हारे मनके सोनेके साथ सब-के-सब खो जाते हैं, मगर तुम तब भी जागते रहते हो। लेकिन, उस जागनेवालेके बारेमें न जानकरके तुम यह मनके साथियोंको, मनके दोस्तोंको जो अपना प्यारा समझते हो और उनके मोहमें, काममें, लोभमें, क्रोधमें ग्रस्त होकरके मोहवश उन्हींको हमेशा रहनेवाला और हर जगह रहनेवाला समझते हो कि यह जो मनकी गल्ती है कि इस मनको, इस गलत मनको, इस गलत दावा करनेवाले मनको छोड़ना पड़ेगा। असलमें यह मन पिशाच है, न बाहर है, न भीतर है और न दोनों जगह है-यह एक कल्पना है, एक प्रीतिति है, यह एक फुरणा है, दरअसल इसका कोई अस्तित्व नहीं है।'

प्रवचन : 5.2

मनसे उपास्य ब्रह्म नहीं है :

इन्द्रियोंसे जो चीज अनुभवमें आती हैं–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इनका भाव और अभाव-इन्हींको यह जीव सब कुछ समझ बैठता है और अपने आपको भूल जाता है! आपको एक बहुत मामूली बात में सुनाता हूँ-पहले (पूर्वाश्रममें) हम खेतोंका काम करते थे। तब हम घरमें थे और हमारी 17-18 वर्षकी उम्र थी-घरमें दूसरा कोई बड़ा तो था नहीं, इसलिए खेतीका काम मैं देखता था। खेतमें कितना बीज पड़ा और सिंचाईमें क्या खर्च हुआ और उसकी बुवाईमें, कटाईमें, मजदूरीमें क्या खर्च हुआ और क्या पैदा हुआ-यह सब तो मैं जोड़ लेता था, लेकिन, उसमें साल भर जो मैंने काम किया उसकी भी कुछ मजदूरी होती है यह बात बिलकुल मेरे ख्यालमें नहीं आती थी–बीजकी कीमत होती थी, मजदूरी होती थी, सिंचाईकी कीमत होती थी, लेकिन मैं अपनी कीमत उसमें भूल जाता था। और जब उसमें मैंने अपनी कीमत जोड़ी तो हमको ऐसा लगा कि हम खेतीमें घाटेमें रहते हैं! तो यह मनुष्य संसारके विषयोंको कितनी कीमत देता है! संगीत सुननेके लिए यह कितना खर्च करता है-आप कहोगे कि हम बिलकुल खर्च नहीं करते हैं-ऐसा नहीं है; अगर आप रेडियो घरमें रखते हैं, सुनते हैं संगीत, तो आप संगीत सुननेके लिए खर्च तो करते ही हैं, अच्छा, घरके लोग हमसे मीठा बोलें, इसके लिए आप कितना समय, कितना पैसा, कितना मुवायजा देते हैं–चलो भाई, इसके मनकी मान लो, कि ये हमसे कडुआ नहीं बोलें इसके लिए अपने मनको कितना दबाते हो, अपने मनकी कीमत नहीं करते हो, हमको मीठी-मीठी बात सुननेको मिले, इसके लिए अपने मनको भले कडुआ कर लें; लेकिन कानको मीठा सुननेको मिले! तो कानकी कीमत बहुत ज्यादा बढ़ जाती है। संसारमें जो हम यह अपना जीवन व्यतीत करते हैं-हड्डी, मांस, चाम, मूत्र और विष्ठाकी प्रधानतासे-इसमें रोग आता है, इसमें मौत आती है, इसमें वियोग आता है, इसमें बड़ी भारी कीमत चुकानी पड़ती है-कभी मनमें भय होता है-सम्बन्धियोंकी वजहसे ही तो होता है, देहकी वजहसे ही तो होता

है; कभी मनमें शोक होता है-तो सम्बन्धियोंकी वजहसे ही तो होता है; तो जने-जनेसे सम्बन्ध जोड़ करके, एक-एक चीजसे सम्बन्ध जोड़ करके तुच्छ चीजोंके लिए हम अपने अन्तरङ्गको-अपने आपको दुःखी बनाते हैं।

एक बार मैंने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे कहा कि अमुक-अमुक व्यक्ति जो हैं वे निन्दा करते हैं। वे बोले कि तुम मच्छरोंकी बोली क्यों समझते हो? मच्छर अपनी भाषामें बोलते हैं, उनके डंक हैं, उनके जहर हैं, वे अपनी भाषामें बोलते हैं, तुम उसको समझनेकी कोशिश क्यों करते हो? एक महात्माके वचन मैंने पढ़े थे–कि तुम्हारे बारेमें दूसरा कोई जो कुछ कहे उसको कहने दो, उसकी जीभ पकड़नेका तुमको अधिकार नहीं और वह जो करता है सो उसको करने दो, उसके कर्मको रोकनेका तुमको कोई अधिकार नहीं हैं; और दुनियामें जो होता है सो होने दो,जो कहा जाये सो कहा जाने दो, जो किया जाये सो किया जाने दो, जो होय सो होने दो-तुम कोई दूसरेके कर्मके ठेकेदार हो; क्या उसने तुमको कोई पट्टा लिख दिया है, क्या उसके तुम जज हो? तो, जब मनुष्य अपने आपको झूठ-मूठ दूसरी चीजोंका जिम्मेदार मान लेता है तब दिन भरमें उसको कई बार दुःखी होना पड़ता है और कई बार सुखी होना पड़ता है-

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे-दिवसे मूढं आविशन्ति न पण्डितम्॥

हजार बार शोक-ग्रस्त होना, सौ-सौ बार दिन भरमें दुःखी होना, भयभीत होना–यह मूढ़ मनुष्यका काम है, यह बुद्धिमान मनुष्यका काम नहीं है। जब कभी हम दुःखी होते हैं तब जो काम हमारे जिम्मे नहीं है उसको अपने जिम्मे ओढ़कर दुःखी होते हैं। अच्छा, शरीरकी आयु क्या तुम्हारे हाथमें है? देखो, आजकलके बड़े-बड़े बुद्धिमान लोग कहते हैं कि बुड्ढोंको मरने न दें–माने ऐसी-ऐसी दवा निकलो कि सौ-दो-सौ वर्षकी उम्र हो जाये, चार सौ वर्षकी उम्र हो जाये-और नये बच्चों को आने न दें! माने नयी कौम, नयी बुद्धि, नयी प्रतिभा, नया नेतृत्व, नया आविष्कार करनेवाले जो आनेवाले हैं उनके आनेमें रुकावट डालते हैं और अस्सी-अस्सी, नब्बे-नब्बे, सौ-सौ, डेढ़-डेढ़ सौ वर्षके बुड्ढे लोग–जो जिन्दा हैं उनको बनाये रखनेमें

विज्ञानका उपयोग किया जाता है। तो ऐसा क्यों है? कि ऐसा इसलिए है कि अपने देहसे हमें बड़ा भारी मोह है, हम मरना नहीं चाहते हैं; सम्बन्धियोंका दुःख क्यों है, विषय-भोगका दुःख क्यों है, मरनेका डर क्यों है, शरीरके वियोगका डर क्यों है–इसलिए कि अपने मैंका जो असली स्वरूप है उसको हम नहीं जानते हैं, केवल अज्ञान ही इसमें हेतु है।

आप इस बातपर ध्यान देना कि आपके सम्बन्धी हमेशा आपको परीक्षा-भवनमें ही रखते हैं–आपका जिससे सम्बन्ध है सृष्टिमें, उनका आपने पचास वर्ष उपकार किया है, पच्चीस वर्ष उपकार किया है; पर वे आपको हमेशा परीक्षा-भवनमें ही रखते हैं-आज एक बार आप उनके मनके अनुरूप मत करो, उनके मनके विपरीत करो, देखो क्या दशा होती है आपकी! हमको अपने वचपनकी एक घटना याद है। एक सज्जन थे, वे हमारे पितामहके पास वर्षोंसे आते थे–मैं 9-10 वर्षका था तबकी यह बात है और हमारे 15 वर्षकी उम्रतक वे आते रहे, फिर बादमें वे मर गये। तो, हमारे बाबा उनको कुछ देते थे, पर उनके मनमें भी कुछ लालच थी, वे बिलकुल निःस्वार्थ देते हों ऐसी बात नहीं थी–उसको कभी सौ रुपया देते, कभी पचास देते, कभी दस देते और कभी दो सौ भी देते और कभी जब उनका 'मूड' नहीं होता तो दो रूपया भी देनेको मना कर देते-वे देते तो इस स्वार्थसे थे कि उस आदमीकी जमीन हमारे गाँवमें थी, तो धीरे-धीरे जब उसके ऊपर ज्यादा कर्ज हो जायेगा तब उसकी जमीन लें लेंगे-स्वार्थ तो उनका यह था और जो लेनेवाला था उसको तो जरूरत पड़ती थी तो वह लेता ही था। तो कभी 100 देते, कभी 50 देते, कभी 200 देते, लेकिन कभी-कभी रूपया भी देनेको मना कर देते; तो जिस दिन दो रूपया देनेको मनाकर देते उस दिन उस आदमीका व्यवहार जो है सो देखते ही बनता था-वह हाथ-पाँव पीटे, यह चिल्लाये कि हम मर जायेंगे और हमेशाका जो दिया हुआ था उसपर बिलकुल पानी फेर देता। तो यह मनुष्यका स्वभाव कृतज्ञ होनेका नहीं है। आप जिनसे प्रेम करते हो वे रोज आपकी परीक्षा लेंगे कि आप प्रेम करते हो कि नहीं और एक दिन भी यदि आप फेल हो जाओगे तो पच्चीस वर्षका तो प्रमाण-पत्र आपको मिला हुआ है वह एक दिनमें कट जायेगा-संसारका कोई सम्बन्धी सच्चा नहीं है, कोई प्रेमी सच्चा नहीं है। ये जो आज

मित्र हैं वे कल शत्रु हो जायेगे और जो आज शत्रु हैं वे कल मित्र हो जायेंगे! मनके द्वारा हम जिन-जिन चीजोंको पकड़ते और छोड़ते हैं वे हमारा साथ नहीं दे सकते। अच्छा, तो कहो कि मन ही साथ देगा, तो भाई अपनी बात आपको बताते हैं, कि हम अपने मनसे जब कोई बात सोचते हैं तो कह भी देते हैं, कि देखो भाई, हमारे मनमें इस समय यह बात है, अब आगे रहेगी कि नहीं रहेगी हम नहीं कह सकते; इसका कोई ठेका हम नहीं ले सकते कि हम हमेशा इस बातके वचन-बद्ध हो गये हों! देखो, लड़के-लड़कीमें बहुत प्रेम होता है और वे वादा करते हैं जिन्दगी भरके लिए और यह भी कहते हैं कि हम मर भी जायेगे तो भी भूत होकर भी साथ-ही-साथ रहेंगे और फिर जन्मेंगे तब भी साथ-ही-साथ रहेंगे, लेकिन, दो-तीन वर्षके बाद, वह प्रेम ढीला पड़ जाता है- मनके वेगमें स्थायित्व नहीं है, मनमें कभी कुछ आता है, कभी कुछ आता है। तो यह बात आपको समझनी चाहिए कि यह मन परिवर्तनशील है। यह शरीर दिन-दिन छीज रहा है, मृत्युके पास जा रहा है, क्षण-क्षण इसकी उम्र घट रही है और प्राण बहती हुई हवाके आधारपर टिका हुआ है और मन क्षण-क्षण बदलता जा रहा है-इनको आप 'मेरा' बनाकर यदि सुखी होना चाहते हैं और इनको मैं मानकर यदि सुखी होना चाहते हैं तो आप हाथसे आकाशके तारे तोड़ना चाहते हैं, इनको स्थिर करके आप कभी सुखी नहीं हो सकते। हमने पचास वर्ष उपासना करनेवालेको देखा, ऐसे योग-सिद्ध पुरुषको देखा जो दूसरेके मनकी जान जाये, जिसके मनसे संकल्प करनेपर वस्तु उत्पन्न हो जाये, मनमें संकल्प आने पर दूसरे मनुष्य नाचने लग जाये, क्रिया करने लग जाये, लेकिन, उनका मन भी उनके काबूमें हमेशा रहे—यह नहीं देखा! तो, जो लोग ऐसा सपना देखते हैं कि हम अपने मनको काबूमें करके चार पीढ़ीके लिए पैसा इकट्ठा कर लेंगे तो हम सुखी हो जायेंगे-अरे, वह घुन जायेगा। तुम सोचते हो— सौ वर्षके लिए निरोग रह लेंगे तब सुखी होंगे कि तुम पाँच दिन तो निरोगी रह ही नहीं सकते, नहीं तो डाक्टरोंकी जीविका ही चली जाये! मैंने किसी अखबारमें पढ़ा था कि—डाक्टरके पास मरीज आने चाहिए; क्योंकि डाक्टरको जिन्दा रहना है, अगर मरीज न आवे तो डाक्टर मर जायेगा; और जो दवा बेचनेवाले हैं उनके पास दवा खरीदनेवाले आने चाहिए, क्योंकि उसको जिन्दा

रहना है, न आवें तो बेचारोंकी दुकान नहीं चले, उजड़ जाये; और रोगीने कहा कि हमको दवा नहीं खाना चाहिए, खरीदकर फेंक देना चाहिए–क्योंकि हमको भी जिन्दा रहना है। तो यह एक दूसरेका जिन्दा रखनेकी जो प्रवृत्ति है-यही संसारका स्वरूप है। चाहे जितना भी तुम दुनियामें मन लगाओ–चाहे प्राणायामसे स्थिर करो, चाहे प्रत्याहार करो, धारणा करो, ध्यान करो, समाधि लगाओ, लेकिन 'दृश्यते पुनरुत्थितम्'–मन वहाँसे फिर उठेगा; कहो कि नहीं उठेगा-एक कल्पना कर लो कि नहीं उठेगा-अगर मन समाधिमें-से न उठे तो तुम मर गये, मौत हो गयी, फिर मनकी स्थिरताका सवाल ही कहाँ रहा और अगर फिर तुम जागते हो तो फिर वही दुनिया तुम्हारे सामने आती है; तो तुम्हारे व्यवहारका आधार समाधि कभी नहीं बन सकती-या तो तुम मृत्युका वरण करो–ऐसे समाहित हो जाओ कि मर जाओ-और या यह स्वीकार करो कि तुम्हारी जीवन-पद्धतिका आधार समाधि कभी नहीं हो सकती। कहो कि हमारी जीवन-पद्धतिका आधार दूसरेसे प्रेम होगा-तो हम कहते हैं कि इससे बढ़कर बेवकूफी दुनियामें और कुछ नहीं हो सकती। क्या तुम गुलामी मोल लेना चाहते हो? दूसरेसे प्रेम करके जीवन-निर्वाह करनेकी जो पद्धति है वह तो गुलामीकी पद्धति है, पराधीनताकी पद्धति है; तुम कब तक अपने मनको मार करके दूसरेके मनके अनुसार चलोगे? हम बिलकुल लौकिक दृष्टिसे यह विचार कर रहे हैं, वेदान्तकी दृष्टिसे नहीं-समाधिके आधापर जो जीवन-निर्वाहकी पद्धति है, वह फिर समाधिसे उठनेके बाद वही खाना चाहिए, वही पीना चाहिए, बल्कि कुछ घी ज्यादा चाहिए, कुछ बादाम ज्यादा चाहिए, क्योंकि जठराग्नि जो है वह ज्यादा प्रज्ज्वलित हो जाती है; नेती धोती करनेसे पेटकी सफाई कुछ ज्यादा होती है, ज्यादा मक्खन चाहिए खानेके लिए। आप योगियोंसे मिलकर देख लो–योगी जैसे व्यायाम करनेवाले पहलवानको बादाम और घी चाहिए वैसे ही प्राणायाम और आसन करनेवाले योगीको मक्खन व बादामकी जरूरत पड़ेगी। और प्रेम जो है–एक दूसरेकी पराधीनता-इसमें न गुरु-चेलेका कोई लिहाज करने लायक है, न मित्र-मित्रका, न पति-पत्नीका-चेले भी स्वतन्त्र होनेके लिए गुरुकी सेवा करते हैं, जिन्दगी भर पराधीन रहनेके लिए नहीं; तो, यह जीवनकी पद्धति नहीं है, हमेशा आप यज्ञ-यागादिमें ही होम करते हुए नहीं रह सकते।

जीवनकी जो पद्धति है वह जीवनको सुखी रखनेके लिए-व्यावहारिक रूपसे धर्मसे भी सम्बन्ध होवे, व्यावहारिक रूपसे प्रेम भी होवे, व्यावहारिक रूपसे एकाग्रता भी रहे, बिना असंगता सबमें रहे-बिना समाधिके भी आप जिन्दा रहें, बिना प्रियतमके भी आप जिन्दा रहें, बिना धर्मके भी आप जिन्दा रहें, बिना किसीकी गुलामी किये भी आप जिन्दा रहें–यह जीवनकी सच्ची पद्धति होगी। अपने आत्माको आप जबतक उदासीन नहीं करेंगे–उत् माने ऊपर और आसीन माने बैठना-ऊपर बैठे हुए–द्रव्यकी धाराको, धनकी, कर्मकी धाराको हवाकी तरह आने और जाने दो, और ये जो सम्बन्धी हैं इनको बिलकुल चौपाटीपर चलते हुए लोगोंके समान देखो–

सबसे मिलिये सबसे जुलिये सबका लीजिये नाम।
हाँजी-हाँजी करते रहिये बैठिये अपने ठाँव॥

जिसके अन्दर स्वातन्त्र्य नहीं आवेगा–आप चाहे जिससे भी प्रेम करके देख लीजिये, यदि आप दूसरोंसे प्रेम करते हैं तो उसको छोड़करके आपको सोना पड़ेगा और यदि आप जिद् करेंगे कि हम तो अपने प्रियतमको देखते ही रहेंगे और उससे बात ही करते रहेंगे और उसके साथ व्यवहार ही करते रहेंगे तो क्या होगा? कि तब 'शॉक' लगवानेकी जरूरत पड़ेगी–बिजलीका शॉक लगवाना पड़ेगा दिमागमें कि इनको नींद नहीं आती है और जब आपको नींद आवेगी तब आपके सारे प्यारे-प्रियतम, सारे देवी-देवता बाहर-के-बाहर धरे जायेंगे–सुषुप्तिमें ये कोई प्रवेश नहीं कर सकते। अच्छा, कहो कि हम सुषुप्तिमें ही निरन्तर रहेंगे कि तब तुम मौत पसन्द करते हो; यदि यह पसन्द करते हो कि हम हमेशा सुषुप्तिमें, समाधिमें रहें तब तुम मृत्युको पसन्द करते हो और यदि तुम यह पसन्द करते हो कि हम हमेशा इनको देखते ही रहें; इनके बारेमें सोचते ही रहें, तो तुम अपनेको गुलाम और पागल बनाना चाहते हो। इसलिए जो चीज बाहरसे मनमें आती है और मन आकारको ग्रहण करके जिसमें बाहर आता है–वे दोनों सत्य नहीं हैं। मनको दोहरा कर लो–कुछ बाहरसे मनमें आता है, कुछ मनमें-से बाहर जाता है, जैसे कि यह हमारा प्यारा है! अब बाहर एक हड्डी-मांस-चामका पुतला खड़ा है और तुम कहते हो कि यह हमारा प्यारा है, तो, यह प्यारा कहाँसे आया? यह बाहरवाली

चीजमें-से नहीं निकला, मनमें-से निकला। अपनी वासनाके अनुकूल उसमें दिखा होगा, कुछ मूल्यांकन हो गया होगा, तभी वह प्यारा लगा होगा! हम आपको वेदान्तकी कोई गूढ़-बात नहीं बता रहे हैं, यह तो बिलकुल सीधी-सरल बात है। ये बानिये लोग क्या मूल्यांकन करते हैं–बोले-देखो जी, हम तो पाँच रुपयेके लिए चोरीकर लेते हैं, बेईमानी कर लेते हैं। छल-कपट कर लेते हैं–हमसे तो पाँच रुपया नहीं छूटता और इस आदमीने पाँच रुपया छोड़ दिया तो यह हमसे बहुत बड़ा है–मूल्यांकनकी यह एक पद्धति है कि जो हम नहीं कर सकते–अपनेमें जिस वस्तुका अभाव दिखता है वह जब दूसरेमें दीखती है तब उसको हम महत्त्वपूर्ण समझने लगते हैं। लेकिन, जो चीज हमारे अन्दर है और वह उसके अन्दर नहीं है तो हम भी उसके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है; अपनी महत्ताको छोड़कर दूसरेका जो मूल्यांकन किया जाता है वह अपना अधूरापन प्रदर्शित करता है। मैंने आपको सुनाया कि खेती करते समय हम बीजका दाम गिन लेते, मजदूरका दाम गिन लेते, सिंचाईका दाम गिन लेते, बैलका दाम गिन लेते; लेकिन अपनी तनख्वाह नहीं गिनते थे, तब उसमें फायदा मालूम पड़ता था और जब हमने अपना मूल्यांकन उसमें रखा, अपनी तनख्यावह गिन ली तब हमको खेतीमें घाटा मालूम पड़ने लगा। तो आप संसारमें यह जो दूसरोंकी सेवामें लगे हुए हो, दूसरोंके प्रेममें लगे हुए हो, समाधि चाह रहे हो–यह जीवनका एक अङ्ग है और यह भी आवश्यक है, परन्तु एक अङ्ग है, वह पूर्णाङ्ग नहीं है।

नारायण, मन गया संसारमें और संसार आया मनमें-'मैं इसके बिना नहीं रह सकता' यह जो तुम्हारे मनमें मालूम पड़ता है–वह क्या हुआ कि वह 'बाहर'से तुम्हारे मनमें घुस गया और 'यह हमारा प्यारा है–ऐसा जो लगता है, उसमें तुम्हारा कलेजा निकल करके बाहर चला गया–प्रेमी सबसे ज्यादा हृदयहीन होता है। क्यों? बोले कि उसके पास तो दिल ही नहीं है, वह तो अपना दिल दूसरेको दे चुका-जिसने भूलसे अपना दिल दूसरेको दे दिया वह दिलदार नहीं रहा, वह तो अहृदय हो गया, सहृदय नहीं रहा; और जिसने दूसरेको लाकर अपने कलेजेमें बैठा लिया उसने क्या किया आँखमें जरा-सी किरकिरी पड़ जाती है तो कितनी तकलीफ होती है और तुम्हारे हृदयमें समूचा

आदमी आकर बैठ जाये तो तकलीफ नहीं होगी? तो, हमारे वेदान्तका अभिप्राय यह है कि आप अपने जीवनके रहनेकी जो पद्धति है उसपर विचार करो, उसमें बहुत संशोधन करनेकी जरूरत है-यह वेदान्त जीवनके जीनेकी कला है। कला यह है कि बहते हुए को पकड़ो मत और आते हुए को रोको मत; जो जा रहा है उसको पकड़कर रोको मत और जो आ रहा है उसको आनेसे रोको मत-जो जा रहा है उसको जाने दो और जो आ रहा है आने दो। बोले कि मौत आ रही है। क्या आने दें? हाँ, आने दो, आप क्या समझते हैं कि अबतक आपने कभी मौतका सामना नहीं किया है? मौत तो ऐसी है कि जैसे आप दिन भरमें दो-तीन कुर्ते बदल लेते हैं, जैसे साड़ी बदल लेते हैं। और समाधि ऐसी है जैसे आप रोज सो लेते हैं–कितनी समाधियाँ आयीं और गयीं और कितनी पोशाकें आयीं और गयीं और कितने लोग आये और गये! तो–

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।

हमने ब्रह्मलोक देखा, स्वर्ग-लोक देखा, नरक-लोक देखा, तमो-लोक भी देखा-यह देहमें 'मैं' करनेसे बढ़ करके और कोई पाप नहीं हैं–संसारमें किसी वस्तुको बनाये रखनेकी इच्छा पाप है और किसी भी परिच्छिन्न वस्तुको मैं समझना-महा पाप है–

यो यथा सन्तमात्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

वह चोर है, वह आत्मापहारी है, जो है कुछ और समझ रहा है अपने आपको कुछ और। तुम क्या जाग्रत्वाले हो? जाग्रत्वाले हो तो फिर सपनेमें क्यों जाते हो? तुम क्या सपनेवाले हो? तो फिर जाग्रत्में क्यों आते हो? कि तुम जाग्रत्वाले और सपनेवाले दोनों हो? कि फिर सुषुप्तिमें क्यों जाते हो? कि तब तुम सुषुप्तिवाले हो? तो इन दोनोंमें क्यों आते हो? तुम एक ऐसी चौथी चीज हो जो जाग्रत्के सुख-दुःखसे और वस्तुओंसे और सम्बन्धोंसे न्यारी है–सपनेके मिलनेवालोंसे, सुखसे और दुःखसे और सम्बन्धसे जो न्यारी है, जो सुषुप्तिमें-घोर अन्धकारमें रहनेवाले प्रकाशसे भी न्यारी है। यह सम्बन्धसे जहाँ वस्तुकी सूचना दी जाती है वह तटस्थ लक्षण ही है, उससे

बिलकुल सच्चे नोट थे और बीचमें नकली नोट थे। अब वे गड्डी रख दी गयीं, सौदा हो गया–वर्ष-छह महीनेके बाद जब देखा गया तब मालूम हुआ कि चौदह लाख रुपए नकली हैं, अब कुछ कर नहीं सकते थे बेचारे, सौदा हो गया था, उनका कब्जा हो गया था–एक बात आपको बताते हैं। तो, पहले तो बड़ी खुशी हुई चौदह लाख मिल गया, बादमें मालूम हुआ कि नकली हैं तब बड़ा दुःख हुआ! लेकिन, यह संसार जो है यहाँ हम जिस सुखमें फँसे हुए हैं यह तत्काल तो असली मालूम पड़ता है लेकिन यह है नकली, इसके चक्करमें जो फँस जाता है उनका कहीं बचाव नहीं है और आत्म ज्ञानके सिवाय, आत्माके सिवाय और दूसरा कोई सत्य नहीं है, परमात्मा ही सत्य है, केवल आत्मा ही सत्य है। तो, बोले कि भई, उसको कहाँ ढूँढें? तो–'मुझको तूँ क्या ढूँढे बन्दे मैं तो तुम्हारे बिलकुल पास हूँ। तो ढूँढनेका एक तरीका देखो–

'यत्प्राणेन न प्राणिति'–जो प्राणसे प्राणवान नहीं होता-माने जो साँस चलनेसे जिन्दा नहीं रहता–प्राणिति माने जीवित रहता है–प्राणेन माने प्राणसे। एक चीज ऐसी है कि जो श्वास चले तब तो जिन्दा रहे और श्वास न चले तो मर जाये–यह क्या चीज है आप जानते हैं? आपका शरीर। आप लोगोंने पता नहीं मरते समय किसीको देखा है कि नहीं देखा है, देखा हो तो बहुत अच्छा–हमने मरते समय लोगोंको देखा है और बहुत पाससे देखा है, मुँह पर मुँह सटाकर देखा है–हमारे पितामह मर रहे थे तो उनको आँगनमें सुला दिया गया था–घरमें-से बाहर निकाल दिया था; हमारे पिता मरे तो गंगाके किनारे मरे–उनको उठाकर वहाँ ले जाया गया था और वहाँ उनका सिर फट गया और उसमें-से कुछ निकल करके गंगाजीमें गिरा–यह बात सैकड़ों आदमियोंके सामने हुई–फट गया सिर और कोई चीज निकल करके गंगाजीमें गिरी–माँसका लोथड़ा-जीवात्मा नहीं। जब हमारे पितामहकी मृत्यु हो रही थी तब पहले उनके पाँव काले पड़ गये, फिर छाती तक काला, फिर गले तक काला पड़ गया, फिर हाथ पाँव काले पड़ गये परन्तु मुँह-बिलकुल-जगमग हो रहा था, ज्योति हो रही थी–मैं बिलकुल पास सटकर देख रहा था। हमने देखा है कि लोग मरते समय नाकपर रुई लगाकर देखते हैं कि अभी साँस चल रही है कि नहीं, रुई हिले माने साँस चल रही है, जिन्दा हैं और रुई न हिले तो साँसका चलना बन्द

हो गया यानी कि मर गया। तो शरीरका जिन्दा-मुर्दा कब होता है? जब साँस चलती है तब जिन्दा रहता है और जब साँस नहीं चलती है तब यह शरीर जिन्दा नहीं रहता, क्योंकि साँसके बिना खून भी कैसे चलेगा? साँसके बिना हवा नहीं होगी और बिना हवाके कोई भी क्रिया किञ्चित् भी कैसे होगी? तो, यह शरीर क्रियासे शक्ति लेता है और क्रिया होती है साँससे। और स्वास न चले तब? वैरागी लोग तो बड़े ढंगसे बोलते हैं–'गते श्वासे विश्वासे कः प्रवर्तते'–

जब साँस शरीरके भीतरसे बाहर निकल जाता है तब क्या विश्वास है कि वह लौटकर आवेगा ही? बस, इतनी सी चीज है कि साँस बाहर निकलनेपर फिर उसको खींचनेके लिए फेंकड़ोंकी क्रिया शक्ति अपेक्षित है। फेंकड़ोंकी यह जो धैंकनी चल रही है वह पटकती है तो हवा बाहर निकलती है और फूलती है तो वह भीतर खिंच आती है–उसकी इस क्रियाशक्तिका कब लोप हो जायेगा इसका क्या पता है? बोले–शरीरकी तो यह हालत है और इसीके रिश्तेसे सब दुनियाके रिश्ते हैं–धन अपना है शरीरके रिश्तेसे; सगे-सम्बन्धी अपने हैं शरीरके रिश्तेसे; मकान, परिवार, जाति, बन्धु, इज्जत, कुर्सी–सब है इसी शरीरके रिश्तेसे और शरीर ऐसा है महाराज कि कुछ पता नहीं; दूसरेके मरनेपर हम रोते हैं और अपने मरनेको भूल जाते हैं; हमने दो वर्षके बच्चेको भी मरते देखा है, छह महीनेके बच्चेको भी मरते देखा है, और 15 वर्षके लड़केको, तीस वर्षके जवानको और 50 वर्षके, सौ वर्षके बुड्ढेको भी मरते देखा है–तो संसारमें मृत्यु छायी हुई है। क्या आपने कभी ऐसी चीजपर भी विचार किया है जो मृत्यु होनेपर भी नहीं मरता? उसीका नाम सत् है–मौतसे भी जिसकी मृत्यु नहीं होती उसका नाम है सत्; अज्ञानसे भी जो अज्ञानी नहीं होता उसका नाम है चित्; और दुःखके बादल मँडराते रहें–सारी सृष्टिमें दुःख छा जाये–दुःखोंके छानेपर भी जो दुःखी नहीं होता उसका नाम है–आनन्द। अज्ञानके अन्धकारमें भी जिसको दीखता है उसका नाम है चित्; दुखके तूफानमें भी जो दुखी न हो उसका नाम है आनन्द और मृत्यु चारों ओर छायी हुई है, उसमें भी जो अमृत है, अमर है उसका नाम है आत्मा। उसका ज्ञान करानेका अभिप्राय क्या है कि यदि तुम जान लोगे कि हम वही हैं तो चारों ओर तुम्हारे मृत्यु डोलती रहे तुम अमर होवोगे; अज्ञानका अन्धकार चारों ओर छाया होगा और तुम स्वयं प्रकाश

होगे; और दुःखका समुद्र उमड़ रहा होगा और तुम आनन्द स्वरूप होवोगे। इसीलिए इस ज्ञानकी प्रेरणा महात्माओंने दी, यदि आप इस जीवनमें ही इस ज्ञानको प्राप्त कर लें तो आप अजर-अमर हो जायें; आप स्वयं प्रकाश ज्ञानस्वरूप अपनेको अनुभव करें और आप परमानन्द स्वरूप हो जायें, ऐसा यह ज्ञान है।

तो, भाई यह ज्ञान कहाँ मिले? तो 'प्राणस्य प्राणः'—पहले ही बताया था। वह कौन है कि यह जो प्राण चलता है इसका वह प्राण है—प्राणका भी प्राण है माने प्राणका सार है। घड़ेका सार है मिट्टी; औजारका सार है लोहा; जेवरका सार है सोना; हमारे प्राणोंका सार है परमात्मा, आत्मा। अपने जीवनको भी छोटी दृष्टिसे मत देखो! यह जो द्रव्य है शरीरमें—हड्डी, माँस, चाम, विष्ठामूत्र—यह सब तमस्‌का परिणाम है और जो क्रिया है वह रजस्‌का परिणाम है और जो वृत्ति है वह सत्त्वका परिणाम है—इन्द्रिय-वृत्ति, मनोवृत्ति, बुद्धि-वृत्ति—ये सब सत्त्वके परिणाम है। परिणाम माने सत्त्वगुण ही इन-इनके रूपमें बदलता रहता है, सत्त्वगुणसे वृत्तियाँ होती रहती हैं, रजोगुणसे क्रियाएँ होती रहती हैं और तमोगुणसे द्रव्य बनता रहता है और ये तीनों साम्य-दशामें एक हैं, प्रकृति हैं—और इनका जो साक्षी है वह चेतन है। तो देखो, बिना गतिके सत्त्वमें भी परिणाम नहीं होगा, बिना गतिके क्रिया भी नहीं होगी, बिना गतिके द्रव्य भी नहीं बनेगा; उस गतिमें जो शक्ति है, बिना शक्तिके गति नहीं होती—उस गतिमें जो शक्ति है उसको बोलते हैं प्राण। कोई भी चीज हिलती है, हिलती दिखती है तो इसमें गति है और गति इसलिए है कि इसमें शक्ति है—सम्पूर्ण विश्वके स्पन्दमें यह जो शक्ति है उसका नाम प्राण है। ईश्वरका भी एक नाम प्राण है। ब्रह्मसूत्रमें सूत्र ही है—'अतएव प्राणः' (ब्र.सू.1.1.23) इसीलिए उपनिषदोंमें परमात्माका एक नाम प्राण है। क्योंकि ईश्वर सर्वका प्रेरक और संचालक है।

अब क्या बताते हैं कि 'प्राणस्य प्राणः'—वह (ब्रह्म या आत्मा) प्राणका भी प्राण है। शाक्त लोग प्राणके प्राणको कालीके नामसे बोलते हैं—काली तो आप जानते हैं ना—महाकाली, दक्षिणाकाली, कालशक्ति एक चित् वस्तु है और एक उसकी शक्ति है—चित्शक्ति, विमर्शशक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति—यह शक्ति महाकाली है वह चित् संयुक्त है अथवा शक्तियुक्तचित् है। बोले, क्या

इसीको वेदान्ती ब्रह्म बोलते हैं? कि ना; इसको वेदान्ती ब्रह्म नहीं बोलते हैं। आजकल तो ऐसा कह देते हैं कि जरा आँखके पीछे बैठ जाओ। कि क्या है वहाँ? कि यह यह जो पीछे बैठा हुआ है यह ब्रह्म है, कि यह कलेजेमें जो बैठा हुआ है यह ब्रह्म है; यह नाभिमें जो बैठा हुआ है वह ब्रह्म है। पहले ब्रह्म शब्दका अर्थ समझो–जिसमें देश नहीं, काल नहीं, वस्तु नहीं; जिसमें लम्बाई-चौड़ाई नहीं, परिपूर्ण है; जिसमें आदि-अनादि नहीं, अनन्त है; जिसमें कण और प्रकृति नहीं, जिसमें कण और महान (अध्यस्त) है, वह प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न जो तत्त्व है उसको ब्रह्म बोलते हैं। कैसे समझोगे उसे? तो, समझनेका तरीका है। देखो, उपनिषद्में ही समझाया है–

ऊर्ध्वं प्राणं उन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनासीनं विश्वे देवाउपासते॥

(कठ. 2.2.3)

जो प्राणको ऊपर खींचता है और अपानको नीचे भेजता है–एक वायु शरीरमें ऐसी है जो नीचेको जाती है, जिससे मल-मूत्र बाहर निकलता है, और एक वायु ऐसी है जो ऊपरको जाती है–ऊपरवाली नीचे जाने लगे तो आदमी जिन्दा नहीं रहेगा और नीचेवाली ऊपर आने लगे तब भी आदमी जिन्दा नहीं रहेगा–हार्ट-अटेक हो जायेगा। तो, जो चीज ऊपरवाली हवाको ऊपर भेजती है और नीचेवाली हवाको नीचे भेजती है वह कहाँ रहती है? कि वह प्राण और अपानकी सन्धिमें नन्हेमुन्ने वामनके रूपमें रहती है–वही वामन भगवान् जो बलिके यज्ञमें गये थे। जब उन नन्हें भगवान्का, वामन भगवान्का अनुभव होता है–तो मालूम पड़ता है कि वे वामन राम भी हैं, वे वामन कृष्ण भी हैं, वे वामन नारायण भी हैं–वे ही वामन ध्येय-मूर्ति हैं, उसीका पुराणोंमें वर्णन है–परब्रह्मके ध्येय-रूपको ही वामन बोलते हैं–मन्त्र है वेदमें–'वामनो विष्णुरातः' वामन ही विष्णु हो गये–विष्णु माने व्यापक। तो वे वामन जो हैं वे तो माँगते हैं कि ओ जीव, मेरा ध्यान कर; ओ जीव, तूँ अपना तन हमको दे; ओ जीव, तूँ अपना मन हमको दे–वे तो माँगते हैं–भिखारी हैं, छोटे हैं, लेकिन जब जीव उन्हीं नन्हें-मुन्ने वामनको अपना मन अर्पित कर देता है तब वे वामन नहीं रहते हैं त्रिविक्रम हो जाते हैं–एक पाँवमें लोकको नापते हैं, दूसरे पाँवमें परलोकको

नापते हैं और तीसरे पाँवमें अहंकारको नापते हैं और फिर त्रिविक्रम भी नहीं रहते, फिर भी लुप्त हो जाते हैं! यह वामनकी कथा वेदोंमें भी है, यह नहीं समझना कि पुराणोंमें ही है, दो-तीन-चार जगह है–'वामनो विष्णुरात'–कि हमलोग मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक तीनोंको वेदके रूपमें मानते हैं।

तो, अब यह देखो कि वामन कौन है? कि वामन तुम हो, औरोंकी बात छोड़ो वामन तुम हो–यही नाकसे गन्ध लेता है–यही है जो 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' कि 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते'–यही वामन है; 'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति'–यही वामन है; और 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'–प्रत्यगात्माका नाम वामन है। यह प्रत्यगात्मा जो है यही प्राण और अपानका विभाग करके दोनोंकी सन्धिमें रहता है। अपना आत्मा=प्रत्यगात्मा, माने अन्तरंग जो अपना आत्मा है, जिससे अन्तरतर अपना और कोई नहीं, शुद्ध मैं।

अब वेद कहता है कि इतनी बात तुमको अपने आप समझमें आ सकती है या किसीके बतानेसे भी समझमें आ सकती है कि मैं प्राण-अपानका साक्षी हूँ, मैं प्राण-अपानका द्रष्टा हूँ, प्राण ऊपर हैं, अपान नीचे है और मैं मध्यमें हूँ, प्राण बाहर है, अपान भीतर है और मैं बीचमें हूँ। तो यह काम तुम पहले कर सकते हो कि प्राण जीवन-दाता है, जन्मके समय प्रधान है और अपान मृत्युके समय प्रधान है और तुम? कि तुम जीवन और मरणसे मुक्त हो। कि यह ठीक है। यह जो प्राण-अपानसे विनिर्मुक्त तुम हो वह ब्रह्म है–इस बातको बतानेमें वेदका एक खास कर्त्तव्य है–जो वेदके प्रामाण्यको स्वीकार नहीं करते उनको यह बात किसी भी बुद्धिसे, किसी भी युक्तिसे, किसी भी इन्द्रियसे इसका साक्षात्कार नहीं हो सकता है–चाहे कोई युक्तियोंका पहाड़ लगा दे! नास्तिक लोग युक्तियोंका पहाड़ लगा देते हैं पर वह सब बुद्धिका विलास है; और योगी लोग बुद्धिको शान्त कर देते हैं तो वह बुद्धिकी बीजात्मक अवस्था है। न तो युक्तियोंके पहाड़का नाम वेदान्त है और न तो बुद्धिकी बीजावस्थाका नाम वेदान्त है, वेदान्त वह है कि जो तुम्हें पहले पूछता है कि जब तुम्हें खूब युक्तियाँ सूझती हैं तब तुम होते हो कि नहीं? कि मैं होता हूँ। कि जब युक्तियाँ सब शान्त हो जाती हैं और सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है, जब तुम

सविकल्प-निर्विकल्प समाधिमें जाते हो, जब तुम सबीज और निर्बीज समाधिमें स्थित हो जाते हो तब तुम रहते कि नहीं? कि मैं रहता हूँ। निर्बीज समाधिमें भी तुम रहते हो और मूढ़ता और विक्षेपमें भी तुम रहते हो। रहते हो ना? कि हाँ तो सारी अवस्थाएँ बदल जाती हैं और तुम रहते हो? कि हाँ ठीक है। सारे स्थान बदल जाते हैं और तुम रहते हो। सारे ध्यान मूलाधारमें कर लों, चाहे शून्य-शिखरमें कर लो, तुम रहते हो, तुम्हारे बिना ध्यान नहीं होगा। कि ठीक है। अच्छा, तो चाहे तुम खूब रोओ और अपनेको दुःखी समझकर छटपटाओ, अज्ञानी समझकर छटपटाओ तब भी तुम रहते हो और यदि तुम अपनेको खूब सुखी समझकर फूलो तब भी तुम रहते हो। कि यह जो जाग्रतमें, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें रहनेवाले तुम हो, यह जो मूढ़तामें, दुःखमें, सुखमें रहनेवाले तुम हो,यह जो विक्षेप और समाधिमें रहनेवाले तुम हो, तो यदि कोई कह दे कि तुम ही परम तत्त्व हो तो इससे काम नहीं बनेगा, भला, क्योंकि यह जो 'तुम' है वह सब शरीरमें अलग-अलग जो फुर रहा है, सब सूक्ष्म-शरीरमें अलग-अलग साक्षी हो रहा है—एक 'तुम' सबके सुखोंका तो साक्षी नहीं होता है, सबके दुःखोंका तो साक्षी नहीं होता हैं, सब शरीरमें तो नहीं होता है और सृष्टि और प्रलयमें भी तो देखनेमें नहीं आता है! तो वेदान्त एक ऐसी चीज बताता है, क्या बताता है कि यह जो 'तुम' है वही मैं है—देखो, हम जिसको तुम-तुम बोल रहे हैं उसको तुम सब लोग मैं-मैं बोलते हो—बोलते हो कि नहीं, सब अलग-अलग मैं-मैं-मैं बोलते हो और जिसको तुम सब लोग मिलकरके तुम बोलोगे (मेरे लिए) उसको मैं-मैं बोलता हूँ, तो असलमें तुम मैं है और तुम है—जिसका नाम मैं तुम रखता हूँ उसका नाम तुम मैं रखते हो और जिसका नाम मैं रखता हूँ उसका नाम तुम तुम रखते हो, तो असलमें तुम और मैं ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति हैं, यह शरीरके अलगावसे अलग-अलग मालूम पड़ता है, पर असलमें चीज एक ही है। जैसे, यह मोटा (बड़ा) आकाश और यह छोटा आकाश और यह कुलियाका आकाश और यह घड़ेका आकाश और यह कमरेका आकाश—यह कमरा, घड़ा और कुलिया अलग-अलग होनेसे आकाश अलग-अलग नहीं होता, इसी प्रकार आकाशका आधारभूत और आकाशका प्रकाशक और आकाशके रूपमें मालूम पड़नेवाला जौ चैतन्य है वह जुदा-जुदा नहीं होता है।

तो मेरे बाप, आप विचार करके देखो कि वेदान्त क्या बताता है। वेदान्त यह नहीं कहता है कि तुम हो–यह वेदान्तका कहना नहीं है, वेदान्त यह नहीं कहता है कि तुम जानते हो, वेदान्त यह भी नहीं कहता है कि तुम अपने प्यारे हो–आप वेदान्तकी बात समझनेकी कोशिश करो, जो बात किसी भी दूसरी तरहसे मालूम पड़ सकती है वही वेदान्त नहीं बताता, नहीं तो वेदान्तको शास्त्रकी दृष्टिसे अप्रमाणिक मानेंगे, अनुवादक मानेंगे–हमने आँखसे देखी घड़ी अरे बाबा इसमें तो शीशा ही नहीं है, हाथ लगानेसे मालूम पड़ा-वेदान्तकी यह रीति है कि जो आँखसे दिख जाता है, उसको तो आँख ही बता देती है वेदान्त क्यों बतावे, पीसे हुएको क्यों पीसे? शास्त्र अनुवादक नहीं होता है, दूसरे प्रमाणसे सिद्ध वस्तुको बतानेके लिए शास्त्रकी जरूरत नहीं होती। डाक्टरका रजिस्टर वही बताता है जो उसने रोगकी परीक्षा करके और उसपर दवा करके यह देख लिया है कि इस दवाने इसपर फायदा किया है, डाक्टरका रजिस्टर अनुवादक होता है–डाक्टरके अनुभवका अनुवाद होता है डाक्टरका रजिस्टर, लेकिन वेदान्त इन्द्रिय और मनके अनुभवका अनुवाद नहीं होता कि आँखने देखा लाल तो वेदान्त कह रहा है लाल और आँखने देखा पीला तो वेदान्त कह रहा है पीला–वह आँखका नौकर नहीं है, वह जीभका नौकर नहीं है, वह नाकका नौकर नहीं है, वह मनका नौकर नहीं है, वह बुद्धिका नौकर नहीं है–वेदान्त वह चीज बताता है जो किसी भी इन्द्रियसे जाग्रत और स्वप्नमें नहीं भासती और साक्षीको भी सुषुप्ति और समाधिमें जो चीज नहीं दिखायी पड़ती–युक्तियोंसे जो चीज नहीं दीखती और समाधिसे भी जो चीज नहीं दीखती वह चीज वेदान्त बताता है।

अब देखो कि वेदान्त कैसे बताता है–कि उसने कहा देखो, तुम यह अनुभव करते हो ना कि प्राण ऊपर जाता है और लौटता है? कि हाँ, अनुभव करते हैं। कि अपान वायु नीचे जाती है और लौटती नहीं है–यह देखते हो ना? अपानकी यह विशेषता आपको मालूम होनी चाहिए कि अपान वायु निकलकर लौटती नहीं है और प्राण-वायु निकल कर लौट आती है, तो यह दोनों बात तुमको मालूम पड़ती है? कि हाँ, मालूम पड़ती है! कि किसको मालूम पड़ती है? कि मैंको मालूम पड़ती है। बस, इतना ही तुमको युक्तिसे और समाधिसे

और सुषुप्तिसे मालूम पड़ सकता है कि मुझे प्राणका आना-जाना मालूम पड़ता है और तुमको यह भी मालूम पड़ सकता है कि आँख देखती है कि नहीं देखती है, और यह भी तुमको मालूम पड़ सकता है कि वाणी बोलती है कि नहीं बोलती है, तुमको यह भी मालूम पड़ सकता है कि मन सोचता है कि नहीं सोचता है, तुमको यह भी मालूम पड़ सकता है कि बुद्धि सोती है कि जागती है। तो, जिसको सब मालूम पड़ता है कि मैं द्रष्टा हूँ, इतना तो तुमको बिना वेदान्तके मालूम पड़ सकता है। कि मैं द्रष्टा हूँ, मैं साक्षी हूँ, मैं अनेकमें एक हूँ, मैं शान्तिका भी साक्षी हूँ, विक्षेपका भी साक्षी हूँ, मूढ़ताका भी साक्षी हूँ लेकिन, अपिरिच्छन्नता जो है–अपरिच्छिन्नता माने अखण्डता–अपनी अखण्डता तुम्हें अपने आप नहीं मालूम पड़ेगी। क्यों? बोले कि मैं इसका साक्षी हूँ, मैं इसका साक्षी हूँ, मैं इसका साक्षी हूँ, तो एक हुआ साक्ष्य और एक हुआ साक्षी–यह साक्षित्वका जो भाव है वह साक्ष्य सापेक्ष है, माने किसीके तुम साक्षी हो–कोई है जिसको जाननेवाले तुम हो, कोई अनेक है जिसमें एक तुम हो, कोई जड़ है जिसमें चेतन तुम हो, कोई दीखनेवाला है जिसके देखनेवाले तुम हो। असलमें यह जो अपने आप तुमको अनुभव हुआ यह द्वैतका अनुभव हुआ, यह अद्वैतका अनुभव नहीं हुआ, पर वेद तो अद्वैत बताता है–'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'–यह जो तुमने अपने आपको साक्षी, द्रष्टा, अनेकमें एक, जड़ोंमें चेतन, भास्योंमें भासक, दुःखोंमें आनन्द और मृत्युओंमें अमृतके रूपमें जाना है–यही जो तुम है ब्रह्म है, यही जो मैं है ब्रह्म है, यह जो मैं आत्मा है, यह जो तुम आत्मा है, यह जो तुम द्रष्टा है, यह जो मैं द्रष्टा है–इसको बाबा तुम एकाध इंचका मत समझना, यह एकाध इंचका नहीं है, यह तो देशका आश्रय है, देशकी कल्पनाका आश्रय है। इसमें भी फर्क होता है–देशका आश्रयत्व ब्रह्ममें है और कल्पनाका आश्रयत्व प्रत्यगात्मामें है और वेदान्त बताता है–अहं-माने कल्पनाका जो आश्रय हूँ मैं, वही ब्रह्म है–माने देशका आश्रय भी वही है, कालकी कल्पनाका आश्रय जो में है वही कालका आश्रय ब्रह्म है; वस्तुकी कल्पनाका आश्रय जो मैं वही वस्तुका आश्रय ब्रह्म है और ब्रह्म अद्वितीय है। अद्वितीय माने देशसे, कालसे, वस्तुसे वह परिच्छिन्न नहीं है। तो वेदान्तका अभिप्राय–'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुमासते'–इस अपने आत्माको इदंसे

विमुक्त करके, इदंके चंगुलसे छुड़ाकरके ब्रह्म बतानेमें है। इदं आत्माका विशेषण भी नहीं है, और इदं इसकी उपाधि भी नहीं है और इदंकी इसमें कल्पना भी नहीं है—ऐसा जो तुम्हारा मैं वह ब्रह्म अखण्ड है, वह अद्वितीय है, वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। परिच्छिन्न मैंका बोध समाधिसे हो सकता है, परिच्छिन्न मैं का बोध व्यवहारमें भी हो सकता है और समाधिमें भी हो सकता है, परिच्छिन्न मैंका बोध जाग्रत्-स्वप्नमें भी हो सकता है और सुषुप्तिमें भी हो सकता है, लेकिन इस परिच्छिन्न-सा भासनेवाले मैंको देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न और द्वितीय बतानेका काम वेदान्त करता है।

इसलिए यदि संसारका कोई भी नास्तिक और संसारका कोई भी आस्तिक, संसारका कोई भी वादी इस अर्थके वाक्यका मन-ही-मन विचार करेगा कि जो आत्मा है सो ब्रह्म है और जो ब्रह्म है सो आत्मा है—अंग्रेजी पढ़नेवाले अपने मनमें अंग्रेजीमें सोचते हैं और रसियन पढ़नेवाले रसियनमें सोचते हैं, हमारा भाषासे मतलब नहीं है, हृदयमें उदय होने वाली उस विद्यासे हमारा मतलब है जो किसीकी भी अपनी भाषामें हो सकती है—तो, उसको भी अद्वैत ज्ञान हो जायेगा और वह भी मुक्त हो जायेगा! मनुष्य ही नहीं यदि कोई चिड़िया भी, पशु भी, चींटी भी, एक कीड़ा भी यदि यह सोच सके कि जो मेरा मैं चैतन्य है, वह अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म है—यह यदि वह जान सके तो वह मुक्त हो जायेगा। और यदि कोई भी बात न जान सके तो दुनियाकी कोई भी उपासना, कोई भी समाधि, कोई धर्म, कोई युक्ति, कोई स्थिति उसकी मुक्तिकी प्राप्तिमें मददगार तो हो सकती है लेकिन वही पूर्ण-सत्य नहीं है, पूर्ण-सत्य केवल यह वेदान्त-प्रतिपाद्य जो तत्त्व है—यही है।

●

प्रवचन : 9.1

ब्रह्म, न ज्ञानका विषय है न ज्ञानका अभिमानी

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम्।
त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य
देवेष्वथु नु मीमाँस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥

(केन. खण्ड 2, मंत्र 1)

जो कुछ हेय है और जो कुछ उपादेय है—हेय माने त्याज्य और उपादेय माने ग्राह्य—जिसको हम छोड़ सकते हैं और जिसको हम पकड़ सकते हैं; तो हेय—जिसको छोड़ सकते हैं और उपादेय—जिसको पकड़ सकते हैं, वह भी आत्मा नहीं है, क्योंकि छोड़नेवाला-पकड़नेवाला जो मैं है उसका साक्षी आत्मा है और जो कुछ छोड़ा जा सकता है ओर जो कुछ पकड़ा जा सकता है वह भी विषय ही है, तो उसका जो अधिष्ठान है सो ब्रह्म है, वह खुद ब्रह्म नहीं है। इसलिए, एक बात तो बिलकुल पक्की कर लो कि विज्ञानके यान्त्रिक प्रत्यक्षकी—'साईन्स'की चाहे जितनी भी उन्नति हो, इससे न ब्रह्म सिद्ध होगा और न ब्रह्म कटेगा।

एक माता एक दिन पूछ रही थीं कि स्वामी जी, आप ग्रहण-ग्रहण करते हो, हमारे बच्चे कहते हैं कि यह पृथिवीकी सूर्यमें, चन्द्रमामें छाया पड़ती है, उससे ग्रहण लग जाता है—तो यह हमारे बच्चोंकी बात झूठी है कि सच्ची है? जो बात इन्द्रियोंसे अनुभवमें आती है और मनके ध्यानमें आती है और बुद्धिमें सोची जा सकती है और यन्त्रोंसे प्रत्यक्ष होती है, उस बातको छोड़ा भी जा

सकता है और पकड़ा भी जा सकता है–यन्त्रको, मशीनको हाथमें रख भी सकते हैं और फेंक भी सकते हैं, कई लोग अपनी आँख भी फोड़ा देते हैं, कई लोग ऐसी दवा खा लेते हैं कि उनका मन बेहोश हो जाये, कई लोग ऐसी चीज कर लेते हैं कि बुद्धि ही खराब हो जाय; तो अपनेसे अन्य जो वस्तु होती है वह छोड़ी भी जा सकती है, पकड़ी भी जा सकती है और वह मालूम भी हो सकती है और नहीं मालूम भी हो सकती है, लेकिन मालूम और न मालूम दोनोंका जो साक्षी है वह यन्त्रका विषय कभी नहीं होगा–यन्त्र माने मशीन यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र-ये सब नहीं, टोना-टोटकेकी बात नहीं है।

हमारे पास एक दिन एक सज्जन आये–प्रोफेसर थे–बोले कि महाराज, आत्माके साक्षात्कारका क्या उपाय हो सकता है? मैंने कहा-आत्माके साक्षात्कारका उपाय नहीं होता, आत्मा स्वयं साक्षात्कार-स्वरूप है, उसीको सबका साक्षात्कार हो रहा है, उपाय-अनुपायका भी साक्षात्कार उसीको होता है। भला आत्मा साक्षात्कारका विषय कैसे होगा? मैंने पूछा–किसने कहा तुमसे, आत्मा तो स्वयं साक्षात्कार है, वह साक्षात्कारका विषय नहीं है, उसीको सब मालूम पड़ता है।

अब, आपको इसके बारेमें सुनाते हैं। एकदिन एक आदमी आया कि महाराज, एक देवताने हमारे ऊपर कृपा की और मैं चिड़िया हो गया और चिड़िया होकर उड़ा। उड़ते-उड़ते-उड़ते मैं वहाँ पहुँचा जहाँ आकाशका अन्त मिलता है और जब आगे जानेकी जगह नहीं मिली, टकरा गया तब लौटकर आया और मैं आपसे कसम खाकर कहता हूँ कि मैंने आकाशका अन्त देख लिया है। आप मानेंगे उसकी बात? एक आदमीने कहा कि महाराज, हमको ईश्वरने एक ऐसा वरदान दिया कि तुम समूचा भूत और भविष्य देख सकोगे–तो मैंने ध्यान करते-करते देखा कि कालका अन्त हो गया है, उस समयपर काल पैदा हुआ ही नहीं था–यह मैंने देखा। तो आप मान लेंगे इस बातको? क्योंकि उस समयपर काल नहीं था तो 'उस समय' माने क्या हुआ? तो, जिस चीजका अन्त नहीं होता, जैसे आकाशका, अवकाशका, देशका, पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊपर-नीचेका-जिसका अन्त नहीं होता उसका अन्त अगर कोई देखकर आवे तो ऐसा वह गलत कहता है। कालका आदि और अन्त

होता ही नहीं है तो उसका आदि और अन्त कोई कैसे देखेगा! बोले—हमारी बुद्धिने वह अनुभव प्राप्त किया है। जब तुम्हारी बुद्धिकी उत्पत्ति नहीं हुई थी तब क्या था? कोई कहे कि हमारी बुद्धिने वह अनुभव किया है कि जब बुद्धिकी उत्पत्ति ही नहीं हुई थी, ईश्वरने बुद्धि कैसे बनायी यह मैं देख रहा था, तो बोले यह गलत बात है। तो भाई, अनुभवकी भी कुछ प्रक्रिया होती है, अनुभवकी कुछ मर्यादा होती है, अनुभवका कुछ स्वरूप होता है, आपसे कोई कहे कि कौआ कान ले गया और आप अपने कानको तो न देखें और डण्डा लेकर कौएके पीछे दौड़े, तो इससे बड़ी नासमझी और क्या होगी? इसी प्रकार अगर कोई कहे कि जब आत्मा नहीं रहता है उस अवस्थाको मैंने देख लिया, तब प्रश्न आता है कि किसने देखा? तुमने देखा कि किसी औरने देखा? बोले—मैंने देखा! कि तब तुम्हारी आत्माने ही तो देखा ना? तुम ऐसा कैसे कहते हो कि उस अवस्थाको मैंने देख लिया अब आत्मा नहीं था? इस समय याद किसको आ रही है? इसका मतलब यह हुआ कि आत्माके अभावको कोई नहीं देख सकता।

बोले कि एक दिन आत्माको मैंने अपनी हथेलीपर उठा लिया। हँसिये नहीं। जैसे आत्माको अपनी हथेलीपर लेना शक्य नहीं है, जैसे अपने कन्धेपर चढ़ बैठना शक्य नहीं है, वैसे ही अपने आत्माको हथेलीपर लेना शक्य नहीं है। जब हथेलीपर लेना शक्य नहीं है तब आँखमें भी लेना शक्य नहीं है। तब दिलमें लेना शक्य नहीं हैं। तब इसको बुद्धिका विषय बनाना भी शक्य नहीं है और तब इसको अपना विषय बनाना भी शक्य नहीं है। जैसे आप अपने आपको अपने कन्धेपर नहीं ले सकते। कि तब? आत्माके ज्ञानकी एक प्रणाली होती है, इसको दर्शनशास्त्रमें बोलते हैं—कर्तृ-कर्म-विरोध—जो कर्त्ता है वह कर्म नहीं हो सकता—स्वयं कर्त्ता अपना ही कर्म नहीं हो सकता। हम स्वयं अपने आपको ही विषय नहीं कर सकते। तो, इसका अर्थ यह होता है कि जो जो विषय होता है उसको छोड़ दीजिये और जो-जो विषय ग्रहण करनेके औजार हैं उनको छोड़ दीजिये—जो बच गया वह आप हैं, यह साक्षात्कारकी पद्धति हुई। विषयको, विषयके करणको और उनके अभिमानको छोड़ दीजिये—विषय और करणका जो भाव है और अभाव है, उसके साक्षी हैं आप और आपमें न देश

है, न काल है, न वस्तु है, इसलिए आपका न ओर है, न छोर है; न आदि है न अन्त है और न आपके सिवाय दूसरा कोई है—देशसे भी अपरिच्छिन्न, कालसे भी अपरिच्छिन्न और वस्तुसे भी अपरिच्छिन्न आप स्वयं हैं; आपको अपने आपको जानना नहीं है, आप स्वयं हैं। स्वयं किस रूपमें हैं? कि आप केवल द्रष्टा, केवल साक्षी, केवल अन्तःकरणावच्छिन्न नहीं हैं बल्कि अद्वितीय ब्रह्म हैं—यह बात वेदान्तने बतायी कि आप स्वयं अद्वितीय ब्रह्म हैं।

श्रीमद्भागवतमें वेद-स्तुतिमें एक प्रश्नोत्तर बहुत बढ़िया है—वेदने पूछा कि हे भगवान्, आप अपना अन्त जानते हैं कि नहीं? भगवान्‌ने कहा कि नहीं! वेदने कहा कि तब तो आप आज्ञानी हुए। तो भगवान्‌ने कहा कि अगर अन्त होता और उसे मैं जानता तब तो मैं अज्ञानी होता परन्तु चूँकि अन्त है ही नहीं इसलिए उसको न जानना अज्ञान नहीं है, यह तो हमारा ज्ञान है। यदि मैं अपने अन्तको जानता तो अज्ञानी होता, जब अन्त है ही नहीं तो वह जाना कैसे जायेगा?

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि
यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।

अब, ऐसी स्थितिमें एकको वेदान्त सुनते-सुनते यह अभिमान हो गया कि मैंने ब्रह्मको भली-भाँति जान लिया। भाई! तुमने क्या जान लिया? बोले—यह जान लिया कि मैं ब्रह्म हूँ। तो आप उससे लड़िये मत जो यह कहे कि यह बात मैंने जान ली है कि मैं ब्रह्म हूँ। हमारे एक बन्धुने कहा कि यह तो तुमको अहंकार हो गया, तुमने जाना क्या? वैष्णव लोग भी ऐसे ही कहते हैं, जैन लोग भी ऐसे ही कहते हैं कि यदि तुमको यह अभिमान हो गया कि मैंने ब्रह्मको जान लिया, तो मैंने जान लिया—यह तो अहंकार हुआ—तुम्हारी स्थिति ब्रह्ममें नहीं हुई, अहंकारमें हुई। कि बिलकुल ठीक। यही बात वेदान्त भी कहता है, इसमें न किसी जैनभाईसे लड़ाई करनेकी जरूरत है, न वैष्णव भाईसे लड़ाई करनेकी जरूरत है। वे कहते हैं कि 'अहं ब्रह्म' है यह बात तो ठीक है परन्तु, मैंने जान लिया यह तो अभिमान है, यह गलत है। वेदान्त ऐसे बोलता है कि आत्मा ब्रह्म है—'मुख्य सामानाधिकरण्य'से और जगत भी ब्रह्म है 'बाध सामानाधिकरण्य'से—यह तो है सत्य, परन्तु, मैंने ब्रह्मको जान लिया यह है

अभिमान–यह मिट जाना चाहिए, मैंने जान लिया–यह नहीं रहना चाहिए, क्योंकि तुमने ब्रह्मको अपने ज्ञानका विषय बनाया, तुमने ब्रह्मको अपनी बुद्धिकी सजवाटमें, अपनी बुद्धिकी शोभा बढ़ानेके लिए प्रयोग किया। लोग कहते हैं महाराज, हमारे कमरेमें नेहरूजीका फोटो लगा है, हालीवुडकी फलाँ अभिनेत्रीका फोटो लगा है, हमने अमुक नर्तकका फोटो लगा रखा है और अब चाहते हैं कि आपकी भी एक फोटो हमारे कमरेमें लगा दी जाय, उससे हमारे कमरेकी शोभा बढ़ जायेगी। इसमें जिसकी फोटो है उसकी शोभा नहीं हुई, कमरे की शोभा हुई! तो जिसने कहा कि हमने ब्रह्मज्ञानको बुद्धिके एक कोनेमें रख लिया उसने ब्रह्मकी शोभा नहीं बढ़ायी ब्रह्मको तो काट-छाँट दिया, छोटा बना दिया और अपनी बुद्धिको इतनी बड़ी बनाया कि उसकी सजावटके लिए जैसे लोग खिलौने खरीदने हैं वैसे ही एक खिलौना–ब्रह्म खरीद करके उससे अपने बुद्धिके कमरेकी शोभा बढ़ा ली। तो–

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम् ।

यह वेदका मन्त्र बताता है कि यदि तुमको यह ख्याल हो गया कि मैंने ब्रह्मको जान लिया तो तुमने एक छोटी चीजको जाना है। जब किसीको यह अभिमान हो जाता है कि मैंने तो समझ लिया, मैंने तो ब्रह्मको जान लिया, अब हमारे लिए कुछ जानकारी शेष नहीं है, तो इस अभिमानको तोड़नेमें बड़ी मुश्किल पड़ती है। वह तो महाराज, बड़ी कृपालु गुरु होवे, बड़ा अनुग्रह हो, बड़ी दया हो तो इस अभिमानको वह तोड़ दे, नहीं तो कहेगा–अभी जाओ बेटा, अभी थोड़े दिन इस अहंकारपर कुछ चोट खाओ, जब घायल होवोगे तब फिर आवोगे तुम! यह बड़े अनुग्रहका काम है कि कोई इस अहंकारको तोड़ दे, क्योंकि यह अहंकार जल्दी टूटता नहीं है। तुलसीदासजीसे किसीने पूछा कि महाराज, बताओ ज्ञानका स्वरूप क्या है? रामायणमें आप पढ़ लेना–

ज्ञान मान जहँ एकहुँ नाहीं।

बोले ज्ञान वह है कि जहाँ किसी प्रकारका मान नहीं है! तब जब वृत्तिमें अहंताका उल्लेख होता है कि 'अहं ब्रह्म जानामि'–मैं ब्रह्मको जानता हूँ, तो ब्रह्म हो गया घड़ा और तुम जैसे बोलते हो–'अहं घटं जानामि', 'अहं पटं जानामि', 'अहं प्रेमकुटीरं जानामि'–मैं घड़ेको जानता हूँ, मैं कपड़ेको पहचाना हूँ, मैं

प्रेमकुटीरको जानता हूँ, तो ऐसे ही ब्रह्मको तुमने काट-छाँट दिया–यह ब्रह्म नहीं है, यह तुम्हारे मनकी एक कल्पना है जिसको तुम जानते हो।

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम्।

शिष्यपर बड़ा भारी अनुग्रह करके यहाँ यह बात श्रुति कह रही है कि यदि तुम ऐसा मानते हो कि मैंने भली-भाँति ब्रह्मको जान लिया तो तुमने ब्रह्मको नहीं जाना–'दहरमेवापि नूनम्'–एक छोटी-सी चीजको जाना है, क्योंकि तुमने उसको अपने ज्ञानका विषय बनाया। ज्ञानका विषयत्व जड़में होता है, ज्ञानका विषयत्व विकारीमें होता है, ज्ञानका विषयत्व दृश्यमें होता है, ज्ञानका विषय सापेक्षमें होता है। हे भगवान्! यह तुमने क्या अभिमान मोल ले लिया? अब जरा तीन बातपर विचार करो–

क्या ब्रह्म ऐसी चीज है, जिसको घट-पट-मठकी तरह अपनी वृत्तिके पेटमें लिया जा सके?–एक प्रश्न!

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वृत्ति इतनी बड़ी है कि जैसे घड़ेमें व्याप्त होकर घड़ेको जान लेती है वैसे ब्रह्ममें व्याप्त होकर ब्रह्मको जान सके? यह दूसरा प्रश्न हुआ।

तीसरा प्रश्न यह है कि जैसे आदमीको कश्मीर देखनेका अभिमान होता है, स्विटजरलैण्ड देखनेको अभिमान होता है या किसी विशेष अभिनेत्री-अभिनेत्रीके देखनेका अभिमान होता है कि मैंने उसको देख लिया है वैसे ही क्या ब्रह्म-दर्शनका अभिमान भी हो सकता है कि मैंने उसे देख लिया है? माने ब्रह्ममें दर्शनकी योग्यता, वृत्तिमें ब्रह्म-दर्शनकी करणता और अपनेमें दर्शनका कर्तृत्व–ये तीनों हैं क्या–यह सवाल है।

तो देखो, अपना आपा ही ब्रह्म है इसलिए वह दृश्य नहीं है! जिस कल्पित ब्रह्मको तुमने जाना वह तो तुम्हारी कल्पना है और जिस वृत्तिमें कल्पना हुई वह वृत्ति परिचिछन्न है और जिसको अभिमान हुआ कि मैंने ब्रह्मको देख लिया है, वह तो जैसे घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे न्यारा हो जाता है वैसे ही ब्रह्मको देखनेवाला ब्रह्मसे न्यारा हो जायेगा। वह ब्रह्म क्या होगा यह तो सारी कट-पिट मच जायेगी। माने तुमको कोई पूरा थान कपड़ेका नहीं मिला, कट-पीस ही मिला है–भला!

मैं काशी गया था, वहाँ एक व्याकरणाचार्य पण्डित हैं–बड़े वृद्ध हैं–अब मैं दो वर्षसे नहीं कह सकता कि वे हैं कि मर गये–आचारी हैं–पूर्णचन्द्राचार्य उनका नाम था–नब्बे-पञ्चानबे वर्षकी तो उनकी उम्र हो गयी। जब हम बच्चे थे तब भी वे व्याकरण पढ़ाते थे और अब जब हम साधु होकर–पचास-पचपन वर्षके होकर काशी गये तब भी वे व्याकरण पढ़ाते थे–व्याकरणके बड़े अच्छे पण्डित थे। जब बहुत वृद्ध हो गये तब उनके मनमें यह अभिलाषा थी कि मैं उत्तर-प्रदेश-सरकारसे कह दूँ कि उनको निर्वाहके लिए कुछ दिया करे–इस इच्छासे वे मेरे पास वृन्दावनमें आये थे। तो उन्होंने एक बात यह मुझसे कही कि यहाँकी पण्डित-सभाने मेरा नाम काट दिया है स्वामीजी, तो पण्डितोंको जो समय-समयपर निमंत्रण-दक्षिणा मिलती है वह हमको नहीं मिलती है। कोई सेठ-साहूकार आते हैं तो पण्डितोंको दक्षिणा मिलती है, निमन्त्रण मिलता है तो हमको वह दक्षिणा-निमन्त्रण नहीं मिलता, तो आप राजेश्वर शास्त्री द्राविड़से कहकर हमारा नाम पण्डितोंकी सभामें लिखवा दीजिये। तो मैंने कहा कि आप व्याकरणके इतने बड़े विद्वान्–सैकड़ों विद्यार्थियोंको व्याकरणाचार्य बना दिया, भला आपका नाम राजेश्वर शास्त्रीने क्यों काट दिया? आपको तो सब जानते हैं, क्या राजेश्वर शास्त्री आपको नहीं जानते हैं कि उनसे मैं कहूँ? बोले–स्वामीजी, ऐसी बात हुई कि एक दिन वेदान्तका शास्त्रार्थ हो रहा था, तो वेदान्तके शास्त्रार्थमें यह हो रहा था कि जब यह जीव ब्रह्मको जान लेता है तब ब्रह्म ही हो जाता है; तो मैंने कहा कि जो घड़ेको जानता है सो घड़ेसे अलग रहता है, इसी प्रकार जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्मसे अलग रहता है–

यो हि घटं जानाति स घटाद् भिन्नो भवति।
एवमेव यो हि ब्रह्म जानाति स ब्रह्मणो भिन्नो भवति।

हमको राजेश्वर शास्त्रीजीने कहा कि पण्डितजी आप व्याकरणके विद्वान् हैं जब व्याकरणका कोई शास्त्रार्थ होवे तब उसमें आप बोलना, वेदान्तके शास्त्रार्थमें आप मत बोलो, क्योंकि इससे आपका परिचय नहीं है। तो उन्होंने दो-चार बार मना किया और मैं नहीं माना तो उन्होंने हमेशाके लिए पण्डित-सभासे हमारा नाम काट दिया। तो हमको यह सुनकर बहुत मजा आया, हमने

उनसे कहा कि अच्छा, पण्डितजी, हम कोशिश करते हैं कि आपका नाम पण्डित-सभामें फिरसे आजाय!

तो महाराज, यह वेदान्तका विषय बड़ा कठिन है। ब्रह्म घड़ेकी तरह नहीं है। घड़ा है। घड़ा जड़ है और वह चेतन आत्मासे प्रकाशित होता है, जब चेतन आत्मा नेत्र-वृत्तिके द्वारा घटमें व्याप्त हो जाता है—माने जब आँखसे हमने घड़ेको देखा और घड़ेकी शक्ल-सूरत हमारे मनमें आयी तो घटाकार वृत्ति हो गयी; तब घटाकर वृत्ति और वह जो मालूम पड़नेवाला घट—ये दोनों अन्तःकरणमें हैं—घटका आकार भी अन्तःकरणमें है और घटाकार-वृत्ति भी अन्तःकरणमें है, इसलिए जो वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है वही घटाकारावच्छिन्न चैतन्य है—माने हम अपने मनमें जो घड़ा देखते हैं वह और घड़ेको दिखानेवाली वृत्ति, दोनोंका साक्षी मैं ही हूँ; मुझमें ही वह घटाकार-वृत्ति और घटका आकार दोनों दिख रहा है; जो वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है वही आकारावच्छिन्न चैतन्य है, दो नहीं। इसी प्रकार यह जो प्रपञ्चका ज्ञान होता है, यह प्रपञ्चका ज्ञान कहीं बाहर जाकर नहीं होता। जिस समय ज्ञात अवस्थामें ज्ञातत्वकी उत्पत्ति होती है कि हमने घड़ेको जाना—उस समय आँख खुली रहे यह जरूरी नहीं है, ज्ञात घट तो होता है—ज्ञातत्व-विशिष्ट जो घट होता है वह अन्तःकरणमें होता है, बाहर नहीं होता है। आँखके रास्ते तो भीतर उसकी परछाँई ही पड़ गयी, लेकिन जिस समय घटमें ज्ञातत्व उत्पन्न होगा कि हमने घड़ेको जाना—उस समय घटाकार-वृत्ति और ज्ञात घट—दोनों अन्तःकरण देशमें ही होगा; एक ही कालमें घटाकार-वृत्ति और घट दोनों होंगे; माने वृत्तिसे जुदा घट नहीं है और जो वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है वही घटावच्छिन्न चैतन्य है। तो मनोवृत्ति और मनोवृत्तिमें विद्यमान घट दोनों अलग-अलग देशमें नहीं होते हैं, एक देशमें होते है, और उस देशमें उसका जो साक्षी होता है वह एक ही चैतन्य होता है।

अब, यह जो ज्ञात प्रपञ्च है नारायण! उसमें (प्रपञ्चमें) ज्ञातत्व तभी है जब हमारी वृत्ति प्रपञ्चाकाररूपसे परिणत हो गयी है। हमारी वृत्तिका प्रपञ्चाकार परिणाम ही प्रपञ्चका ज्ञान है—घट-ज्ञान क्या है कि घटाकार—वृत्ति; प्रपञ्च-ज्ञान क्या है कि प्रपञ्चाकार-वृत्ति। तो जो वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है वही प्रपञ्चाकारावच्छिन्न चैतन्य है—इसका अर्थ हुआ कि द्रष्टा चैतन्यमें और

अधिष्ठान-चैतन्यमें भेद नहीं है। वृत्तिके द्वारा जो द्रष्टा चैतन्य है सो और वृत्तिके द्वारा जो दृश्य-घट है उसको देखनेवाला जो चैतन्य है सो–ये दोनों दो नहीं हैं; प्रपञ्चके आकारका वही द्रष्टा है जो प्रपञ्चाकार-वृत्तिका द्रष्टा है, प्रपञ्चाकार वृत्तिका जो अधिष्ठान है वही प्रपञ्चाकारका भी अधिष्ठान है, इसलिए ईश्वरचैतन्य और जीव-चैतन्यमें चैतन्यरूपसे भेद नहीं होता–अधिष्ठानत्वेन–वह ईश्वर कहा जाता है और द्रष्टृत्वेन–वह जीव कहा जाता है; और असलमें जो द्रष्टा है वही ब्रह्म है और जो ब्रह्म है वही द्रष्टा है, ब्रह्म और द्रष्टामें कोई भेद नहीं है। परन्तु, इसमें ब्रह्म जान लिया इसके लिए तो कोई गुंजाइश नहीं है।

वेदान्तकी बात है इसलिए वेदान्तकी, उपनिषद्की प्रक्रिया थोड़ी बताते है–यह हमको जो ज्ञान होता है वह किस रीतिसे होता है? आप दीया लेकरके कमरेमें घड़ा देखने जाते हैं, तो दीयेकी रोशनीसे अन्धकार दूर होता है। दीयेकी रोशनी कमरेमें व्याप्त हो गयी और अन्धकार मिट गया; तो अन्धकारको मिटाना भर तो रोशनीका काम है और मैंने घड़ेको देख लिया यह आँखका काम है, यह मैंका काम और है। घड़ेके दर्शनमें दो क्रिया होती है–एक अन्धकार निवृत्त हुआ हमारी चक्षु-वृत्ति घटमें व्याप्त हो गयी–यह घड़ा है ऐसा ज्ञान हुआ; और एक्–मैंने घड़ेको जान लिया ऐसा ज्ञान हुआ–दो ज्ञान होंगे–अन्धकारकी निवृत्तिसे यह ज्ञान होगा कि यह घड़ा है और उसके बाद यह अभिमान होगा कि मैंने घड़ेको जान लिया। जब घड़ेका ज्ञान मैंके साथ जुड़ता है तब उसका नाम फल-व्याप्ति होता है और अबतक अन्धकारकी निवृत्ति होनेपर घटका साक्षात्कार-मात्र हुआ उसको वृत्ति-व्याप्ति बोलते हैं। इस प्रकार ज्ञानकी प्रणालीमें एक वृत्तिव्याप्ति होती है और एक फल-व्याप्ति होती है। तो, घटके ज्ञानमें तो अन्धकारकी निवृत्तिसे वृत्ति-व्याप्ति हो जाती है–अन्धकारकी निवृत्ति और वृत्ति-व्याप्ति एक क्षणमें हो जाती हैं–जिस क्षणमें अन्धकार-निवृत्ति उसी क्षणमें आँखने घड़ेको देख लिया; लेकिन, मैंने घड़ेको जाना–यह वृत्ति बादमें बनी। अब ब्रह्मज्ञानमें वृत्ति-व्याप्ति तो मानते हैं, फलव्याप्ति नहीं मानते–

फलव्याप्तित्वमेवायं शास्त्रकृद्भिर्निरावृतम्।
ब्रह्मणोऽज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्ति अपेक्षिताः॥

विद्यारण्य स्वामी बोलते हैं कि यह जो हम अपनेको ब्रह्म नहीं जानते हैं इस अज्ञानकी निवृत्तिके लिए वृत्ति-व्याप्ति तो अपेक्षित है माने अज्ञान मिट जाय इतना तो चाहिए, लेकिन घड़ा चूँकि अन्य है इसलिए वहाँ तो यह वृत्ति होती है कि मैंने घड़ेको जान लिया किन्तु यहाँ अज्ञानका नाश होनेपर ब्रह्म तो अन्य है ही नहीं, अपना आपा ही है, इसलिए मैंने ब्रह्मको जान लिया–यह फल-व्याप्ति नहीं होती है! यहाँ वृत्ति-व्याप्ति अज्ञानका नाश होना एक बात है और फल व्याप्ति–मैंने इस चीजको जान लिया-यह दूसरी बात है। तो जो आत्माको ब्रह्म न जानना-रूप अज्ञान है वह अज्ञान तो तत्त्वमस्यादि महावाक्य जन्य वृत्तिसे निवृत्त हो जाता है परन्तु मैंने ब्रह्मको जान लिया इस अभिमानकी उत्पत्ति नहीं होती है–फल-व्याप्ति नहीं होती है; ब्रह्म जाना नहीं गया और ब्रह्म जाननेवाला नहीं बना–क्योंकि न प्रपञ्चाकारके समान ब्रह्ममें कोई आकार है और न तो (ब्रह्माकार) वृत्तिमें वस्तु-सत्यता है, वह तो एक उत्पादित मिथ्या-वृत्ति है कल्पनाकी निवृत्तिके लिए–कल्पित-अज्ञानकी निवृत्तिके लिए एक कल्पित वृत्ति है। इसीलिए हम लोग यह बात कहते हैं और यह बड़ा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण है, मामूली नहीं है–कि यदि अज्ञान वास्तविक होता तो उसकी निवृत्तिके लिए वास्तविक ज्ञानकी जरूरत पड़ती; चूँकि बिना किसी प्रमाणके ही अज्ञानकी कल्पना हो गयी है–अज्ञान किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, यह अनुभव-सिद्ध है कि अहं ब्रह्म न जानामि–मैं ब्रह्मको नहीं जानता, मैं आत्माको नहीं जानता, मैं अद्वयको नहीं जानता–तो, यह जो बिना किसी प्रमाणके ही अज्ञानकी कल्पना हो गयी है और अपनेको निरन्तर-निरन्तर सता रही है–हम स्वयं उसके द्वारा सताये जा रहे हैं, इस कल्पनाकी निवृत्तिके लिए असलमें यह कल्पित अविद्या-निवर्तक ब्रह्माकार वृत्तिकी उत्पत्तिकी जरूरत पड़ती है, किसी वास्तविक अनुभूतिकी तो जरूरत ही नहीं है क्योंकि वास्तविक अनुभूति तो अपना स्वरूप है। किसी भी वास्तविक अनुभूतिकी जरूरत नहीं है–न ध्यानके द्वारा, न उपासनाके द्वारा और न आवृत्तिके द्वारा, न निदिध्यासनके द्वारा-उत्पाद्य किसी वास्तविक वृत्तिकी जरूरत अज्ञानकी निवृत्तिके लिए नहीं है, क्योंकि शीतला देवी जैसी होती हैं उनका वाहन गधा भी वैसा ही होता है–'यादृशी शीतलादेवी तादृशो वाहनःखरः'–एक आदमीने शीतलादेवीकी आराधना की, तो गधेपर

चढ़कर आयीं, दर्शन दिया और कहा कि वर माँग ले। उसने कहा कि हमको एक बहुत बढ़िया घोड़ा चाहिए। शीतलादेवीने कहा कि बेवकूफ, यदि मेरे पास बढ़िया घोड़ा होता तो मैं घोड़ेपर चढ़कर नहीं आती, गधेपर चढ़कर क्यों आती?

तो, देखो दुनियामें जितने लोग अनुभूतिका नाम लेते हैं-ब्रह्मानुभूति, आत्मानुभूति, सच्ची अनुभूति, परमार्थानुभूति वे लोग कुछ उत्पन्न करना चाहते हैं या कुछ अनुभूति नामकी कोई चीज देखना चाहते हैं। वेदान्तने कहा कि ये सब हैं तुम्हारी फालतू कल्पना-जल्पना, यह तुमने अपनेको जो ब्रह्म माना है यह किस प्रमाणसे माना है? तुमने बिना सोचे, बिना समझे, बिना शास्त्र पढ़े, बिना विचारे अपनेको अब्रह्म माना है क्या समाधि लगाकर तुमने अपनेको जीव निश्चय किया है? क्या समाधि लगाकरके तुमने अपनेको परिच्छिन्न माना है? क्या समाधि लगाकर मरने-जन्मनेवाला माना है? कि नहीं जी, यह तो हमको मालूम पड़ता है। तो बाबा, जैसा तुम्हारा मालूम पड़ना है वैसा ही इसको काटनेकी विधि करो! प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा तुम्हारा जीवत्व सिद्ध नहीं है, अपने बारेमें अनुमान करके ही तुमने यह कल्पना सिद्ध की है कि मैं जीव हूँ; अपने लिए उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धिका प्रयोग किया है? अपने लिए कोई ऐतिह्य, संभव प्रमाणोंका अनुसन्धान किया है? कि अरे बाबा, जिस वजहसे तुमने अपने परिच्छिन्न होनेकी कल्पना की है वह वजह बिलकुल निराधार है, असलमें उसमें ही कोई तत्त्व नहीं है-कोई तत् नहीं है, कोई सत् नहीं है; जो तुमने अपने बारेमें जीव होनेकी कल्पना की है यह बिलकुल निराधार है, अब इसको काटनेके लिए तुम प्रत्यक्ष ढूँढते हो? इसके लिए अनुमान ढूँढते हो? इसके लिए अर्थापत्ति ढूँढते हो? कि इसके लिए समाधि लगाओगे? अपनेको जीव माननेके समय तो समाधि लगायी नहीं! बोले कि हमने समाधिमें देखा है कि हम जीव हैं, कि हमने ध्यानमें देखा है कि हम जीव हैं कि हमने निदिध्यासन करके देखा है कि हम जीव हैं कि हमने उपासना करके देखा है कि हम जीव हैं। तो अपनेको जिस रूपमें तुम अभी मानते हो इस रूपमें माननेके लिए तो तुमने किसी प्रमाणका प्रयोग किया नहीं, न ध्यानका, न समाधिका, न प्रत्यक्षका, न प्रमाणका, न विचारका, न विवेकका, तो तुम इससे छूटनेके

लिए क्या चाहते हो? यदि तुम्हारी यह भ्रान्ति सच्ची होती तो सच्ची-भ्रान्तिको मिटानेके लिए किसी यान्त्रिक प्रमाणकी, किसी तान्त्रिक प्रमाणकी अपेक्षा होती। अगर खुर्दबीनसे देखकर तुमने अपने जीवत्वका निश्चय किया होता तो हम उससे भी बड़ी ताकतवाला खुर्दबीन लेकर तुमको दिखा देते कि तुम जीव नहीं हो, तुमने केवल कल्पनासे यह निश्चय किया है कि मैं जन्मने-मरनेवाला हूँ, आने-जानेवाला हूँ, मैं रागी-द्वेषी हूँ—कितने सम्बन्ध हुए और बह गये, कितनी बार सुख-दुःख आये और चले गये, तुम क्यों अपनेको सुखी-दुःखी मानते हो? यह तो तुम्हारे चित्तमें एक कल्पना बिना किसी विचारके, बिना किसी विवेकके, केवल अज्ञानसे, केवल बेवकूफीसे की हुई है।

तो, हमारा मतलब किसी ब्रह्मका अनुभव करा करके बेवकूफी मिटानेका नहीं है; यहाँ यन्त्रका काम नहीं हैं, यहाँ तो सिर्फ हम बोलते हैं और तुम्हारे मनमें अपने ब्रह्म होनेकी कल्पना उदय हो गयी और कल्पना-से-कल्पना कट जाये। केवल इतनी बातसे हमारा मतलब है। एक कल्पनाको काटनेके लिए दूसरी कल्पना की उत्पत्ति-मात्र अपेक्षित है और इस (दूसरी) कल्पनाको ही यदि तुम अभिमानका हेतु बनाओगे तो जैसे पहली कल्पना तुमको दुःख देती थी वैसे ही यह दूसरी कल्पना भी तुमको दुःख देगी—मैं ब्रह्म हूँ—यह कल्पना भी दुःख देगी, आकर रोओगे थोड़ी देर बाद कि यह तो दुकानपर जानेपर भूल जाती है; यह मनमें जब किसीका ख्याल आता है तब छूट जाती है कि यह तो हर समय नहीं बनी रहती है—बहुत तकलीफ देगी। कल्पनाको काटनेके लिए कल्पना उत्पन्न की गयी है—यह जो हमारे वेदान्तके क्रान्तकारी कदम हैं उनका अभिप्राय समझना चाहिए। यह तो ये कहते हैं कि केवल वाक्यसे ही यह मिटानेवाली कल्पना उत्पन्न हो जायेगी—क्योंकि अदृश्य अर्थके बारेमें कल्पना करानी है—स्वयं द्रष्टाके बारेमें ब्रह्म होनेकी कल्पना करानी है। वह कल्पना प्रत्यक्ष, अनुमान, निदिध्यासन, ध्यानसमाधि आदिसे उदित नहीं होगी। अपने जीवत्वके विपरीत ब्रह्मत्वकी कल्पना होनेके लिए वाक्य-ज्ञानके सिवाय और कुछ चाहिए ही नहीं—यह वेदान्तका सिद्धान्त है। केवल वाक्य चाहिए, इसमें आसन नहीं चाहिए—भले ही इस वाक्यका अर्थ समझनेके लिए आसन लगाना जरूरी हो, भले ही विवेक-विचार करना जरूरी

हो, इस वाक्यके अर्थ समझनेमें जो चंचलतारूप प्रतिबन्ध है उसके लिए ही योग जरूरी हो, इस वाक्यके अर्थको समझनेके लिए, चित्तको वासना-शून्य बनानेके लिए उपासना भले जरूरी हो, निदिध्यासन भी जरूरी हो लेकिन ये सब इसके मुख्य साधन नहीं हैं।

यह तो जैसे एक कल्पना तुम्हारे मनमें झूठी हो गयी है कि मैं जीव हूँ वैसे ही एक कल्पना झूठी ही पैदा हो जाये कि मैं जीव नहीं ब्रह्म हूँ और वह वाक्य-जन्य जो कल्पना है वह जीवकल्पनाको काट देती है।

अच्छाजी, कट गयी जीवत्वकी कल्पना, अब क्या कुछ करें ही नहीं– न योग, न उपासना? या हमेशा हमको घास काटना पड़ेगा? घास काटना क्या है कि हमने बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषोंके यहाँ यह घास काटनेकी बात सुनी–घास काटना यह है कि जैसे दिन भर 'अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि' जपते रहना। घास काटनेकी कई रीति है–तुम्हारे हृदयमें यदि वासनाकी घास उगती है तो उसको काटनेके लिए तुम कोई भी युक्ति कर सकते हो, तुम्हारे मनमें चंचलता आती हो तो उसको मिटानेके लिए कोई भी युक्ति कर सकते हो–देखो एक उड़िया बाबाजीकी बात सुनाते हैं–हमको याद नहीं है कि हमने यह बात कभी आपको सुनायी है कि नहीं सुनायी है–हमारी उनकी बात हुई कि अच्छा भाई, मैं जीव नहीं हूँ, यह पक्का निश्चय हो गया, ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरा सत्य नहीं है यह पक्का निश्चय हो गया–आत्मा ही ब्रह्म है–यह भी निश्चय है। अच्छा, यह भी मान लिया कि अब कुछ करनेकी जरूरत नहीं है–कर्म, उपासना, योग–कुछ भी करनेकी जरूरत नहीं है, तब भी तो जीवन रहता है और मनमें विचार उठते हैं और वासनाएँ उठती हैं, तो क्या करना चाहिए–एक प्रश्न है। इस प्रश्नका जो उत्तर उन्होंने दिया था वह मुझे याद नहीं है कि मैंने किसीको कभी सुनाया कि नहीं सुनाया–

उन्होंने उत्तर दिया कि जब आदमीको भूख लगती है तो यह जिद नहीं करता कि मैं खीर ही खाऊँगा कि हलुआ ही खाऊँगा कि पूरी ही खाँऊगा–अरे उस समय जो उसको मिलता है उससे वह अपनी भूख मिटा लेता है। जब मनुष्यको भूख लगती है तब वह चाहे जैसे भी वासी रोटी मिले–आठ-आठ दिनकी बासी रोटी मैंने खायी है–भला! भूख जब लगती है तब उस सूखी

रोटीको मुँहमें डालके थोड़ी देर बाद उसको चुभला लेते हैं और अपने ही मुँहका थूँक जब उसमें मिल जाता है और वह नरम होती है तब वह स्वाद उसमें-से निकलता है कि तुम्हारे ताजा भोजनमें वह स्वाद नहीं आ सकता; तो जब भूख लगती है तब यह नहीं सोचते हैं कि जब छह महीनेमें हम अपने घर पहुँचेंगे तब खायेंगे या तीन दिनमें जब घर पहुँचेंगे तब खायेंगे कि हमारी पत्नीके हाथका बनाया हुआ मिलेगा तब खायेंगे या कि हम चौंकेमें बैंठेंगे तब खायेंगे—जब मनुष्यको भूख लगती है तब मनुष्य उस भूखको मिटा लेता है।

बोले भाई कि तत्त्वज्ञ हो गये? कि हाँ, हो गये। चलो, जान लिया कि हम ब्रह्म हैं। तो,अब जब कभी मनमें चंचलता आवें तो कभी राम-राम करके मिटा लिया और कभी फावड़ा चलाकर मिटा लिया—सीताराम-सीतामरा करने लगे, चंचलता मिट गयी; बोले—श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे—करने लगे, चंचलता मिट गयी—तो उस समय कैसे भी कर लिया। एक ही चीज रोज करना—ब्रह्मज्ञानीके लिए यह भी नियम नहीं है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने बताया कि जब, जैसे वासना मिटी तब तैसे ही मिटा लिया। अरे रामके रूपमें भी वही है, कृष्णके रूपमें भी वही है, देवीके रूपमें भी वही है, निराकारके रूपमें भी वही है—अगर हाथ ही जोड़नेसे वासना मिटती है तो किसीको भी हाथ जोड़ लिया—'येन केन प्रकारेण'।

देखो भाई, हम यह उपासनाकी निष्ठा नहीं बता रहे हैं; आप अपनी उपासनामें अपना मन्त्र मत छोड़ना और अपने इष्टदेवताको भी मत छोड़ना, अपने गुरुको भी मत छोड़ना, उसको ठीक-ठीक चालू रखना, वह बात जिज्ञासुकी है, वह बात साधककी है। लेकिन, जो मैं कह रहा हूँ यह ब्रह्मज्ञानीकी बात कह रहा हूँ। देखो हमको शंका तब होती है जब आदमी कहता है कि हम निराकारका भजन क्यों करें, क्योंकि हमको तो ब्रह्मज्ञान हो गया। तो बोले कि निराकार अभी कोई ब्रह्मसे जुदा है तभी ना उससे परहेज करते हो! एकने हमसे कहा कि हम साकारका भजन क्यों करें, हमको तो ब्रह्मज्ञान हो गया? बोले कि तब कभी एक दूसरी चीज तुम्हारे लिए बनी हुई है—साकार। साकार क्या ब्रह्म नहीं है? तुम क्या छोड़ना चाहते हो साकारको? असलमें साकारसे द्वेष है इसलिए साकारको छोड़ना चाहते हो। साकार ब्रह्म

ही है। अभी तुमको ज्ञान नहीं हुआ। निराकारको क्यों छोड़ना चाहते हो, वह तो ब्रह्म ही है, अभी तुमको ज्ञान नहीं हुआ। तो कहनेका अभिप्राय क्या है कि यह जो अभिमानकी ग्रन्थि पड़ जाती है कि मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ यह सबसे बड़ा दुःख है।

एक दिन हमारे पास कोई सज्जन आये थे तो मैंने उनको एक बड़े मस्त फकीरकी बात सुनायी कि–'क्वचित् न प्रतिष्ठितं चित्तम्'।

अपना मन दुनियामें, दृश्यमें, कहीं लगने न पावे, कहीं फँसने न पावे–मनको ऐसा बनाना चाहिए। हमने तो कभी कृष्णामूर्तिको सुना नहीं है, न उनकी कोई किताब पढ़ी है क्योंकि वे तो अंग्रेजीमें बोलते हैं और अंग्रेजीमें लिखते हैं, लेकिन वे सज्जन बोले कि कृष्णमूर्तिकी तो सारी 'फिलासफी' इतनेमें ही आ गयी कि अपने मनको कहीं लगने नहीं देना चाहिए। फिर बौद्ध-सन्तकी याद आयी कि अपने मनको ऐसा रखना चाहिए कि वह कहीं लग न जाये–ये दोनों तो हुए एक; अब वह जो मैंने उड़ियाबाबाजीवाली बात कही उससे मिलान करना, उसमें और इसमें फर्क है। कहीं लगने ना देनेमें असंगताका अभ्यास है और कहीं लगानेमें विश्वासपूर्वक उपासना है, और कहीं लगे तो लगे और न लगे तो न लगे–

सोवत बैठत पड़े उताने, कहे कबीर हम वही ठिकाने।

अपने अद्वितीय आत्मामें इसकी कोई परवाह नहीं है–यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

●

प्रवचन : 9.2

ज्ञानमें अभिमान नहीं है

ब्रह्मज्ञानके बारेमें निश्चय तो होना ही चाहिए। आत्मा ब्रह्म है यह निश्चय होना चाहिए, परन्तु मैं ब्रह्मको जानता हूँ-यह निश्चय नहीं होना चाहिए। दोनोंमें बहुत फर्क है–आत्मा ब्रह्म है यह तो वस्तुस्थितिका ज्ञान है और मैं ब्रह्मको जानता हूँ यह तो ब्रह्मज्ञानका अभिमान है–तो ब्रह्मज्ञान होना चाहिए, ब्रह्मज्ञानका अभिमानी नहीं होना चाहिए। जो लोग किसी ऊँचे पदपर बैठकर अपने ब्रह्मज्ञानी होनेकी घोषणा करते हैं वे तो उस पदके कारण वैसा बोलते हैं, जैसे हम अमुक मठके महन्त हैं, अमुक पीठके स्वामी हैं, अमुक मण्डलीके ईश्वर हैं, तो वह जो छोटी-छोटी चीजोंका ईश्वरत्व है उसके कारण उन्हें लोगोंके बीचमें कहना पड़ता है कि मैं ब्रह्मका ज्ञाता हूँ।

एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे किसीने पूछा कि महाराज आप ब्रह्म हैं? तो बोले कि तुम ब्रह्मको देखकर उसीके बारेमें पूछ रहे हो कि मैं ब्रह्म हूँ या नहीं? तो जितना तुम मुझको देखते हो और जानते हो वह तो ब्रह्म है नहीं। कि अच्छा, तब आप ब्रह्मज्ञानी हैं? बोले, ज्ञानका क्या कोई अभिमानी होता है? जैसे धन तो होता है मुट्ठीमें और उसका अभिमानी होता है मुट्ठीवाला, ऐसे ही यदि ब्रह्मका ज्ञान वृत्तिमें रहे तो वह वृत्तिवाला वृत्तिका अभिमानी होगा, परन्तु यदि वृत्तिमें ज्ञान रहा और वृत्तिका अभिमानी वृत्तिमान रहा तो वह तो जीव हुआ-वृत्तिवाला तो जीव होता है, क्योंकि वृत्ति अन्तःकरणमें रहती हैं, अन्तःकरण जीवकी उपाधि है। बोलेकि अच्छा, आप ईश्वर हैं? बोले कि क्या तुमने हमको सृष्टि-स्थिति करते देखा है? तब फिर आप महात्मा हो? कि तुमने हमारा महात्मापन कहाँ देखा है? अरे भाई, तुम हमको एक मनुष्यके रूपमें देखते हो और यह देखते हो कि कोई भूखा आता है तो उसको अपने हाथसे रोटी देते हैं और कोई दुःखी आता है तो उसको आश्वासन देते हैं, कोई जिज्ञासु आता है तो उसको समझाते हैं, कोई विक्षिप्त आता है तो उसको समाहित बनानेकी चेष्टा करते हैं, तो इसका मतलब यह है कि हमारे व्यक्तित्वको जितना तुम देखते हो उतना तो चराचरकी सेवामें ही

लगा हुआ है-हमारे सेवक व्यक्तित्वको ही तुम देखते हो और इसको महात्मा मानते हो अपनी श्रद्धासे; ब्रह्मज्ञानी मानते हो अपनी श्रद्धासे; और कहो कि तत्वदृष्टिसे मैं ब्रह्म हूँ तो तत्वदृष्टिसे तो तुम भी ब्रह्म हो और सब ब्रह्म हैं तो ब्रह्म होनेसे महात्माकी कोई विशेषता नहीं हुई।

एक पुरानी बात और आपको सुनाते हहैं–मोकलपुरके बाबा हमारे गाँव आये। बड़ा प्रेम करते थे, बड़ी कृपा करते थे। सिद्ध पुरुष थे और उनकी सिद्धि हमलोगोंको दिन भरमें कई बार देखनेको मिलती थी। हम भी उनमें श्रद्धा बहुत करते थे। कभी-कभी उनकी बनायी हुई रोटी भी खा लेते थे। हमारे ब्राह्मणोंमें ऐसी रीति तब नहीं थी, अब हो गयी है–हम लोग किसी भी अन्जान आदमीकी बनायी हुई कच्ची रसोई नहीं खाते थे–ब्राह्मणोंकी भी नहीं खाते थे–ब्राह्मणोंमें भी जिनमें कोई रिश्ता-नाता हो, सम्बन्धी हों तब तो उनकी छूई रोटी खा लेते, ऐसे नहीं खाते थे–ऐसी रिवाज थी। पर हम लोगोंने क्रान्ति कर दी, कि एक अन्जान महात्मा-न उनकी जात मालूम, न पाँत मालूम, न रहनी मालूम-वे तो चालीस-पचास वर्षसे वहीं गंगा-किनारे रहते थे–मिट्टीकी दीवार, ऊपरसे छप्पर बस और किवाड़ी भी नहीं और कपड़ा भी कभी पहनें, कभी न पहनें। तो जबतक हम उनके यहाँ जाते थे और उनका छूआ खा लेते थे तबतक तो कोई बात नहीं आयी, पर जब वे हमारे गाँवमें आये और उनके हाथका भात हमने खा लिया तो हमारे गाँव-विरादरीके ब्राह्मण लोग और आस-पासके रिश्तेदार लोग सब इकट्ठे हुए और उन्होंने जाकर उनको घेरा कि बाबा, तुम कौन हो? किस जातिका दूध है, कौन दूध हो ऐसे कहा-आपको सीधी-सीधी बात सुनाते हैं। तो बाबा बोले कि गुरु–वे सीधे तो बात ही नहीं करते थे, बोले-गुरु, जो मच्छर है सो मैं हूँ, जो खटमल है सो मैं हूँ, जो चिड़िया है सो मैं हूँ, जो पशु है सो मैं हूँ, जो देवता है सो मैं हूँ, जो तुम हो सो मैं हूँ, दूधका क्या पूछता है? बोले कि नहीं बाबा, हमारे जो ये बालक हैं ये तुम्हारा छूआ खाकर भ्रष्ट नहीं हो जायें-इसलिए पूछते हैं, आप सीधे-सीधे बताओ कि आप कौन हैं? परन्तु उन्होंने नहीं बताया।

देखो, 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'। अपने मनसे राग-द्वेष निकाल देना; देखो आदमीकी गल्ती क्या है–पाँच रुपया खा जाता है तो पाँच

रुपये गये अपनी गाँठसे, अपनी मेहनतकी कमाई गयी, अपनी चीज गयी, तो उसके बदलेमें क्या करते हैं कि दुःखसे कहते हैं कि ओ दुःख, तू आ, आकर हमारे कलेजेमें बैठ। हाय-हाय! मैं बड़ा दुःखी हूँ हमारे पाँच रुपए चले गये। तो पाँच रुपये जो चले गये वे तो अन्जानमें चले गये और यह जो दुःख बुलाकर तुम अपने कलेजेमें बैठा रहे हो, यह कौन-सी भलमनसाहतकी बात है-पाँच रुपये गये-गये, दुःख तो मत बुलाओ। यह दुःख जो है यह बिना बुलाये नहीं आता है–आपको हम अपने जीवनका सार-सार बताते हैं-दुःख कभी यहके रूपमें नहीं आता है; दुःख कोई मिट्टी-पानी-आग-हवा-आसमानका नाम नहीं है, दुःखका जो आकार आता है वह मनमें आता है और उसको जब मैं-मेरा मान लेते हैं, जब मान लेते हैं कि मैं दुःखी हूँ तब दुःख अनुभव होता है। आप लोगोंने हमारी यह प्रक्रिया कभी सुनी होगी-यह दुःख है-ऐसा कभी भान नहीं होता। आग लगना दुःख है-तो आग लगी छप्परमें, दुःख तुम्हारे दिलमें कैसे हुआ? रुपया जानेमें दुःख है, तो गया तो रुपया दुःख तुम्हारे दिलमें कैसे हुआ? तुम तो रुपया हो नहीं, यदि रुपयेका जाना दुःख है तो दुःख होना हो तो रुपयाको हो! बोले कि रुपयेको तो दिल ही नहीं, दिमाग ही नहीं, दुःख उसको कहाँसे होगा? तो इसका मतलब यह हुआ कि दुःख तुम्हारे दिल-दिमागमें हुआ, रुपयेमें तो हुआ नहीं–दुःख न रुपयेमें हुआ, न रुपयेके जानेकी क्रियामें हुआ, न ले जानेवालेको हुआ, वह तो खुश हो गया–तुम्हारे दिल-दिमागमें दुःख हुआ-यह दुःख-सुख होनेकी जगह अपना दिल और अपना दिमाग है–चिन्ता छोड़ो सुखसे जीओ–गया सो गया, आया सो आया। अगर चिन्ता पकड़ोगे तो तुम्हें दुःख होगा।

असलमें दुःख आभास-भास्य नहीं है–अर्थात् यह घड़ी है यह जैसे भासता है ऐसे 'यह दुःख है' ऐसे दुःख नहीं भासता है–बड़ी सीधी करके मैं यह बात आपको बता रहा हूँ–यह घड़ी है यह तो ठीक है, पर आप दुःख बताओ क्या है? माने लाल हुआ कि पीला है कि नीला है–दुःखमें रंग है क्या? दुःखमें वजन है क्या? एक छँटाक, दो छँटाक, एक मन बोझ है क्या? अच्छा, तो दुःखमें वजन नहीं है, दुःखमें रङ्ग भी नहीं है। अच्छा, दुःख क्या एक बित्तेका टेढ़ा-टेढ़ा होता है? आकृति नहीं है दुःखमें-दुःखका

देश नहीं है, दुःखका काल नहीं है, दुःखकी वस्तु नहीं है, दुःखमें कोई पराक्रम नहीं है, दुःखमें कोई वीर्य नहीं है, दुःखमें कोई बल नहीं है-यह तो जैसे कोई कुत्तेको ढेला मारे कि आओ हमको काटो ऐसे ही जब आदमी यह अभिमान करता है कि मैं दुःखवाला हूँ तब अपनेको दुःख लगता है, जिसके मनमें अभिमान नहीं होता कि मैं दुःखी हूँ उसको दुःख कभी नहीं लगता। और महाराज झूठी-झूठी बात पर दुःख लगता है और झूठी-झूठी बात पर छूट जाता है।

सन् अड़तालीसकी बात है–हमलोग बद्रीनाथ जा रहे थे, रुद्रप्रयागसे आगे पैदल ही गये थे–सुमेरचट्टी पड़ती है तो जब वहाँसे चले तब नहीं, दो-चार मील चलनेके बाद मालूम हुआ कि दादाजीकी घड़ी खो गयी है–बड़ी फिकर हुई कि मिल जाय–तो हम तो बढ़ गये बद्रीनाथकी ओर और दादाजी बढ़े घड़ीकी ओर और रास्तेभर ढूँढ़ते गये यहाँ तक कि कहीं-कहीं माटी पड़ी थी–गिरकर पहाड़से-तो माटी हटाकर देखते थे कि कहीं इसमें न हो–जैसे थाली खो जाये और घड़ेमें हाथ डालकर ढूँढ़े कि कहीं इसमें थाली तो नहीं है, तो वह थाली नहीं ढूँढी जाती है, अपने दिलकी घबड़ाबट हाथको उठाकर घड़ेमें डाल देती है। अच्छा भाई, अब हमलोग तो धूपमें बैठकर दादाजीका इन्तजार करते रहे कि आवें-आवें-आवें–अब ये चार मील गये और चार मील आये चलके। घड़ी तो नहीं मिली-मनमें दुःख था घड़ी खोनेका। बीस वर्ष पहलेकी बात है, अभीकी नहीं है। अच्छा, हम तो आपको मनका एक खेल सुनाते हैं–बड़ी दोपहरी हो गयी थी और एक मामूली चट्टीपर जाकर हमलोग ठहरे, पानी वहाँ झरनेसे दूरसे लाना पड़ता था, तो दादाजी गये झरने पर-हाथ धोने व पानी लेनेको! वहाँ एक अँगूठी पड़ी दिखी, तो अँगूठी उठाकर ले आये! मैंने कहा–यह दो हजार रुपयेकी तो होगी, तो सौ रुपयेकी घड़ी खोयी थी और दो हजार रुपयेकी अँगूठी मिल गयी—दादाजी खुश हो गये कि देखो बिहारीजीकी मानता मैंने मानी थी तो बिहारीजीने बड़ी कृपा करी सौ रुपयेकी घड़ी खोयी और दो हजार रुपयेकी अँगूठी मिल गयी—खुश हो गये, फिर वहाँसे कर्णप्रयाग, फिर नन्दप्रयाग गये, विष्णु प्रयाग गये, बद्रीनाथ गये-चार-पाँच दिनमें यह सब हुआ तबतक घड़ी भूल गयी, अँगूठीकी खुशी आ गयी,

दिल गद्‌गद हो गया। अब वहाँ जाकर किसी बनियेको दिखाया कि यह अँगूठी कितनेकी है तो उसने बताया-तीन आनेकी, क्योंकि अँगूठी काँचकी थी। तो देखो, सौ रुपयेकी घड़ीका दुःख तीन आनेकी अँगूठीने मिटाया और अँगूठी तीन आनेकी है असली नहीं है इसका दुःख भी नहीं हुआ, फिर वह फेंक दी, किसीको दे दी! तो बताओ अब, वह सुख कहाँसे आया और वह दुःख कहाँसे आया-घड़ीमें-से दुःख नहीं आया, अपने मनमें घड़ीके प्रति जो मोह था उसके कारण मेरी घड़ी खो गयी, इससे मैं दुःखी हो गया और मुझे अँगूठी मिल गयी इसके कारण मैं सुखी हो गया।

असलमें सुख-दुःख मनकी वृत्ति है, सुख-दुःख कहीं मूर्त-रूपमें नहीं है–न सुखका कोई काल है, न दुःखका कोई काल है; न सुखका देश है, न दुःखका देश है; न सुख वस्तु है, न दुःख वस्तु है–न इनमें उमर है, न इनमें वजन है, न इनमें रङ्ग है, न इनमें आकृति है–यह तो जब तुम मान लेते हो तब यह शुद्ध-सच्चिदानन्दघन-आत्मतत्त्वकी मान्यताका यह प्रभाव है कि अपनेको दुःखी माने तो दुःखी है और अपनेको सुखी माने तो सुखी है। तो कम-से-कम यह प्रतिज्ञा तो कर लेनी चाहिए अपने जीवनमें कि हम छोटी-छोटी चीजोंके लिए अपना दिल नहीं बिगाड़ेंगे-चीज बिगड़ी तो बिगड़ी दिल नहीं बिगाड़ना चाहिए; चीजसे दिल बड़ा है। अच्छा, आपके सामने थालीमें भोजन रखा हो और आप कहें कि बना-बनाया भोजन बिगड़ जायेगा इसलिए खा लेना चाहिए, छोड़ना ठीक नहीं है। यदि खा लिया; तो पेट बिगड़ा, और डाक्टरकी जरूरत पड़ी, डाक्टर लोग तो इन्तजारमें ही रहते हैं–किसीका पेट बिगड़े-तो डाक्टरको यजमान मिला-देखो, एक बात देखो! आप कीमती किसको समझते हो-अन्नको समझते हो कि पेटको समझते हो? आप पेट खराब मत करो, अन्न खराब होवे तो हो जाने दो- बुद्धिमत्ता यही है तो, इसी प्रकार बाहरकी कोई भी चीज खराब होवे तो हो जाये, भीतरकी चीज खराब मत करो–अपना दिल किसी भी कारणसे खराब मत करो और दिलको खराब न करनेकी जो युक्ति है वह साधु-महात्माओंके पास रहती है। इसके ये डाक्टर हैं, इसके ये वैद्य हैं, इसके ये चिकित्सक हैं।

हम बच्चे थे तब हमारे बाबा बड़े ज्योतिषी थे, ज्योतिषका अच्छा

अभ्यास हमारे पिताको भी था और पितामहको भी था-ज्योतिष बताना-कुण्डली बनाना और कर्मकाण्ड कराना, गुरु-मन्त्र देना—यही सब तो अपना पेशा था-अपने परिवारका यही पेशा था। तो, उन्होंने जिस गुरुसे ज्योतिष पढ़ा था—पण्डित गंगाधर शास्त्री उनका नाम था, दक्षिणी विद्वान् थे काशीमें तो उनको हमारी कुण्डली दिखला दी। हमारी कुण्डली देखकर ज्योतिषीने बता दिया कि लड़केकी उम्र केवल उन्नीस वर्ष है। अच्छा, अब तो बाबा बहुत घबराये-आपको कामकी बात सुनाते हैं। फिर काशीमें घूम-घूमकर बड़े-बड़े ज्योतिषियोंको हमारी कुण्डली दिखलायी गयी—हमको भी मालूम पड़ गया। जल्दीसे ब्याह हुआ ताकि उन्नीस वर्षके पहले बच्चे हो जायें—जल्दीसे ब्याह हुआ ताकि वर्ष पूरा होनेमें एकाध वर्ष बाकी रह गया तब मैंने साधुओंके पास घूमना प्रारम्भ किया इसी लालचमें कि शायद कोई ऐसा साधु मिल जाये कि हमको मरनेसे बचा ले—इसको ईश्वरकी कृपा बोलते हैं-क्योंकि हमारी ईश्वरपर श्रद्धा थी, हमारी धर्मपर श्रद्धा थी, साधु-सन्तों-पर हमारी श्रद्धा थी-हमारे घरमें साधु-सन्त आते थे तो उनको खिलाया-पिलाया जाता था, हमारे घरके लोग तीर्थयात्रापर जाते थे-धर्मपर, ईश्वरपर श्रद्धा-विश्वास जो है वह समयपर बड़ा काम देता है—तो ईश्वरकृपासे हमको बहुत अच्छे-अच्छे साधु-महात्मा मिले; उन्होंने कहा कि हम तुम्हें मृत्युसे निर्भय कर सकते हैं।

मृत्यु भय भी एक दुःख है-देखो, बालको कालेसे सफेद होनेसे तुम नहीं बचा सकते, दाँत-टूटनेसे तुम नहीं बचा सकते नाखून गिरनेसे नहीं बचा सकते; झुर्री पड़नेसे नहीं बचा सकते, आँखमें खराबी आनेसे नहीं बचा सकते, तो इस शरीरको मृत्युसे बचानेका उपाय भला क्या हो सकता है? अरे दस दिन पहले दस दिन बाद; दस वर्ष पहले दस वर्ष बाद, एक-न-एक दिन तो शरीरकी मृत्यु होनी है, यह बिलकुल ठोस है—इस सत्यकी ओरसे आँख बन्द करनेकी कोई जरूरत नहीं है ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए कि यह शरीर छूटनेवाला है, एक-न-एक दिन छूटेगा! तो अब, जब छूटेगा तब छूट जायेगा, उसके लिए आजसे ही अपना दिल खराब क्यों करना? मृत्युका भय अपने हृदयमें बसाना-अपने दिलको खराब करना है और मरे हुए मुर्देको अपने दिलमें बसाना-यह भी अपने दिलको खराब करना है—मरे हुएकी याद करके रोओ मत! आगे हम

मर जायेंगे–इस डरसे भी रोओ मत। असलमें यह जो अध्यात्मिक जीवन है यह दुःख-रहित जीवन व्यतीत करनेकी कला है–आप इस बातको याद कर लो–जैसे संगीतकी कला होती है, जैसे चित्रकला होती है-एक यह ऐसी दिव्यकला है कि हम जिन्दा रहें और हमको दुःख न होवे; यह दुःख, यह भय, यह शोक–ये गुण्डे हैं गुण्डे। जैसे गुण्डोंको अपने घरमें नहीं बसाते हैं वैसे इनको अपने घरमें, अपने दिलमें नहीं बसाना चाहिए।

अब एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण देखो–आप सभी हमारे भाई-बन्धु हो, हमारे अपने ही हो, हम ही हैं आपके रूपमें, आपका दुःख हमारा ही दुःख है और आपका सुख हमारा ही सुख है, क्योंकि जब हम किसीको दुःखी देखते हैं, उसकी आँखसे आँसू गिरते देखते हैं तो हमारी आँखसे भी आँसू गिरते है–वह जब दुःखी दीखता है तब हम भी अपनेको दुःखी अनुभव करते हैं, हमको भी दुःख होता है; तो असलमें सबका दुःख ही अपना दुःख है और सबका सुख ही अपना सुख है, हमारा दुःख-सुख सबसे अलग हो कोई, सो बात नहीं है–क्योंकि मूल-तत्त्व ही अलग नहीं है, एक ही आत्मा सबमें है, तो, यह अलग-अलग कहाँसे होगा! तो आप इस बातको पूरी तरहसे ध्यानमें लो कि यह जो चीजोंमें हम गुण मानते हैं कि वस्तुओंमें गुण है–तो व्यावहारिक दृष्टिसे वस्तुओंमें गुण है, लेकिन पारमार्थिक दृष्टिसे वस्तुओंमें कोई गुण नहीं है, सब निर्गुणब्रह्म है; तो इसमें एक बड़ी बढ़िया बात है, उसपर आपका ध्यान कभी जाता हो कि नहीं जाता हो–इसमें जो लोग 'साईन्स'से धर्मको सिद्ध करना चाहते हैं वे लोग गलत रास्तेपर हैं–जब कोई कहता है कि 'साईन्स'से यह बात सिद्ध नहीं हुई, विज्ञानसे यह बात सिद्ध नहीं हुई-तुलसीका पत्ता खानेसे मलेरिया दूर हो सकता है यह बात तो साईन्ससे सिद्ध हुई, लेकिन तुलसीका पत्ता खानेसे ईश्वर मिल सकता है, यह बात साईन्ससे सिद्ध नहीं हुई, तो यह बात कहकर यदि कोई तुलसीके पत्ते खानेका खण्डन करता है तो हमलोगोंको हँसी आती है; क्योंकि न तो ईश्वर 'साईन्स'से सिद्ध होता और न तो तुलसीका पत्ती खानेसे ईश्वरकी प्राप्ति होगी यह 'साईन्स'से सिद्ध होता है, लेकिन, यह तुलसीका पत्ता, जिसके विश्वासमें बड़ी पवित्र वस्तु है, जो विश्वास करता है कि यह बड़ी पवित्र वस्तु है, वह जब तुलसीका दल या गंगाजल अपने मुँहमें

डालेगा तो उसके मनमें पवित्रताका भाव उदय होगा और पवित्रताका भाव उदय होनेसे उसका हृदय श्मशान नहीं रहेगा और उसमें भगवान्‌के ध्यानकी, भगवान्‌के ज्ञानकी योग्यता आवेगी। यह बात तो हमारे बापदादा भी जानते थे कि सोनेमें धर्म नहीं है, तुलसीके पत्तेमें धर्म नहीं है, उसके प्रति जो हमारा भाव है, हमारा विश्वास है, हमारा कर्तृत्व है उसमें धर्म है। तो यह बात जब हम कहते हैं कि केवल शास्त्रसे हो सिद्ध होती है तो आप कहोगे कि पिछड़े हुए लोग हैं, ये तो शास्त्रपर श्रद्धा करते हैं, विश्वास करते हैं—राम-राम-राम; हम कहते हैं कि नहीं, हम यह न चुके है। कि उसमें वस्तु-गुण नहीं है, उसमें श्रद्धा और विश्वाससे सम्पाद्य गुण ही है हमारे शास्त्र-कर्ताको यह बात मालूम थी कि यदि खुर्दबीनसे या दूरबीनसे जाँच करेंगे और यदि लेबोरेटरीमें डालकरके सोने और तुलसीकी जाँच करेंगे तो उसमें-से यह चीज निकलनेवाली नहीं है कि इसमें-से ईश्वर मिलेगा; ईश्वर तुलसीमें-से नहीं मिलेगा, ईश्वर सोनेमें-से नहीं मिलेगा, ईश्वर तुम्हारे हृदयमें जो श्रद्धा और भक्ति होगी, विश्वास होगा—उसमें-से मिलेगा। तो बड़ा क्रान्तिकारी कदम है कि पहलेसे ही हम यह जानते हैं कि चाहे नमाज पढ़ो ईश्वरके लिए और चाहे पाँवसे तीर्थयात्रा करो और चाहे सीधे होकर बैठ जाओ, इसमें चलना गुण नहीं है, झुकना गुण नहीं है—उसमें ईश्वरके लिए उद्देश्य होना गुण है और यह हमारे महापुरुष जानते थे और जानबूझकर उन्होंने धर्मके स्वरूपका निर्णय किया है और आत्माके स्वरूपका निर्णय किया है।

यह जो श्रद्धा-विश्वासका मार्ग है यह पिछड़े हुए लोगोंका मार्ग नहीं है। यह खोज करके कि वस्तुमें धर्म नहीं है, क्रियामें धर्म नहीं हैं, भावमें धर्म नहीं है, कर्ताके कर्तृत्त्वमें जो महत्त्व-बुद्धि है उस महत्त्व-बुद्धि-पूर्वक कर्तृत्वमें धर्म है और निकृष्ट-बुद्धि-पूर्वक कर्तृत्वमें अधर्म है इस बातको हमारे पुराने लोगोंने समझा था—यह तो हुई दृष्टान्तकी बात, अब दार्ष्टान्तकी बात आपको समझाते हैं। दार्ष्टान्त क्या है कि यह जो ज्ञानी है वह अभिमानी नहीं होता—यह हमारे वेद, पुराण, शास्त्र, महात्मा, अनुभव सब कहते हैं। ज्ञानमें अभिमान नहीं है; ज्ञातृत्वका अभिमान नहीं है। तो देखो, ज्ञानके सिवाय तो कोई चीज ही नहीं है, ज्ञानके बिना कोई बात ही सिद्ध नहीं होती—अपना जन्म ही बताओ-

ज्ञानका जन्म नहीं होता, जन्मकी सिद्धि ज्ञानसे होती है–पहलेसे ज्ञान रहता है और जन्मकी सिद्धि होती है; ज्ञानसे मृत्युकी सिद्धि होती है, ज्ञान मरता नहीं, ज्ञानसे मृत्युकी सिद्धि होती है; ज्ञानसे अभिमान बनता नहीं, अभिमान बननेके पूर्व भी ज्ञान रहता है और अभिमान टूटनेके बाद भी ज्ञान रहता है और अभिमान कालमें भी ज्ञान रहता है। कालका भान होनेके पहले भी ज्ञान है, बादमें भी ज्ञान है–कालमें ज्ञान पैदा नहीं होता और कालमें ज्ञान मरता नहीं, ज्ञानमें ही काल कभी भासता है और कभी नहीं भासता है; देशमें ज्ञान पैदा नहीं होता और मरता नहीं, ज्ञानसे ही देश प्रकाशित होता है; किसी जड़ वस्तुके अस्तित्वमें ज्ञानकी उत्पत्ति और मृत्यु नहीं होती क्योंकि जड़ वस्तुका अस्तित्व ही ज्ञानसे सिद्ध होता है। बोले कि आखिर तुम कहना क्या चाहते हो? कि हम यह कहना चाहते हैं कि दुनियामें किसी चीजके मिलनेपर और खोनेपर जो तुम्हारे सुखी-पनेका अभिमान है वह ठन-ठन-पाल है और किसी चीजके खोनेपर और किसी चीजके मिलनेपर जो दुःखीपनेका अभिमान है वह बिलकुल ठन-ठन पाल है–माने है ही नहीं। बिलकुल भ्रान्तिसे ही दुनियामें किसी चीजके मिलने और खोनेपर तुम अपनेको सुखी मानते हो और दुनियामें किसी चीजके मिलने और खोनेपर तुम अपनेको दुःखी मानते हो।

अब देखो, अभिमानके आधारपर कितनी चीजें टिकी हुई हैं? असलमें अभिमानको ही मौतका डर लगता है और ज्यादा जीनेकी इच्छा होती है और अभिमानको ही ज्ञानकी प्यास भी लगती है और वह तृप्ति भी चाहता है। अभिमानको ही रसकी प्यास लगती है–यह तुम्हारा अभिमान ही भूखा है-रसकी पिपासा भी अभिमानमें ही है, जिज्ञासा भी अभिमानमें ही है, जिजीविषा भी अभिमानमें ही है। ज्ञानमें अभिमान नहीं होता–इसका मतलब यह है कि देशके एक इञ्चमें या सर्वदेशमें ज्ञान नहीं होता–वह तो एक देश और सर्वदेशका प्रकाशक ही होता है; और एक कालमें और सर्वकालमें भी ज्ञान नहीं होता–ज्ञान कालके पेटमें नहीं होता, कालके पेटसे बाहर रहकर ज्ञान कालका प्रकाशक होता है; किसी एक आकारसे, एक वस्तुमें ज्ञान नहीं रहता, वस्तुएँ बदलती रहती हैं ज्ञान ज्यों-का-ज्यों रहता है, वस्तुकी उत्पत्ति और वस्तुकी मृत्यु भी ज्ञानसे सिद्ध होती है; इस प्रकार ज्ञान देश-काल-वस्तुसे

अपरिच्छिन्न, परोक्षता और अपरोक्षतासे मुक्त, यथार्थता-अयथार्थतासे मुक्त क्योंकि यथार्थता-अयथार्थता विषयमें होती है-समाधिविक्षेपसे मुक्त-ऐसा ज्ञानका स्वरूप है और यह जो मैं दुःखी हूँ मैं सुखी हूँ-यह अभिमानमें है। मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ—यह अभिमानमें है। मैं जन्मने-मरनेवाला हूँ, मैं स्वर्ग-नरकमें आने-जानेवाला हूँ—यह अभिमानमें है। देश-काल और वस्तुके सम्बन्धसे और स्थितिके सम्बन्धसे जितनी गति-विधि होती है और वेदान्त कहता है कि तुम ज्ञानस्वरूप हो। इसका अभिप्राय यह हुआ कि तुम्हें जन्मने और मरनेका दुःख बिलकुल झूठा है और नरक-स्वर्ग जाने-आनेका दुःख भी बिलकुल झूठा है और पुनर्जन्मका दुःख भी बिलकुल झूठा है और अपने शत्रु-मित्रका दुःख भी झूठा है, राग-द्वेषका भी झूठा है-सुख-दुःख जितना है-अमुक वस्तुके मिलने और खोनेसे सुख है और अमुक वस्तुके मिलने और खोनेसे दुःख है—यह भी झूठा है, इसलिए सम्पूर्ण दुःख प्रपञ्चका जो मूल है अभिमान—वह अभिमान झूठा है—वह यहाँतक झूठा है कि यदि किसीको यह अभिमान होवे कि मैंने ब्रह्मको जान लिया, मैं ब्रह्म है यह यथार्थ है; परन्तु मैं ब्रह्मका ज्ञाता हूँ, ब्रह्मवेदिताके द्वारा वेद्य है—मैंने ब्रह्मको जान लिया-ऐसा जो अभिमान है वह बिलकुल झूठा है। तो, जब ब्रह्मज्ञानका अभिमान भी झूठा है तब दुनियामें सुखीपनेका-दुःखीपनेका, विद्वानपनेका, तपस्वीपनेका जितना अभिमान है वह तो झूठा ही है और यह अभिमान ही पट्ठा भूखा-प्यासा होकरके संसारमें दुःख दे रहा है। तो, आध्यात्मिक जीवन—यह अध्यात्म ज्ञान एक ऐसी कला है कि यह यदि जीवनमें मिल जाये, जीते-जी मिल जाये और जीते-जी मिलनी चाहिए—मरनेपर मिलनेकी चीज नहीं हैं, तो आप सुखके घेरेको फाड़कर बाहर निकल जायें, दुःखके घेरेको फाड़करके बाहर निकल जायें-यह अभिमान रहित ज्ञान, यह परमात्माका साक्षात्कार—यह साक्षात्कार स्वरूप परमात्मा-यह ज्ञानस्वरूप ब्रह्म और यह ब्रह्मज्ञान—यह ऐसी दिव्य कला है जीवनमें कि आपको संसार-धर्मसे बिलकुल अछूता बना दे और आप असंग रहते हुए सृष्टिमें विचरण करें और यहाँके पाप-ताप-शाप-कुछ भी आपका स्पर्श नहीं कर सकें।

●

प्रवचन : 9.3

अधिदैवको ब्रह्म जानना भी अल्पज्ञान है

यह बात बतानेके लिए कि जिस वस्तुको हम जान लेते हैं-ज्ञानका जो विषय हो जाता है वह ब्रह्म नहीं है और जब अभिमान हो जाता है कि मैंने ब्रह्मको जान लिया तब तो वह बिल्कुल ही झूठा अभिमान होता है; इसलिए कोई 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ'–इस अभिमानमें आबद्ध न हो जाये इस अभिप्रायको व्यक्त करनके लिए फिरसे (इस द्वितीय खण्डमें) गुरु और शिष्यके संवादकी अवतरणा हुई है। इसके पहले सुना चुका हूँ कि 'मैं ब्रह्म हूँ'–इस वृत्तिका उदय होना तो इष्ट है, परन्तु 'मैं ब्रह्मका ज्ञाता हूँ' यह अभिमान होना इष्ट नहीं है; क्योंकि 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वृत्ति उदय होकरके अपने परिच्छिन्नत्त्वको, जीवत्त्वको बाधित कर देती है और परिच्छिन्नत्वके बाधके साथ-ही-साथ वृत्ति स्वयं भी बाधित हो जाती है और जो स्वयं प्रकाश, सर्वाधिष्ठान अद्वितीय ब्रह्म है वह ज्यों-का-त्यों रहता है! इसलिए यह प्रतिपत्ति तो इष्ट ही है; मैं ब्रह्म हूँ–यह ज्ञान तो होना ही चाहिए–परन्तु, मैंने ब्रह्मको जान लिया यह अभिमान नहीं होना चाहिए। यही बड़ी कड़ी बात है; क्योंकि जो वस्तु ज्ञानका विषय होती है वह भली-भाँति जान ली जाती है–जैसे यदि आग किसी चीजको जला रही है–तो लकड़ीको जलाते आप देख सकते हैं, परन्तु अग्नि अपने आपको नहीं जला सकता। जो सब जाननेवालोंका एक आत्मा है वह ब्रह्म है; उसमें 'मैंने जान लिया' ऐसा उसके जानकार होनेका जो दावा है वह झूठा है।

अब आप एक प्रतिपत्ति देखो। प्रतिपत्ति माने एक प्रकारका निश्चय। निश्चय यह हुआ कि जो कुछ है सो सब यही सत्य है—अतः सेवा करो लोगोंकी, परोपकार करो, सद्‌गुण धारण करो, सद्भावना रखो-यह जो दुनिया दिख रही है यह परमार्थ ही है, यह ब्रह्म है ऐसा समझो! तो, यह जो निश्चय है यह एकांगी है, केवल अधिभूतका निश्चय है। इसमें क्या कमी है कि एक तो जब हम कहते हैं कि 'यही ब्रह्म है' तो 'यही'में जितना हमको ज्ञात है उतना ही तो बोल सकते हैं न, जितना अज्ञात है वह छूट गया। बोले-यह भी ब्रह्म है, तो गलत हो गया, क्योंकि ब्रह्म माने होता है-पूरा, अधूरेका नाम ब्रह्म नहीं होता-देश-काल-वस्तुसे जो परिच्छिन्न न हो उसका नाम ब्रह्म होता है; जो सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदसे युक्त न हो उसका नाम ब्रह्म होता है; भेद-मात्रके अत्यन्ताभावसे जो उपलक्षित होता है वह ब्रह्म होता है। तो, यदि कहेंगे कि 'यही ब्रह्म हैं' तब फिर प्रश्न होगा कि फिर 'वह' क्या है जो 'यह' नहीं है, और 'मैं' क्या है? तो बोले भाई कि अभी यह ब्रह्म नहीं हुआ, अभी तो तुमने जैसे शालग्रामको ही ब्रह्म मानते हैं, वैसे एक ब्रह्माण्डको ब्रह्म या ब्रह्माण्ड-कोटिका ब्रह्म माना है-तुमने केवल अधिभूतको ही ब्रह्म माना है। अब यह बात दूसरी है कि कोई ऐसा हो बाबा कि अपने बेटेको ही ब्रह्म मानकर जिन्दगी भर सन्तोष करले-ऐसे लोग भी होते हैं, तो उन लोगोंसे तो कुछ कहना नहीं है, क्योंकि जहाँ विवेकका, विचारका आदर नहीं है, अपनी जिद्द ही है कि हम तो इसीको ब्रह्म मानेंगे-वहाँ हम क्या कहें?

एक सच्ची घटना आपको सुनाते हैं-हमारे एक मित्र थे-कहो तो हम नाम ही बोल दें—आजकल सरकारमें बड़े ओहदेपर हैं, यह जो अन्तराष्ट्रीय विज्ञान माने भाषान्तर करनेके लिए जो परिषद् बनायी हुई है, जो अन्तराष्ट्रीय विषयोंको हिन्दीमें ले आती हैं, उसमें वे काम करते हैं। वृन्दावनके एक राधारानीके स्वरूपको उन्होंने अपना सर्वस्व, इष्टदेव माना-जो कुछ है सो ये हैं, कृष्णाकी कृष्ण ये हैं, ब्रह्मकी ब्रह्म ये हैं, परमार्थकी परमार्थ ये हैं-लड़की नहीं थी लड़का था-ईश्वर कृपासे, तो अब उसको स्नान करावें, उसको भोजन करावें उसको सुलावें-उसको पहले खिलाकर स्वयं उसी थालीमें खाते थे—यह कोई बीस वर्ष पहलेकी बात है, बादमें जब वह उनके अनुसार काम न करे

और इनको गुस्सा आया तो उन्होंने लड़केको छोड़ दिया–फिर तो लड़का उनका दुश्मन हो गया कि हम तो इनको मारेंगे और कटार लेकर घूमता। तो, अब यह इस तरहसे किसी एक चीजको ईश्वर मान बैठना, और जिद्द कर बैठना और विवेकका आदर न करना–यह तो बात दूसरी है; लेकिन, समूचे विश्वको यदि परमेश्वरका स्वरूप माना जाये तो यह भी एक उपासनाकी पद्धति हो सकती है! लेकिन, केवल एक ब्रह्माण्ड नहीं करोड़-करोड़ ब्रह्माण्ड मिलाकर भी अगर उसको ईश्वर देखो तो क्या वह ईश्वर हो गया? बोले-नहीं, वह तो 'यह' है, ईश्वर कहाँ है?

कोई कहते हैं कि अच्छा, यह तो ईश्वर नहीं है, वह ईश्वर है–देवता ईश्वर है, इन्द्र ईश्वर है, रुद्र ईश्वर है, ब्रह्म ईश्वर है, बारहों बैकुण्ठमें रहनेवाले विष्णु ईश्वर हैं-ऐसे; अथवा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डमें जो अन्तर्यामी रूपसे विराजमान है वह ईश्वर है–वह है, हम उसको देख नहीं सकते हैं, अपनेसे अलग है और विश्व-ब्रह्माण्डका संचालक है और परोक्ष है। तो बोले कि क्या यह ईश्वरका पूरा रूप हो गया? कि नहीं हुआ। क्योंकि एक तो 'यह' उससे अलग रह गया और एक 'मैं' उससे अलग रह गया जो उसको जानता है, तो पूरा ब्रह्म नहीं हुआ, वह भी अधूरा ब्रह्म हुआ।

अच्छा, फिर बोले कि 'मैं ब्रह्म हूँ! तो फिर 'यह क्या रहा? और 'वह' क्या रहा? मैं ही तत्त्व हूँ तो 'यह और वह'के बारेमें तुम्हारा क्या ख्याल है? बोले कि यह जो होय सो हो, वह जो होय सो होय, मैं तो सत्य हूँ, परमार्थ हूँ। यह 'जो होय सो होय'में समूचे अज्ञानको अपने ऊपर लाद लिया यानी कि हम उसको नहीं जानते यह अज्ञानीकी प्रतिपत्ति है। जैसे 'यही ब्रह्म है' यह मानना भी अज्ञानीकी प्रतिपत्ति है क्योंकि वह छूट गया और मैं छूट गया; और जैसे 'वही ईश्वर है' यह मानना भी अज्ञानकी कृति है, अज्ञानकी रचना है क्योंकि इसमें 'यह' और 'मैं' छू गया; वैसे ही यह और वहसे निराला जो मैं है केवल उसीको पूर्णतत्त्व मान बैठना-यह भी अधूरापन है। यह मैं तो केवल अन्तःकरणमें मैं-मैं-मैं फुरफुराता है।

कि अच्छा आओ, एक खिचड़ी बनायें। क्या खिचड़ी बनावें कि दाल चावल-आलू तीनों एक साथ बटलोईमें डाल दी, पक गया उसका नाम

खिचड़ी; उसमें यह भी परमार्थ, वह भी परमार्थ, मैं भी परमार्थ-तीनों परमार्थका सम्मिलित रूप परमार्थ ब्रह्म है। तो कहते हैं कि अधिभूत बोलते हैं 'यह'को और अधिदैव बोलते हैं 'वह' को और अध्यात्म बोलते हैं 'मैं'को जो कि अन्तःकरणकी उपाधिसे है। जो लौकिक दृष्टिसे विषय होता है उसका नाम 'यह' है और दिव्य दृष्टिसे विषय होता है उसका नाम 'वह' है और दोनों दृष्टियोंमें मैंके रूपमें बैठा हुआ है वह 'मैं'है। तीनों अधूरे-अधूरे परमार्थ हैं तो कितने भी अपूर्ण मिल जायँ, अपूर्णका अभीष्ट पूर्ण नहीं हो सकता। इसकी तो ऐसी हँसी उड़ाते हैं आचार्य लोग कि एकने कहा कि जब एक अन्धा किसी चीजको नहीं देख सकता तो तीन अन्धे मिल करके उस चीजको देख सकेंगे, यह कल्पना बिलकुल बेकार है; एक-एकमें यदि पूर्ण होनेका सामर्थ्य नहीं है तो तीनों मिलकर भी तीन ही रहेंगे, वे पूर्ण नहीं होंगे–यह तीनोंका जो मिश्रण है, तीनोंकी जो खिचड़ी है यह ब्रह्म नहीं है। तो देखो, परिच्छिन्न अहं और अहंमें प्रकाशमान जो प्रकाश्य इदं है सो और इदं अथवा अहं दोनोंके कारण-रूपसे कल्पित जो सत् है सो-अहं, इदं और सत्–ये तीनोंका मिश्रण ऐसा होगा कि जैसे एक अनारका फल; जैसे उसमें गूदा भी है, बीज भी है और छिलका भी है ऐसे ही छिलकाकी तरह प्रकृति है, और हर गूदाके साथ एक-एक गुठली है–तो यह एकत्व नहीं हुआ, असलमें अलगाव ही हुआ।

अब देखो अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत ये तीनों अलग-अलग ब्रह्म नहीं और तीनोंका मिश्रण ब्रह्म नहीं-अकार-उकार-मकार-अलग-अलग भी ब्रह्म नहीं और तीनों मिश्रित होनेपर भी ब्रह्म नहीं। कि अच्छा, तीनोंका अत्यन्ताभाव ब्रह्म है–इसको शून्य बोलते हैं। वह भी परमार्थ नहीं है। क्योंकि शून्यका कोई साक्षी है या नहीं? 'तत्तु साक्षिकम् निःसाक्षिकम् वा'? साक्षी है तो वही साक्षी वेदान्तका ब्रह्म है और यदि निःसाक्षी है तो बन्ध्यापुत्रवत् असत् है, ब्रह्म कहाँ?

तो बोले कि इन तीनोंका जो वेदिता है, इन तीनोंका अलग-अलग भी और इकट्ठे भी और इनके अभावका भी, जिसके बारेमें केनोपनिषद्में कहा गया–

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुःषि पश्यति।
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्॥
यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधिः॥

वह यह जो जाननेवालेका अपना ऐसा आत्मा है—आत्मा भी कैसा कि जिसमें यह नहीं, वह नहीं, मैं नहीं, तीनोंका मिश्रण नहीं और तीनोंका अभाव नहीं-ऐसा जो आत्मस्वरूप है—ज्ञानमात्र, चिन्मात्र-कि वह ज्ञान तो है; परन्तु ज्ञानका विषय नहीं है। इसलिए किसीने यदि यह सोचा कि मैंने उसको जान लिया तो उसने बिलकुल ही गलत सोचा; ब्रह्म मानना भी एक उपासना है इसमें भी कोई गलती नहीं है, पर प्रतीक उपासनामें यह ब्रह्म है—यहके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करो जैसा कि हमारे साकार उपासक मानते हैं; 'वह ब्रह्म है' ऐसा माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है जैसा कि निराकार उपासक मानते हैं कि निराकार ईश्वर भी ब्रह्म है; और 'मैं' ब्रह्म है-यह माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि अहंग्रह उपासना इसीका नाम है। लेकिन फिर तीनोंमें-से किसी एक उपासनाको परमार्थ मानना—यह बिलकुल गलत है। अच्छा, तो तीनोंकी उपासना छोड़ करके निरुपास्य शून्यको मान! नहीं बाबा, जिसको वह शून्य मालूम पड़ रहा है उसको क्या करोगे? 'स त्वसाक्षिकम् साक्षिकम् वा'—यह जो शून्य-शून्य-शून्य बोलते हो उसका कोई गवाह है कि नहीं है? गवाह है—वह तो उसका अपना आत्मा ही है। तो, अहंग्रह उपासनाके द्वारा भी उपास्य, इदंग्रह उपासनाके द्वारा भी उपास्य, तद्ग्रह उपासनाके द्वारा भी उपास्य-तीनोंके मिश्रणके द्वारा भी उपास्य-सर्वात्म-भाव जिसको बोलते हैं—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानि इति शान्तमुपासीत।

वही अहं, इदं, तत्—सबका मूल वही कारण है—यह कारण ब्रह्मकी उपासना है और अभाव शून्य ब्रह्मकी उपासना है—वह भी उपासना है, लेकिन इन सारी उपासनाओंमें जो इदं रूपसे, तद् रूपसे, अहं रूपसे, तीनोंके मिश्रणके रूपसे, तीनोंके अभावके रूपसे जो विषय हो रहा है वह यथार्थ तत्त्व नहीं है, वह परमार्थ तत्त्व नहीं है, केवल ज्ञानमात्र ही परमार्थ तत्त्व है। इसमें

जैसे आग आगको जला नहीं सकती वैसे ही परमार्थतत्त्व घड़ीकी तरह जाना नहीं जा सकता, यह स्वर्गकी तरह भी जाना नहीं जा सकता और यह मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ–की तरह भी नहीं जाना जा सकता; मैंको जानते हैं कि मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ–ऐसे परमात्माको नहीं जान सकते; कि यह काला है यह गोरा है–ऐसे भी नहीं जान सकते कि यह छिपा हुआ है ऐसे भी नहीं जान सकते, कि तीनों वही है ऐसे भी नहीं जान सकते कि तीनोंका अभाव है वह कि ऐसे भी नहीं जान सकते। तुमने यह दावा जो किया कि मैंने जान लिया, यह बिलकुल गलत दावा किया।

एकने पूछा कि आत्मा साक्षात्कारका विषय कैसे हो? कि अरे, बाबा, विषय कैसे हो यह क्यों पूछते हो? आत्मा नित्य साक्षात्कार स्वरूप है–*'मुझको तूँ क्या ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास में'*–मैं तो तूँ ही हूँ–तो यदि किसीने यह जाना कि :

त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य देवेषु दभ्रमेवापि नूनम्।

यदि कहते हो कि मैंने ब्रह्मको जान लिया तो तुमने ब्रह्मको नहीं जाना, उसके एक एक अल्प रूपको जाना। यदि तुमने मैंके रूपमें जाना तो भी गलत जाना और यदि तुमने देवताओंके रूपमें जाना तो भी गलत जाना–

अथ नु तस्मान्मीमांस्यम् एवाद्यापि ते क्व ब्रह्म विचार्यमेव विदितात्

अभी तुम्हारे लिए यह मीमांसाका विषय है विचारणीय विषय है–विचारका विषय है; क्योंकि तुमने यह मान लिया कि मैं जानता हूँ। आदमीको परमात्माकी प्राप्तिमें जो जल्दीबाजी होती है न, यह कभी-कभी बहुत दुःख देती है। क्यों? मैंने तो एकसे पूछा कि आखिर तुमको इतनी क्या जल्दी है? तो उसने कहा कि महाराज, हमारे जिम्मे केवल यही काम है कि हम परमात्माको जानें? जल्दीसे जान लें तो अपनी दुकान सम्हालेंगे, ब्याह करेंगे, बच्चे पैदा करेंगे, पैसे कमायेंगे—दुनियामें हमको बहुत काम करना बाकी है, तो पहले परमात्माको जान लें, पीछे सब निपटायें! अब वह जल्दी न मालूम पड़े तो क्या होगा? कि यह जो त्वरा है न, यह गलत है। उसके लिए केवल जिज्ञासा ही काफी नहीं है, एक आदमी जानना तो चाहता है लेकिन उसके बुद्धि नहीं है—जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए जो साधन चाहिए वह तो हो न!

शान्ति नहीं है, दान्ति नहीं है, उपरति नहीं है, तितिक्षा नहीं है, श्रद्धा नहीं है, समाधान नहीं है और जिज्ञासा बड़ी तीव्र है। जैसे कि एक आदमी चाहता है कि हम आज ही अमेरिका पहुँच जायें, लेकिन, हवाई जहाजका किराया नहीं है उसके पास; तो पहुँचनेकी इच्छा होनेपर भी साधन-सामग्रीके अभावमें नहीं पहुँचेगा और एक आदमी है, उसके पास लाखों रूपया है–साधन-सामग्री खूब है—शम है, दम है, उपरति है, तितिक्षा है, श्रद्धा है, समाधान है–पर जिज्ञासा नहीं है, तो क्या होगा? धन तो खूब है, लेकिन जानेकी इच्छा नहीं है तो हवाई जहाजका टिकट काहेको खरादेगा? तो, जिज्ञासा भी चाहिए और साधन सामग्री भी चाहिए। अर्थी समर्थः-अर्थी भी हो–परमात्माको चाहे भी और उसकी प्राप्तिके लिए सामर्थ्य भी हो, और नहीं तो–

मैं बौरी ढूँढ़न चली, रही किनारे बैठ।

यह अपने 'मैं'का बलिदान करके परमात्माकी प्राप्ति होती है! आप जानते होंगे-बलिने तीन पग पृथिवी देनेका संकल्प किया वामनको, तो वामनने एक पगमें बलिके पास धर्मका जो लौकिक फल था वहाँ स्वामित्त्व अधर्म जन्य नहीं था–उसको नाप लिया; और धर्मका जो पारलौकिक फल था वह दूसरे पगमें लिया–धर्म-उपासना-योगका सब फल उन्होंने लौकिक और पारलौकिक-दो विभाग करके नाप लिया, अब तृतीय पग नापनेके लिए अणुमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहा, तो वामनने कहा कि तुमको नरकमें जाना पड़ेगा–तुमने प्रतिज्ञा की तीन पग देनेकी–हमको विश्व दे दिया, हमको तैजस दे दिया, अब तो तुम्हारे पास कुछ है ही नहीं–हमको स्थूल-सूक्ष्म दे दिया, अब तुम्हारे पास कुछ नहीं है; बलिने कहा कि महाराज, तीसरा पग आप हमारे सिरपर रखो–यह कथा आप देख लेना पुराणोंमें ऐसी ही है–

पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्।

माने हमारे मैंको नाम लो–लौकिक और पारलौकिक दोनों फल जिसके कर्मसे प्राप्त हुए थे उस कर्त्ताको नाप लो, उस कारणको नाप लो–जो स्थूल-सूक्ष्मका कारण है उस कारणको नाप लो। तो, जो यह कारण, यह मैं, अपना बड़प्पन देनेको राजी नहीं है उसको परमात्मा नहीं मिलता।

तो बोले कि अच्छा, दे दिया, तो उसके बाद खतम? कि उसके बाद

खत्म नहीं, उसके बाद वामन होंगे नौकर-पहरेदार। अकार-उकार-मकार-तीनोंको दे दिया और जो अर्धमात्रा है न, वह लगी रही वामनके साथ पीछे-पीछे। और अमात्र आत्माका स्वरूप है। अभाव एक माया है, शून्य एक माया है–क्यों? कि अभाव अपने अधिष्ठानसे जुदा नहीं होता, जैसे कि घड़ेका अभाव धरतीसे जुदा नहीं होता; और इन तीनोंका अभाव–अध्यात्मका, अधिभूतका और अधिदैवका, अलग-अलग भी और तीनोंके मिश्रणका भी, जो अभाव है वह अधिष्ठान स्वरूप है माने अपने आत्मसे जुदा नहीं है!

तो यही बात पहले कही गयी कि–

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।

और ब्रह्मवेत्ता सम्प्रदायका यह निश्चय है कि ब्रह्म विदित और अविदित दोनोंसे विलक्षण है–

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।

यह बात हमने सुनी है–'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'। अब आप इसके तीन विभाग कर लो–एक कार्य और एक कारण-द्रव्यमें, और दोनोंसे विलक्षण जो साक्षी है सो ब्रह्म है; फिर ज्ञात और अज्ञात चेतनमें दो विभाग कर लो और ज्ञात और अज्ञातका जो साक्षी है वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है; और दुःख-सुख और दुःख-सुखाभाव दोनोंका एक विभाग कर लो और दोनोंका जो साक्षी है वह ब्रह्म है। दुःख और सुख विदित और अविदित हैं–संसारके विषय ज्ञात और अज्ञात हैं–जहाँ ज्ञान होता है वहाँ अज्ञान भी होता है, जहाँ होना है वहाँ न होना भी है–और यह जो अपना स्वरूप है-वह इनसे विलक्षण है।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।

आगे यह बात कही जायेगी कि जो यह दावा करता है कि मैंने जान लिया उसने नहीं जाना, इसलिए यह बात बिलकुल ठीक कही गयी कि जो तुमको यह अभिमान हो गया है कि मैंने ब्रह्मको अच्छी तरह जान लिया यह तुम्हारी बुद्धि ही गलत है–यह बुद्धि ही मिटनी चाहिए–जो वेदिता है वह ज्ञानका विषय नहीं होता, आग-आगको नहीं जला सकती और यह ब्रह्मका

वेदिता कोई अहं परिच्छिन्न बनकर बैठा हुआ नहीं है और ब्रह्म किसीका वेद्य नहीं है-यह श्रुति तो आपने सुनी ही है कि-

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता।

वह सबको जान रहा है, अभाव रूपसे जान रहा है, भाव रूपसे जान रहा है, स्वरूप रूपसे जान रहा है, परन्तु 'न च तस्यास्ति वेत्ता; विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'-जो सबको जाननेवाला है उसको भला कौन कैसे जानेगा? उपनिषद्में आया कि-

अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ, अविज्ञातं विज्ञातृ।

वह सुना नहीं जाता सुनता है, वह मनन नहीं किया जाता मनन करता है, वह विज्ञानका विषय नहीं होता विज्ञानका विज्ञाता है। तो, इतनी बात तो मालूम पड़ती है, परन्तु, यह ब्रह्म है-यह तत्त्वमस्यादि महावाक्यके बिना नहीं मालूम पड़ती-'नान्योऽतोस्ति विज्ञाता'-इस आत्माके सिवाय दूसरा कोई विज्ञाता नहीं है।

अब प्रश्न यह आया कि इसको जानना आसान है कि मुश्किल-अनायास इसका ज्ञान हो जाता है कि कठिन है? तो बोले भाई देखो, जिसके दोष क्षीण हो गये हैं, वह तो श्रवण-मात्रसे ही इसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और जिसके दोष क्षीण नहीं हुए हैं उसको इसको समझनेमें बहुत कठिनाई होती है और कोई ऐसा है कि लगनवाला होवे तो दोष भी क्षीण कर ले और इसको जान ले, क्योंकि छान्दोग्योपनिषद्में यह आख्यायिका आती है कि प्रजापतिके पास विरोचन और इन्द्र दोनों तत्त्वज्ञानके लिए गये; महात्मा विचारा तो भोला-भाला-वे तो अपने अनुभवका ही विकीर्ण करते हैं। देखो, जैसा खाते हैं वैसा ही वमन करते हैं-यह तो आपको मालूम ही है; तो महात्मा विचारा दिन-रात-ब्रह्मकी चर्चा करे, ब्रह्मकी चर्चा सुने-यह लोक-चर्चा जो लोग करते हैं न कि ये ऐसे और वे तो बेवकूफ हैं, उनका मुँह थोड़े ही कोई बन्द कर सकता है, और मुँह बन्द करें कि न करें वे हमेशा संसारी ही रहेंगे, वे हमारे रास्तेके साथी नहीं हो सकते-

मन्त्र मिले अरु मन मिले मिले भजन रस रीति।
तुलसी तहाँ निशंक ह्वै कीजिये प्रीति प्रतीति॥

यह देखना कि वे तुम्हारे साथ चलते हैं कि नहीं चलते हैं– *'मन्त्र मिले अरू मन मिले मिले भजन रस रीति'*–जो एक रास्तेके राही हैं उनका संग होना चाहिए न! अब कोई कहीं बैठा है, कोई कहीं बैठा है-तो ऐसा तो नहीं हो सकता कि एक ही गाड़ी हो और वह एक साथ ही अमृतसर भी पहुँचा दे और कलकत्ता भी पहुँचा दे। तो विरोचन और इन्द्र दोनों पण्डित, प्रजापतिने दोनोंको उपदेश किया कि यह जो आँखमें पुरुष दिखता है यह आत्मा है–यह अमृत है अभय, ब्रह्म है–

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति एतद् अमृतं अभयं एतद् ब्रह्म।

(छां. 8.7.4)

सीधी-सी बात है–आँखमें क्या है? तो विरोचनने जाकर दूसरेकी आँखमें देखा, पानीमें देखा, शीशेमें देखा-दूसरेकी आँखमें देखा कि क्या दीखता है, तो देखा कि उसकी खुदकी परछाँई दूसरेकी आँखमें दिख रही थी, तो उसने कहा-बस-बस प्रजापतिने जो यह आँखमें परछाई दिख रही है इसीको ब्रह्म बताया है–'य एष अक्षिणि पुरुषः' तो बोले कि यह परछाईं तो शरीरकी है तो फिर आत्मा शरीर ही है-यह विरोचनको मालूम पड़ा; और इन्द्रने विचार किया–उसके अन्दर तो दैवी-सम्पत्ति है उसने यह विचार किया कि यह जो परछाईं दिखती है यह तो बाहरसे आयी, भीतर क्या है यह तो मालूम नहीं पड़ता है, तो सौ वर्षसे अधिक ब्रह्मचर्यका पालन करके पुनःपुनः इन्द्रने आत्मज्ञान प्राप्त किया और विरोचन तत्काल ही अपने शरीरको ही ब्रह्म मानकरके कि ये शरीरको ही ब्रह्म बताते हैं चले गये, क्योंकि विरोचनको तो भोग भोगना था और इन्द्रके मनमें जिज्ञासा थी। तो जो परमेश्वरको प्राप्त करना चाहते हैं उनकी शकल-सूरत दूसरे ढंगकी होती है, उनकी प्रवृत्ति भी दूसरे ढंगकी होती हैं जिससे पता चल जाता है कि ये ईश्वरकी ओर चलना चाहते हैं कि नहीं! आप बताओ कि आप सुख चाहते हो? दुःख मिटाना चाहते हो कि नहीं? यह तो साफ है कि दुःख मिटाना चाहते हो। अच्छा, मरना नहीं चाहते यह भी साफ है, लेकिन आप अज्ञान मिटाना नहीं चाहते हो। आप देख लो, असलमें आपका स्वरूप (सत्) 'है' है क्योंकि आप हैं और आपका स्वरूप ज्ञान है क्योंकि आप जानते हैं–सत्का अर्थ संस्कृतमें है 'होता है'–यह

भाषाका ही भेद है, अस्ति इति सत्-जो है उसीको सत् बोलते हैं और चेतति, प्रकाशते, जो स्वयं प्रकाश है उसको चित् बोलते हैं–आप दूसरोंको भी जानते हैं, आप चित् हैं; और आप अपनेसे बहुत प्रेम करते हैं–आपका आत्मा प्रिय है। आप बड़े प्यारे हैं, आप बड़े जानकर हैं और आप हैं तो आप 'हैं' के साथ तो रहना चाहते हैं, उसके साथ 'हमेशा' जोड़ लेते हैं, कि कितना रहना चाहते हैं कि हमेशा रहना चाहते हैं; इसी तरह आनन्दके साथ पूरा जोड़ लेते हैं–कितना आनन्द चाहते हैं? कि पूरा आनन्द चाहते हैं, लेकिन आप जाननेके साथ क्यों नहीं जोड़ते कि आप पूरा जानना चाहते हैं? तो, आप अपने ज्ञानात्माका तिरस्कार करके बैठे हैं। असलमें, आपके जीवनमें जो मृत्यु आती है वह इसी अपराधका फल है, क्योंकि आपने ज्ञानात्माका तिरस्कार किया; आपके जीवनमें जो दुःख आता है उसका भी यही कारण है कि आपने ज्ञानात्माका तिरस्कार किया। तिरस्कार क्या किया कि अरे, चाहे सच कुछ भी हो, चाहे परमार्थ कुछ भी हो हमको तो खाने-पीने-जीनेसे मतलब है; परमार्थको लेकरके क्या चाटेंगे–यह जो परमार्थकी उपेक्षा है, यह जो सच्चे ज्ञानकी उपेक्षा है यही दुःख और मृत्युका हेतु है; ज्ञान होनेपर हर्ष और शोक दोनों छूट जाते हैं-इसका मतलब है कि अज्ञानसे ही हर्ष और शोक हैं और अज्ञानसे ही मृत्यु है। क्योंकि आपने अपने अन्दर अज्ञानको बसा लिया, इसलिए दुःख और मौत आपके भीतर आकरके बस गये। इस अज्ञानको निकाल फेंकिये! पर यह अज्ञान लेबोरेटरीमें जाकर तो निकलनेसे रहा, यह प्रयोग शालामें नहीं निकलेगा; यह कोई ऑक्सीजन-हाइड्रोजन नहीं है, यह ज्ञान-स्वरूप है-ज्ञान-स्वरूप। देखो, एक ही गुरुके पास कोई सुनकर तत्काल ग्रहण कर लेता है।

'तत्त्वश्रवणमात्रेण शुद्ध-बुद्ध-निराकुलः' तत्त्वके श्रवण मात्रसे ही तत्काल ज्ञान हो सकता है, इसीलिए हमेशा सुनना चाहिए कि पता नहीं, हमारे दिलमें कब कौन-सी बात आकरके लग जाय, चोट कर दे और हमारे परिच्छिन्न अहं-भावको मिटा दे! यह बात पढ़नेसे नहीं होती, पढ़नेसे उतना ही समझमें आता है जितना हम जानते हैं और पढ़ावे कोई तो वह बात समझमें आती है जो हम पहलेसे नहीं समझते होते हैं–तो एक गुरुके पास

बैठकरके कोई सुनकर ही सीख लेता है; कोई गलत, कोई विपरीत सीख लेता है; किसीको भ्रान्ति हो जाती है; किसीकी समझमें नहीं आता है-क्यों? बोले-आत्मतत्त्व अतीन्द्रिय है–अतीन्द्रिय है का अभिप्राय है कि इन्द्रियोंसे यह देखा नहीं जाता। इसलिए यदि कोई कहे कि मैंने जान लिया, तो यह बात बिलकुल गलत बन जाती है–किसको जान लिया, क्या जान लिया; किसने, किसको, किस रूपमें जान लिया? तो बोले कि-इसका उत्तर आगे बहुत बढ़िया है!

यह उत्तर दिया आगे–'नो न वेदेति वेद च'–हम यह भी नहीं कहते कि हमने नहीं जाना और हम यह भी नहीं कहते कि हमने जान लिया। यह असलमें कहनेकी जरूरत नहीं है, सोचनेकी जरूरत नहीं है, अभिमान करनेकी जरूरत नहीं है। जितनी वेद्यकी विद्या होती है-वह अभिमान बढ़ानेवाली और अभिमानकी प्रतिष्ठा करनेवाली होती है–हमने यह जान लिया, हमने वह जान लिया, हमने वह जान लिया। परन्तु यह जो यह-वहके रूपमें किसी चीजको जानना था वह तो अपनेको न जाननेसे ही हुआ था, इसलिए यदि अपने आपको जान लो तो वह सुख-शान्ति मिलेगी कि देखो, आपको यह ज्ञान होगा कि मैं कभी मरता ही नहीं हूँ-मौतका डर आपको लगता है कि नहीं लगता है? आपको ऐसा ज्ञान होगा कि हमारे आत्माकी कभी मृत्यु नहीं होती, तो मृत्युका डर छूट जायेगा कि नहीं? कि बोले-हाय-हाय, हमारा धन गया, हमारा जन गया, हमारे रिश्तेदार गये–उनकी याद करकरके रोते रहते हैं न! आपको ज्ञान यह होगा कि वे न आपके थे, न आप उनके थे, वह एक सपना आया था और टूट गया, अब उसके लिए शोक करनेकी जरूरत नहीं है। बोले-हाय-हाय, हमसे तो यह पाप हुआ, हमारे सरीखा नीच प्राणी और कोई नहीं है! तो आप देखेंगे कि जैसे सपनेमें पाप हो जानेसे आपकी जाग्रत् अवस्थामें उसका लेप नहीं होता वैसे ही इस संसारमें जितने भी कर्म हुए हैं उनके साथ आपका कोई रिश्ता-नाता नहीं है, कोईके लिए रोने-पीटने, अपनेको दीन-हीन समझनेकी कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि वे कर्म न आपमें लगे और न आप उन कर्मोंमें लगे।

कि अच्छा, तो आपको अपने बारेमें कैसा ख्याल होता है–आप अपनेको बड़ा पुण्यात्मा मानते हैं-हमने इतना दान किया, हमने इतना धर्म किया–अभिमान होता है न और कोई कह दे कि यह चोर है तो बड़ा दुःख होता है। क्यों दुःख होता है? कि अपनेको धर्मात्मा मानते हैं इसलिए दुःख होता है। तो, आप देखेंगे कि जो यह आपका धर्म और कर्म है न, बिलकुल स्वप्न-सरीखा–मनसे माना हुआ है, और आपका यह अभिमान बिलकुल झूठा है कि हम धर्मात्मा है; ज्ञान होनेसे आपके अभिमानपर जो यह चोट लगती है वह भी छूट हो जायेगी।

अच्छा, आपको अभी यह मालूम पड़ेगा कि हम सुखी हैं, हम दुःखी हैं; हम रागी हैं, हम द्वेषी हैं। हम किसीसे राग करते हैं; यह तो बिलकुल अविचार-मूलक है। हम आपको यह वेदान्तका अनुभव सुना रहे हैं—यह जो आपको मालूम पड़ता है कि इस समय हमारा एक दोस्त है और उसके बिना हम जिन्दा नहीं रह सकते, यह आपकी भूल है—कितने ऐसे दोस्त आपकी जिन्दगीमें हैं और गये हैं, आज जिस दोस्तको लेकरके आप बैठे हैं यह भी आगे चलकर छूट जायेगा, जैसे और दूसरे छूट चुके हैं वैसे ही यह भी छूट जायेगा, यह तो सपनेका दोस्त है, इससे राग बिल्कुल झूठा है और इस समय भी राग नहीं हैं-इस समय जो मालूम पड़ता है ना कि हम बड़ा भारी प्रेम करते हैं, बड़ा भारी राग करते हैं, वह एकदम झूठा है, जरा-सी कोई कठिनाई आने दो तो देखो तुम्हारा मन कैसी दुविधामें पड़ जाता है और अपने आपको बचानेके लिए आदमी दोस्तको छोड़ देता है।

हमको ऐसे बहुत मामले मालूम है जिसमें दोनों एकराय होकरके कोई काम करनेके लिए गये, लेकिन जब संकट आ गया तब दूसरा चिल्लाने लगा कि हमको तो इन्होंने पकड़ लिया है-हमको तो इन्होंने पकड़ लिया है और सारा प्रेम हवा हो गया। और यह जो मालूम पड़ता है कि हम द्वेषी हैं यह भी बिल्कुल झूठा है-आप किसीसे द्वेष कर नहीं सकते–अगर आपके मनमें राग और द्वेष होता तो आप सो नहीं सकते, नींद ले सकते–आप सुषुप्ति-कालमें किसीसे दुश्मनी करके बता दीजिये, आप सुषुप्ति-कालमें किसीसे प्रेम करके बता दीजिये, आप सारे प्रेम और द्वेषको छोड़करके सोते हैं–यह झूठी-गलत

धारणा है कि हम रागी और द्वेषी हैं! बोले कि हम बड़े सुखी हैं, हम बड़े दुःखी हैं, हम बड़े धनी हैं–ये सब कल्पना हैं अपने स्वरूपको न जाननेके कारण; ये सारी झूठी-झूठी कल्पनाएँ आपके मनमें भर गयी हैं–हम धनके मालिक हैं, हम मकानके मालिक हैं, हम धरतीके मालिक हैं, हम दोस्तवाले हैं, हम दुश्मनवाले हैं, हम सुखवाले हैं, हम दुःखवाले हैं- ये सारी कल्पना आपके मनमें कहाँसे आयी हैं?

कि केवल अपनी असलियतको न जाननेके कारण, केवल परमार्थतत्त्वसे विमुख होनेके कारण, केवल भ्रान्तिके कारण–इसी भ्रान्तिको मिटानेका प्रयास यह वेदान्त करता है और यदि यह प्रयासमें सफल हो जाये, सचमुच यह भ्रान्ति मिट जाये तो आपका यह जीवन इतना सरल, इतना स्वच्छ, इतना निर्मल हो जाये-जिसमें कहीं-कोई बन्धन नहीं; दुःख नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, मृत्यु नहीं-नींद आयी तो सो गये, भूख लगी तो खा लिया, प्यास लगी तो पानी पी लिया, काम करनेका मन हुआ तो मिल-जुल लिया और फिर अपने ठिकाने; कोई सम्बन्ध, कोई बन्धन, कोई दुःख नहीं, यह जितना दुःख है यह अज्ञानका है। तो, आप जीते रहना चाहते हैं माने मृत्युसे आपका द्वेष है; और आप सुखी रहना चाहते हैं माने दुःखसे आपका द्वेष है; परन्तु, अज्ञानको जो आप नहीं छोड़ना चाहते है, अज्ञानसे आपको कोई द्वेष नहीं है–माने आपके मनमें सच्ची जिज्ञासा नहीं है और आपको सत्यका ज्ञान नहीं है और इसी अज्ञानके कारण यह जीवन जो है वह नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है। जल्दी-से-जल्दी इस अज्ञानको मिटानेकी कोशिश करनी चाहिए।

●

प्रवचन : 10.1

नो न वेदेति वेद च

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥

(केन. खण्ड 2, मन्त्र 2)

दुनियामें दो तरहके लोग होते हैं-एक-अभिमानी प्रकृतिके और दूसरे विचारसे डरनेवाले। जो विचारसे डरते हैं वे जल्दीसे कोई बात मान लेते हैं कि चलो बाबा, ऐसा ही सही। तो, ऐसे लोगोंको हल तो याद रहता है, हल कहो, फल कहो-एक ही बात है-जैसे किसी बच्चेने उत्तरकी पुस्तकमें-से यह याद कर लिया हो कि इस सवालका जवाब यह है और समझता न हो-क्या माथा-पच्ची करना-तो जो लोग विचारसे डरते हैं वे बिना समझे ही समझा हुआ मान बैठते हैं; और कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अभिमानी प्रकृतिके होते हैं और अपनेको नासमझ स्वीकार करनेमें अपनी बड़ी हेठी मानते हैं, तो वे समझें चाहे नहीं समझें-कह देते हैं कि हमने समझ लिया-तो यह दोनों ही मनुष्यके मनकी कमजोरी हैं-विचारसे कतरानेमें तो बुद्धिकी निर्बलता है और अपनेको नासमझ स्वीकार करनेमें हीन भावना बैठी चोट लगेगी। तो, विचार भी करना चाहिए और जो-जो अपने अन्दर नासमझी हो उसको समझ करके, स्वीकार करके मिटानेकी भी कोशिश करनी चाहिए।

यह ब्रह्म-विद्या है, एक ऐसी चीज है, जिसको जान लेनेके बाद दुःख नहीं है; एक ऐसी चीज है जिसको जान लेनेके बाद अज्ञान नहीं है; एक ऐसी वस्तु है जिसको जान लेनेके बाद जाना-आना नहीं है-नरक-स्वर्ग नहीं है और यह है केवल ज्ञान--यह कोई कर्मका फल नहीं है, कर्मका फल तो कर्तृत्वकी सम्पुष्टि है; उपासनाका फल है अपनेको गौण बना करके उपास्यको प्रधान बनाना। तत्-पदार्थ-प्रधान उपासना होती है। और त्वं-पदार्थ-प्रधान माने अहं-पदार्थ-प्रधान कर्म होता है-कर्म अपनेको बड़ा करता है और उपासना समझनेवालेको बड़ा करती है; उपासना इष्टको बढ़ाती है और कर्म कर्त्ताको

बढ़ाता है--और करो और पावो, और करो और पावो। योगाभ्यास कर्तृत्व और इष्ट दोनोंको शान्त कर देता हैं-इष्टाकार-वृत्तिका भी निरोध हो जाता है और कर्तृत्व भी शान्त हो जाता है--निरोध-दशामें द्रष्टा अपने-स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है परन्तु वह अज्ञानको नहीं मिटा सकता। कोई भी सुषुप्ति-चाहे वह स्वाभाविक हो या आभ्यासिक-अज्ञानको नहीं मिटा सकती। असलमें समाधि भी चित्तकी सुषुप्ति है–रोज-रोजकी सुषुप्ति स्वाभाविक होनेसे, अनायास होनेसे तामसिक है सत्त्वावस्थान-रूप समाधि है, परन्तु दोनोंमें वृत्ति काम नहीं करती हैं, इष्टकी और कर्तृत्वकी स्फूर्ति वहाँ भी नहीं होती और यहाँ भी नहीं होती। तो, अब एक जैसे आजकल क्या बोलते हैं-तुलनात्मक अध्ययन-तुलनात्मक विचार, परन्तु समाधि लगनेसे ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि जब समाधिसे उठेंगे तो जिस पूर्वज्ञानकी स्थापना करके समाधिमें गये होंगे उससे उठकर फिर उसी पूर्वज्ञानमें आ जायेंगे, जैसे जैसी ममता छोड़कर सो जाते हैं, जगनेके बाद फिर वैसी ही ममता, वैसी ही अहंता आ जाती है-ऐसा होता है। तो कर्तृत्व-प्रधान कर्म है और इष्ट-प्रधान उपासना है--कर्तृत्व दोनोंमें है; कर्तृत्व और इष्टकी शान्ति समाधि है और उसमें द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित है--यह सब जन्य स्थितियाँ हैं–जन्य माने पैदा की गयी हैं-कर्मका फल स्वर्ग पैदा किया गया है; उपासनासे इष्ट पैदा किया गया है–इष्टत्व जो है वह पैदा किया गया है। परन्तु विद्या जो होती है वह विद्यमान वस्तु की होती है, जो पहलेसे मौजूद होता है उसका ज्ञान होता है। तो आपको फिर याद दिलाते हैं कि यदि दूसरेका ज्ञान होवे–अपनेसे अन्यका ज्ञान होवे तो, ज्ञान होनेके बाद उसको पाना बाकी रहता है और पानेके लिए प्रयत्न करना पड़ता है–जैसे घड़ीका ज्ञान हुआ कि यहाँ है तो उसको पास लाकर देखना बाकी है, पास लेना, तो हाथसे उठाना बाकी है प्राप्त करना बाकी है–अन्यका ज्ञान होनेपर अन्य वस्तु अप्राप्त रहती है, फिर उसकी प्राप्तिकी इच्छा होती है या परिहार्यकी इच्छा होती है; इष्ट है तो पानेकी इच्छा होगी, अनिष्ट है तो त्यागनेकी इच्छा होगी और फिर उसको पाने या त्यागनेके लिए प्रयत्न करना पड़ेगा और जब प्रयत्नसे मिलेगी तब एक सीमितकालके लिए मिलेगी और चूँकि वह अलग है इसलिए अलग भी हो

जायेगी। लेकिन, आत्मज्ञान जो होता है-अपने आपेका ज्ञान, उसके बाद आत्मा अप्राप्त नहीं रहता है क्योंकि वह तो हमारी स्वयंताका ज्ञान है, खुदका ज्ञान है--वह ज्ञान होनेके बाद अप्राप्त नहीं रहता है, इसलिए आत्माके बारेमें जो ज्ञान होगा उसको पानेकी इच्छा नहीं होगी क्योंकि वह तो मिला हुआ है और उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न भी नहीं होगा। लेकिन, यदि यह आत्मज्ञान परिच्छिन्न आत्मज्ञान हुआ तो देश काटेगा इसको, काल काटेगा इसको, वस्तु काटेगी इसको, ईश्वर काटेगा इसको! तो यह जब आत्माका ज्ञान अपरिच्छिन्न-आत्मज्ञान होता है, अद्वितीय आत्मज्ञान होता है-इसीको ब्रह्मात्म-ज्ञान बोलते हैं-देश-काल-वस्तुसे अनकटा, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे रहित, आत्माके ब्रह्मतत्त्वका, अद्वितीयत्वका जब ज्ञान होता है तब यह आत्मा अप्राप्त नहीं है, नित्यप्राप्त है-इसकी प्राप्तिकी इच्छा भी गलत है और इसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न भी गलत है, क्योंकि यह तो अपना आपा है-इच्छा जिससे सिद्ध होती है उसका नाम आत्मा है; प्रयत्न जिससे सिद्ध होता है उसका नाम आत्मा है, उसका यह साक्षी-चैतन्य है और यह देश-काल-वस्तु सबका साक्षी चैतन्य है और अद्वितीय है और परिपूर्ण है।

बोले-समझ गये? कि हाँ, महाराज, कूट-कूटकर भली-भाँति समझ गये-'सुवेदति यदि मन्यते सुवेद इति'-यदि तुमने यह मान लिया कि मैंने भली-भाँति जान लिया तो देखो, एक तो वेदका विरोध हुआ और एक आचार्यका विरोध हुआ-कैसे? कि वेदने कहा–'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि–ब्रह्म विदितसे भी दूर है और अविदितसे भी दूर है-विदित माने कार्य और अविदित माने कारण; विदित माने ज्ञात और अविदित माने अज्ञात और विदित माने सुख-दुःख और अविदित माने सुख-दुःखाभाव-इनसे विलक्षण है-विदित माने विक्षेप और अविदित माने समाधि-दोनोंसे पृथक् है, दोनोंसे विलक्षण है-अभी यह बात कही गयी; तो यदि तुमने यह कहा कि हमने भली-भाँति समझ लिया तो पहले तो तुम्हें जो उपदेश किया गया उसके विरुद्ध ही बात कह दी जिसको कहा गया कि वह विदितसे अन्य है उसीको तुम कह रहे हो कि हमने विदित बना दिया और गुरुने बताया कि तुम वेद्य नहीं हो और तुम कहते हो कि हमने जान लिया तो ब्रह्मको वेद्य बना दिया न!

तो आचार्यके विरूद्ध, वेदके विरूद्ध हुआ तुम्हारा अनुभव! ज्ञान-वृत्तिका विषय बनाकर घट-पटादिके समान जिसको तुमने जाना वह तो ब्रह्म है ही नहीं-जो बुद्धिकी थैलीमें आ गया वह ब्रह्म कैसे? कैसे ब्रह्मको जाना? वृत्ति ब्रह्ममें घुसती है कि ब्रह्म वृत्तिमें घुसता है? जाननेका प्रकार बताओ। तो, ब्रह्म तो इतना ठोस है कि उसमें वृत्ति-सृत्तिके लिए कोई जगह नहीं है, दूसरा कोई उसमें घुस नहीं सकता और कहो कि ब्रह्म वृत्तिमें आ गया तो ब्रह्म तो इतना छोटा है नहीं कि वृत्तिके घेरेमें आवे! वह तो दोनोंमें-से एकको मरना पड़ेगा-या तो ब्रह्म नहीं रहेगा-यह तो 'तूँ प्रभु जीवे मैं मर जाऊँ'-वृत्तिको मारना पड़ेगा-अहंकार मारना पड़ेगा, अपनी मान्यता मारनी पड़ेगी, अपने सुखकी कामना मारनी पड़ेगी-यह कोई खालाका घर थोड़े ही है, यह अद्वितीय आत्माका बोध है।

एक बात तो यह हुई कि आचार्य और गुरुका विरोध किया और तुमने जैसे घट-पटादि पदार्थ ज्ञानके विषय होते हैं वैसे विदितमें ब्रह्मको डाल दिया और सबसे खराब बात जो हुई वह यह कि तुम बन गये वेत्ता-जानने वाले, तो यह वेदितृत्व जो है, ज्ञातृत्व-यह ज्ञेयके भेदसे जैसे घटज्ञ, पटज्ञ, मठज्ञ-घटको जाना, पटको जाना, मठको जाना, स्त्रीको जाना, पुरुषको जाना-वैसे बदलता जाता है परन्तु ज्ञान नहीं बदलता है, ज्ञेयापेक्ष जो ज्ञातृत्व है वह बदलता जाता है। तो तुमने तो स्वयं अपना सत्यानाश कर दिया। एक बड़ी मजेदार बात है कि यदि ब्रह्म हमसे अलग है तो वह जड़ होगा-ब्रह्मकी दो ही गति होगी हमसे अलग होने पर वह आपको बता देते हैं—या तो ब्रह्म नामकी कोई वस्तु नहीं है, कल्पित है, परोक्ष है, कल्पना-मात्र है और या सामने है, दीखता है तो वह घट-पट आदिके समान जड़ है, तीसरी कोई गति नहीं है; और मैं ब्रह्मसे अलग हूँ तो मेरी क्या गति होगी? कि मैं टुकड़ा हो जायेगा, परिच्छिन्न हो जायेगा—मुझसे अलग होकर ब्रह्म बेहोश हो जायेगा और ब्रह्मसे अलग होकर मैं कट-पिट जाऊँगा, दुःखी हो जाऊँगा, अज्ञानी हो जाऊँगा, मृत्यु-ग्रस्त हो जाऊँगा, परिच्छिन्न हो जाऊँगा। इसलिए इस दुनियामें जो परमात्मासे अलग अपना अस्तित्व लिये-लिये डोलते हैं वे या तो सुखी-दुखी होते रहते हैं-दिन भरमें सत्रह बार रोयेंगे और सत्रह बार हँसेगे और या तो

यथार्थताके ज्ञानसे बंचित बेहोश होंगे या सपना दिखेगा उनको-यह सपना ही है कि जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े रहेंगे।

तो, अब प्रश्न यह है भाई कि तुम अपनेको विकारी बनाते हो कि ब्रह्मको विषय बनाते हो-मैंने भली-भाँति जान लिया इसका क्या मतलब है? एक महात्मा थे, उनके यहाँ बड़ा मजा आता था, उनसे पूछते कि साफ-साफ बताओ, सीधे-सीधे बताओ कि आपने ब्रह्मको जाना कि नहीं जाना। भोले-भाले थे, कहते--भाई, कह दें कि जान लिया तो झूठी बात हो गयी और कहें कि नहीं जाना तो अज्ञान तो है ही नहीं, तो आखिर कहें तो क्या कहें, कुछ कहते नहीं बनता! अब, आप भी इसी बातको सीख लो कि कोई पूछे तो यही उत्तर दे देंगे, तो मजा ही आ जायेगा-भला! आजकल तो लोग व्याख्यान सुनकर याद कर लेते हैं, और अब दोहराते हैं तब मालूम पड़ता है–एक महात्मा थे हमारे बीचमें थोड़ी चटनी-अचारकी बात भी कर देते हैं-वे कहते थे कि जब कोई आदमी मेरे सामने बैठकर बोलता है तब मुझे पता चलता है कि यह कहाँ बैठकर बोल रहा है, जीभ पर बैठकर बोल रहा है या दिलमें बैठकर बोल रहा है, जो बात बोल रहा है वह अनुभव करके बोल रहा है कि सुनी सुनाई बोल रहा है, या अपने आपको यथार्थकी अनुभूतिसे आप्लावित करके बोल रहा है।

अब देखो, अब प्रश्न यह है यदि कहें कि नहीं जाना तो जैसे संसारमें चरवाहे होते हैं, भेड़ चरानेवाले होते हैं, जैसे गैया चरानेवाले होते हैं, जैसे भैंस चरानेवाले होते हैं वैसे ही तुम भी हुए कि नहीं क्या फर्क हुआ? अच्छा, अब यह कहो कि जान लिया, तो पहले वाला दोष आ गया, तुम विकारी हो गये और गुरुके शास्त्रके विपरीत हो गया–गुरु और शास्त्रके विपरीत हुआ एक और ब्रह्म ज्ञानका विषय हो गया, ज्ञान नहीं रहा, विषय हो गया जड़ हो गया और तुम स्वयं विकारी हो गये! तो, जान लिया कहने पर तो तीन दोष हो गये और नहीं जाना कहनेपर तुम जैसे गड़ेरिया होता है, जैसे चमार होता है, जैसै बच्चा होता है-वह भी नहीं जानता है, जैसे पागल नहीं जानता है,वैसे ही तुम भी नहीं जानते हो। कहो कि अच्छा, चुप ही रह जायें, न जानना बोलें, न न जानना बोलें, तो बोले कि यदि ऐसा करोगे तो 'अप्रतिभा-प्रसङ्गात्'–माने तुमको मालूम ही नहीं है–तो अप्रतिभा नामका दोष हुआ-हार

गये तुम! तो बोले कि क्या बोलना? बोले-अच्छा, जो मैं सिखाता हूँ सो बोलना। तो बोले कि यह सिखाया-पूत जो है, सो आप जानते ही हैं कि फौजमें सबसे आगेवाली पंक्तिमें सिखा-सिखाया हुआ नहीं जा सकता, अनुभवी चाहिए उसके लिए।

तब फिर यह प्रश्न हुआ कि अच्छा, फिर कैसे बोलें? तो गुरूने कहा कि देखो, यदि तुम ब्रह्मको 'यह' जानते हो, तो भी वह अधिभूत है, अधूरा है और यदि ब्रह्मको 'वह' जानते हो तो वह परोक्ष है, अज्ञात है; जड़को ब्रह्म मानकर उसकी सेवा करो यह दूसरी बात है और ब्रह्मको परोक्ष मानकरके उसका ध्यान करो यह दूसरी बात है और अहंको ब्रह्म मानकर अध्यात्मको ब्रह्म मानो और अहंग्रह उपासना करो यह दूसरी बात है। अधिदैवको ब्रह्म मानो या अधिभूतको ब्रह्म मानो या अध्यात्मको ब्रह्म मानो-तीनों ही गलत हैं। तीनोंको सम्मिलित रूपसे ब्रह्म मानो तो यह सर्वमें ब्रह्म-भाव हो गया। तीनोंका अभाव मानो तो शून्यवाद हो गया। तो तीनोंका अलग-अलग भी, तीनोंका इकट्ठा भी, तीनोंके अभावका भी जो साक्षी है वह साक्षी तो अपना आपा ही है। कि यह बात भी थोड़ा-सा ध्यान करनेसे-जरा शान्त करके चित्तको शून्यको देखने लग जाओ तो मालूम पड़ेगा कि तुम साक्षी हो-तीनोंसे अलगाव कर लो और तीनोंके अभावके साक्षी बनकर बैठ जाओ! बोले, हो गया। कि अरे भाई, अभी जो यही साक्षी है न इसके बारेमें एक सवाल है कि यह पूर्ण है कि नहीं, यह अविनाशी है कि नहीं, यह अद्वितीय है कि नहीं, अपने बेटेका नाम ब्रह्म रख लो यह बात दूसरी हैं, साक्षीके ब्रह्मत्वका बोध होना चाहिए, इसीलिए गुरुने कहा कि 'अथ नु मीमांस्यमेव ते'–इसलिए मेरे प्यारे शिष्य, अभी तुमको विचार करना चाहिए–'मीमांसा शब्दः पूजित-विचारवचनाः'–मीमांसा किसको कहते है कि आदरणीय विचारका नाम मीमांसा है–अभी तुमको बड़े प्रेमसे, बड़ी श्रद्धासे इस बातका विचारका करना चाहिए, जल्दीसे अपनेको ब्रह्मज्ञानी मानकर मत बैठ जाओ। ऐसे ब्रह्मज्ञानको यह बात तो बड़ी आसान है-योगवासिष्ठमें एक जगह ऐसे लिखा है कि एक फूलकी पंखुड़ी मसल देना कठिन है लेकिन ब्रह्मको जानना कठिन नहीं है-आँखकी पलकको गिराना और उठाना यह आयास-साध्य है, इसमें परिश्रम है

और ब्रह्मको जाननेमें परिश्रम नहीं है। आपने सुना ही होगा--अष्टावक्रने जनकको कैसे ज्ञान कराया कि घोड़ेके रिकाबमें पाँव और ब्रह्म-ज्ञान! क्योंकि यह तुम ही हो-तुम ही अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय ब्रह्म हो और तुम्हारे अन्दर यह संसार-वंसार कुछ नहीं है--यह जो विचारसे कतराते रहना कि जो हो दुनियामें सो हो हम तो साक्षी हैं, यह बड़ी गलती है। दुनियाके अत्यन्ताभावका जो अधिष्ठान है उसको जान लो तुम हो और तब यह दुनिया है ही नहीं। दुनिया रहती हुई भी, सब जगद्जाल होते हुए भी यह तुम्हें न स्वर्गमें ले जायेगी, न नरकमें ले जायेगी, न पुनर्जन्ममें ले जायेगी, न ब्रह्मलोकमें ले जायेगी, न समाधिकी जरूरत रहेगी। यह देखो ना-

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते ।

यह उपासक लोग जो डराते हैं न कि ब्रह्मज्ञान बहुत मुश्किल है उसके चक्करमें नहीं आना, क्योंकि वे तुमको सुनावेंगे-

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।

यह नहीं सुनावेंगे कि 'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते'–

'सुखेन-अनायासं'-बिना किसी प्रयासके तुम्हें ब्रह्म-संस्पर्शकी प्राप्ति होगी–'सुसुखम्-कर्तुमव्ययम्'-इसका सम्पादन करना बहुत आसान है-तिलकी ओटमें जैसे पहाड़ छिपा हो-देश-काल-वस्तुको अलग करके साक्षी ही ब्रह्म है-ब्रह्म है माने अद्वितीय है और यह साक्ष्य जो है, दृश्य जो है यह अपने स्वरूपमें अध्यस्त है-इतनी आसान बात है। इतनी आसान बात है कि बादमें महात्मा लोग आश्चर्य करते हैं कि इतनी आसान बात लोगोंकी समझमें आती क्यों नहीं हैं!

तो अब यह हुआ कि 'मन्ये विदितम्' कि मैंने ठीक-ठीक जान लिया, समझ लिया-पाया, पाया, पाया; मिल गया, मिल गया, मिल गया कौन है? कि मैं हूँ-'मन्ये विदितम्'। कि मैंने समझ लिया, तो बोले–क्या समझा, फिरसे बताओ। शंकराचार्य भगवान्ने लिखा है कि शिष्यने गर्जना की–

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद् वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥

'नाहं मन्ये सुवेदेति'–बोले ठीक है–मैंने ब्रह्मको भली-भाँति जान

लिया, माने उसको मैंने अपनी बुद्धिका विषय बना लिया-ऐसा मैं नहीं समझता हूँ, आपने जो यह कहा न, कि 'यदि मन्ये सुवेदेति'-यदि तुम समझते हो कि मैंने भली-भाँति जान लिया तो बिलकुल नहीं जाना; तो ठीक है, हम यह कहाँ कहते हैं कि हमने भली-भाँति जान लिया-देखो, इसमें मुख्य बात यह है कि मैं का असली स्वरूप ब्रह्म है-यह बात तो बिलकुल सच्ची है पर इसमें कोई अभिमानी नहीं है जैसे कोई एम0ए0 पास हो जाये तो एम0ए0 पनेका अभिमान होता है कि हमने ऐसी डिग्री प्राप्त की-एक हमारे मित्र थे। वे डबल एम0ए0 पास करके आये थे, बड़े योग्य थे-वे क्या हैं अभी, नाम लेना ठीक नहीं है-बड़े ऊँचे पदपर है। तो हमलोग एक दिन साथ घूमने निकले-पं0 लक्ष्मण नारायण गर्दे साथ थे--बड़े अच्छे विद्वान् थे, पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी और पं0 लक्ष्मण नारायण गर्दे और पं0 राजबलि पाण्डे और वे सज्जन-हमलोग साथ-ही-साथ घूमते थे! तो वे कहते थे कि मैंने अपने एम0ए0 का जो प्रमाण-पत्र था उसको फाड़कर गंगाजीमें फेंक दिया-एक बार सुना, दो बार सुना, तीन बार सुना! एक दिन मैंने कहा कि विचारेने किसी तरहसे एम0ए0 पास कर लिया-ऐसे ही कह दिया-तो ऐसे नाराज हुए कि आपको क्या बतावें, हमको तो हँसी आवे, पर हम अपना मुँह दबाये-थोड़ी-दूरीसे चलने लगे, तो गर्देजीने उनको पुकारकर कहा कि अरे सुनो! गर्देजीसे बहुत छोटे थे-हमसे भी छोटे ही हैं–गर्देजीने कहा-अरे सुनो, तुमने कागज तो फाड़कर फेंक दिया पर वह जो एम.ए. पनेका अभिमान है वह तो तुम्हारे अन्दर डबल हो गया।

तो यह ब्रह्मज्ञानका जो अभिमान है न इसका अभिप्राय मैं आपको और साफ करके सुनाता हूँ-जैसे बारम्बार खम्भेको गाड़कर हिलाते हैं-हिले तो और उसको गाड़ते हैं और फिर गाड़ते हैं, और फिर गाड़ते हैं। एक बार मैंने श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा कि अमुक महात्मा-बड़े अच्छे महात्मा थे, अब उनका शरीर नहीं रहा-मर गये तो वे मुक्त हो गये होंगे, तो बाबा बोले कि देखो, न कोई बद्ध होता है और न कोई मुक्त होता है-कोई बद्ध और मुक्त तो होता ही नहीं है, आत्मा नित्य-मुक्त है और वह सबकी नित्य-मुक्त है–मच्छरकी आत्मा भी नित्यमुक्त है और खटमलकी आत्मा भी नित्य-मुक्त है

और ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी आत्मा भी नित्य-मुक्त है और जो अन्तःकरण आदि हैं ये सबके ही बद्ध हैं, मिथ्या, परन्तु ये मिथ्या भी आबद्ध है; न तो आत्माकी कभी मुक्ति होती है; क्योंकि वह तो नित्य-मुक्त-स्वरूप है और न तो अन्तःकरणकी कभी मुक्ति होती है; क्योंकि यह तो बद्ध-स्वरूप है। पर जिसने अपने आपको नित्यमुक्त जान लिया वह नित्य-मुक्त है और जिसने अपने आपको नित्यमुक्त जान लिया वह नित्य-मुक्त है और जिसने बद्धके साथ अपना तादात्म्य रख छोड़ा, वह नित्य-बद्ध है; इसमें कौन बद्ध हुआ, कौन मुक्त हुआ यह विवेक करनेकी जरूरत नहीं है।

मैं मोकलपुरके बाबाको शंकरानन्दी गीता सुनाता था। उसमें एक जगह बड़ा जोर दिया उन्होंने और फिर उस श्लोकका अनुवाद लिखवाया कि 'जिसको ऐसा ज्ञान होता है कि मुझे तो ज्ञान हो गया और मैं मुक्त हो गया और दूसरोंको ज्ञान नहीं हुआ है और वे सब-के-सब बद्ध हैं'-उसको ज्ञान ही नहीं हुआ, क्योंकि उसको वस्तुके स्वरूपका बोध नहीं हुआ-मुक्त वस्तुके स्वरूपका बोध तो यह है कि जैसे यह निश्चय हो कि सोना आगमें नहीं जलता, तो जहाँ-जहाँ सोना होगा वहाँ-वहाँ आगमें नहीं जलेगा, तो आत्मा नित्य-मुक्त है, सबके हृदयमें है और वह मुक्त ही है; जो अपनेको मुक्त और दूसरेको बद्ध मानता है उसको बद्ध और मुक्तका किसी भी प्रकारका विवेक नहीं है-मुक्तकी दृष्टिमें सब मुक्त हैं और बद्धकी दृष्टिमें सब बद्ध ही है, कोई मुक्त है ही नहीं-यह असलमें नजरका ही फेर है, दृष्टिका ही फेर है।

बोले, देखो हम अब यह नहीं मानते हैं कि हम जानते हैं, बोले कि हम ऐसा मानते हैं कि न तो 'वेदेति' और 'न वेदेति'। हम न तो भली-भाँति जानते हैं और न तो नहीं जानते हैं--कि यह क्या हुआ? बोले-कि न नहीं जानते हैं और न जानते हैं। बोले कि अरे, यह तो बात कुछ समझमें नहीं आती है। तो बोले–यही तो बात कही गयी थी पहले–'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'–यही तो वेदने कहा था कि वह विदितसे भी अन्यत् है और अविदितसे भी अन्यत् है, तो ये कहते हैं कि मैंने नहीं जाना ऐसा नहीं, अर्थात् अविदित नहीं और मैंने जाना ऐसा नहीं अर्थात् विदित नहीं–जो बात पहले ब्रह्मके बारेमें कही गयी थी वही बात शिष्यने दोहरा करके कह दी। तो बोले–

भाई, यह तुम क्या परस्पर-विरूद्ध बोल रहे हो-माने अब गुरु और शास्त्र और आत्मा-इनका एक समन्वय हो गया।

हम आपको बचपनकी एक बात सुनाते हैं, हमको एक महात्माने कही थी कि यदि तुम्हारा अनुभव शास्त्रके विरुद्ध–माने उपनिषद्के विरुद्ध होवे और गुरूके विरुद्ध होवे और वैराग्यके विरुद्ध होवे और अन्तर्मुखताके विरुद्ध होवे, तो तुम्हारा अनुभव गलत है। तुम्हारा अनुभव उपनिषद्से मिलना चाहिए–इसमें व्यक्तित्व नहीं है–गुरुका भी निर्णय करनेके लिए कि गुरु योग्य है कि नहीं है उपनिषद्के इस अभिप्रायको देखना पड़ेगा कि उपनिषद् जो आत्मा और ब्रह्मका अभेद बताते हैं वह हमारे गुरुके अनुभवमें है कि नहीं। यदि वह ब्रह्मात्मैक्यानुभवी नहीं है तो वह गुरु-गुरु नहीं है? गुरुकी भी कसौटी है–उपनिषद्। उपनिषद्का परम तात्पर्य है, आत्मा और ब्रह्मके ऐक्यका बोध। हमको याद आती है–बिरदीचन्द पोद्दार नागपुरवाले जब पहले-पहले मिले थे उन्होंने यही प्रश्न किया था मुझसे-बोले कि महाराज, और सत्सङ्गकी बात हम फिर करेंगे, पहले हमको आप यह बता दें कि आप प्रस्थानत्रयीका परम तात्पर्य आत्मा और ब्रह्मकी एकता मानते हो कि नहीं मानते हो–कि अरे भाई, वह तो है-ही-है। प्रस्थानत्रयीका-गीताका, उपनिषद्का, ब्रह्मसूत्रका-परम-तात्पर्य आत्मा और ब्रह्मकी एकतामें है यह तो सुनिश्चित है ही। तो बोले कि बस, अब आगे ठीक है, अगर यह नहीं मानते हो तो सत्सङ्ग करनेकी जरूरत ही नहीं है। उन्होंने अच्युतमुनिजीका सत्सङ्ग किया हुआ है, अभी हैं या नहीं यह मुझे मालूम नहीं है।

तो, 'यो नस्तद्वेद तद्वेद'–कि देखोजी, हमारी बात भले ही परस्पर विरुद्ध होवे कि हम नहीं जानते, ऐसा भी नहीं और हम जानते हैं, ऐसा भी नहीं-जानने और न जानने-दोनोंका जो साक्षी है वह जाने हुए देश-काल-वस्तुका भी साक्षी है और जाने हुए देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान भी है-वह अवेद्य हैं और अवेद्य रहते हुए ही अन्यनिरपेक्ष है, साक्षात् अपरोक्ष है, अर्थात् स्वयं प्रकाश है–'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वं स्वयं प्रकाशत्वम्'–जो घट-पटादिके समान प्रत्यक्ष नहीं हो और स्वर्गादिके समान परोक्ष नहीं हो–स्वयं अपना भी भास्य न हो और स्वयं हो अपना-आपा-ऐसा जो स्वयंप्रकाश अपना आपा है यही कालसे

अपरिच्छिन्न, अविनाशी ब्रह्म है, यही देशसे अपरिच्छिन्न परिपूर्ण ब्रह्म है, यही वस्तुसे अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्म है और स्वयं होनेके कारण चैतन्य है, चिन्मात्र है-यह चिन्मात्र ब्रह्म है। बोले–देखो, हम जो बात कहते हैं अगर वह किसीकी समझमें आ गयी–'यो नस्तद्वेद तद्वेद'–हम सब लोगोंके बीचमें माने सब ब्रह्मचारी, सब शिष्य सब जिज्ञासु–जिसने हमारी यह बात समझ ली उसने ब्रह्मको जान लिया और 'यो नस्तद्वेद तद्वेद'–हमलोगोंमें जिसने इस बातको समझ लिया उसने समझ लिया कि न जानना और जानना दोनों नहीं हैं। ऐसा समझो कि घट-पटादिका जानना और परोक्ष जो कारण है उसको न जानना-ज्ञान और अज्ञान, विक्षेप और समाधि, व्यष्टि और समष्टि-यह तीन विभाग इसका होता है। फैलावकी दृष्टिसे देशकी कल्पना होती है, तो व्यष्टि देशमें जीव और समष्टि देशमें ईश्वर और व्यष्टि और समष्टि दोनों देशोंके अभावसे जो उपलक्षित सो ब्रह्म–केवल अवच्छिन्न अंशमें ब्रह्म (का बोध) नहीं होता, व्यष्टि अवच्छिन्न या समष्टि अवच्छिन्न-उतना तो उसका औपाधिक रूप है। तो व्यष्टि और समष्टि उपाधिका तिरस्कार करके और द्रव्यमें कार्य दृष्टि और स्थूल दृष्टि और सूक्ष्म, सूक्ष्म दृष्टि माने कार्य-द्रव्य और स्थूल-द्रव्य और सूक्ष्म द्रव्य-इनका तिरस्कार करके कार्योपाधिक जीव और कारणोपाधिक ईश्वरकी एकताका ज्ञान करके समझो कि कार्य-कारणके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो शुद्ध-ब्रह्म-तत्त्व है, वह अद्वितीय है, उसमें कार्यकारण दोनों अध्यस्त हैं, कार्य-कारण दोनों मिथ्या हैं, व्यष्टि-समष्टि दोनों अध्यस्त हैं, दोनों मिथ्या हैं और मिथ्या हैं और पहले और पीछे दानों अध्यस्त हैं, दोनों मिथ्या हैं। सृष्टिके प्रारम्भके पहले क्या था, सृष्टिके अन्तके बाद क्या होगा–यह पहले और पीछे जो हैं ये दोनों कालके अवयव हैं–भूत और भविष्य-इनका अधिष्ठान ब्रह्म और इनकी कल्पनाका प्रकाशक आत्मा दोनों एक हैं–यह श्रुति बताती है।

तो बोले भाई, यह बात हमलोगोंमें-से जिसने समझ ली–'यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च'–जिसने समझ लिया वही यह समझेगा कि नहीं जानना भी नहीं है और जानना भी नहीं है और जो इसको नहीं समझेगा वह नहीं समझेगा। एक बार हमलोग बिठूर-(कानपुरके पास) गये। तो इधरके ही-पूनाके ही एक बड़े विद्वान् थे–महामहोपाध्याय पण्डित श्रीधर पाठक-

उपनिषदोंपर उन्होंने संस्कृतमें टीका लिखी है। तो संन्यासी होनेके बाद वे वहीं बिठूरमें ही रहते थे और शंकर-भारती उनका नाम हो गया था--बड़े दिव्य दीखते थे–गौर वर्ण और दिव्य शरीर-वृद्ध थे, बड़ी-बड़ी भौहें थी; तो हम उनके पास गये दर्शन करनेके लिए। तो एक कोई धनी व्यक्ति थे कानपुरके, जो एक बार कुछ ब्राह्मणोंको लेकरके कुछ देनेके लिए, उनके पास गये थे तो उन्होंने न तो कुछ लिया और न ही अपने पास उनको बैठने दिया। लौट आये; फिर मेरे साथ गये। तब वे बाहर निकल आये और मेरे पास, मेरे बराबर बैठे! फिर उन्होंने कहा कि आप हमारे अतिथिके रूपमें आये हैं इसलिए हम आपका थोड़ा अतिथ्य-सत्कार करेंगे। तब उन्होंने अगला जो मन्त्र है–

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

उसका बड़ा विलक्षण अर्थ उन्होंने हमको सुनाया था। वह हम आपको कल सुनायेंगे। महात्मा लोगोंमें ऐसा ही रीति है अतिथि-सत्कार-की। एक बारमें उत्तर-काशी गया (पहले-पहले) मैं तो वहाँके महात्माओंको पहचानता नहीं था, तो ब्रह्मप्रकाशजी महाराजने जब सुना कि मैं आया हूँ तब वे अपने आप ही आ गये; अब मैं तो तख्तेपर बैठा था और वे आकर नीचे बैठ गये, मुझे तो पता नहीं था। फिर वे प्रश्न करने लगे और मैं उत्तर देने लगा, जैसे कोई जिज्ञासु पूछे और मैं जबाव दूँ। फिर किसीने आकरके धीरसे मेरे कानमें बताया कि ये स्वामी ब्रह्मप्रकाशजी हैं, तब मैंने तख्तेसे उतरकर उनको प्रमाण किया और उनको ऊपर बैठाया! फिर जब मैं उनके यहाँ गया तो उन्होंने ब्रह्मसूत्रका एक अधिकरण-जिसपर उन्होंने खूब विचार किया था, मनन किया था उसमें जो नयी-नयी बातें थीं–वह उन्होंने सुनायी। बहुत श्रोता तो ऐसे होते हैं जिनके लिए-सोलहों धान बाइस पसेरी, क्योंकि उनको तो यह मालूम ही नहीं है कि कौन-सी बात विचारसे बोली जाती है, कौन-सी बात अनुभवसे बोली जाती है! वे 'नो श्रुतं हरति पापानि'–कि बस कानमें आवाज पड़ती है और उनके पाप कटते हैं!

●

प्रवचन : 11.1

ब्रह्म मत नहीं अमत है

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

(केन. खण्ड 2, मंत्र 3)

यो नस्तद् वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च-

अब गुरु और शिष्य दोनोंका विचार एक हो गया, क्योंकि गुरुने यह कहा था कि जो विदित है उससे भी ब्रह्म जुदा है और जो अविदित है उससे भी ब्रह्म जुदा है। विदित माने जो ज्ञानका विषय है-शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध--इनकी अलग-अलग व्यष्टि और समष्टि और इनका मिश्रण-ये सब जो हैं, ये ज्ञानके विषय हैं; और अविदित? जो इनका अभाव है, बीजावस्था है कारण है वह अविदित है, अज्ञात है।

असलमें एक अवस्थाकी कल्पना मनमें होना ही ब्रह्मपनेके खिलाफ है। ब्रह्म सत्य हैं-सत्य है माने काल-विशेषमें कटता नहीं है-सत्यका अर्थ है अबाधितत्व-जिसके अस्तित्वमें कोई भी बाधा न पहुँचा सके, उसको सत्य बोलते हैं। जैसे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-ये अवस्थाएँ परस्पर तो एक-दूसरेके होनेमें बाधा पहुँचाती हैं-जाग्रत्के अस्तित्वमें बाधा पहुँचा करके तब स्वप्नावस्था आती है और स्वप्नावस्थामें बाधा डालकर सुषुप्ति आती है और सुषुप्तिमें बाधा डालकर तब जाग्रत-अवस्था आती है-यही है बाधा-डालना। इसलिए ये जाग्रदादि अवस्थाएँ सत्य नहीं हैं। जैसे कि एक आदमी हमारे पास आकर बोलता है कि आजकल हमारे पास पैसेकी बहुत कमी है, तो थोड़ी फिकर होती है; फिर दूसरा आदमी आकर बोलता है कि हमारा बेटा बहुत बीमार है, तो पैसेकी कमीवाली फिकर छूट जाती है और बेटेकी बीमारीवाली फिकर आ जाती है, तीसरे आदमीने आकर कहा कि आज हमारे घरमें ऐसी लड़ाई हुई है, ऐसी मार-पीट हुई है कि इसका अभी तुरन्त कोई समाधान चाहिए तो बेटेकी बीमारीवाली फिकर छूट गयी और घरकी लड़ाईका ख्याल करना पड़ता है। तो इसमें क्या हुआ? कि प्रत्येक पूर्व-वृत्तिको बाधित करके उत्तर-वृत्तिका उदय

हुआ-पहली वृत्तिके प्रवाहमें बाधा पड़ी। अब आप बाध शब्दका अर्थ समझ लो, बाधित होनेका अर्थ समझ लो। उस दिन जब मैं जबलपुरसे आया तो एककी लड़कीका ससुर मर गया था, तो ससुरके मरनेका जो दुःख था; दूसरे दिन लड़कीका जेठ मर गया, तो ससुरके मरनेका जो दुःख था सो बाधित होकर जेठके मरनेका दुःख आ गया। मैं इसलिए आपको ऐसे समझाता हूँ कि आप कभी-कभी बाध-बाधित शब्द सुनते-पढ़ते होंगे वेदान्तमें, तो उससे यह नहीं समझना कि यह कोई सातवें आसमानका शब्द है--बाधितका अर्थ है कि एक विचारके प्रवाहमें, एक वृत्तिके प्रवाहमें बाधा पड़ गयी।

अब इसको आप दूसरे ढंगसे लो--आप कहीं साँप देखकर डर रहे थे-क्यों भाई, क्यों डर रहे हो, क्या घबड़ाहट है? कि बोले-देखो, साँप! दूसरेने कहा कि अरे भाई, वह साँप नहीं है, वह तो रस्सी है। कि अच्छा रस्सी है? कि हाँ रस्सी है! तो टॉर्च जलाकर देख लिया। तो, वह जो सर्पका ज्ञान करानेवाला प्रमाणाभास था–माने आँख और रस्सीके ठीक-ठीक सम्बन्ध होनेमें जो बाधा थी वह दूर हो गयी। माने सर्प बाधित हो गया। कैसे बाधित हुआ? कि रज्जुके ज्ञानसे हुआ। तो यह संसारमें जितनी परिच्छिन्न-परिच्छिन्न वस्तुएँ दीखती हैं इन सम्पूर्ण परिच्छिन्न वस्तुओंका एक अधिष्ठान है, क्योंकि सान्त वस्तुएँ अनन्तमें रहती हैं, परिच्छिन्न वस्तुएँ अपरिच्छिन्नमें रहती हैं, खण्ड वस्तुएँ अखण्डमें रहती हैं; और जब अखण्डकी अखण्डताका बोध होता है तो खण्ड वस्तुएँ बाधित हो जाती है; अखण्ड जो है वह अकाट्य है और खण्डित वस्तुएँ जो हैं वे कट जाती हैं; तो वास्तविक प्रमाणसे, सच्चे प्रमाणसे प्रमाणाभासका बाध हो जाता है-यह प्रमाणसे प्रमाणाभासका बाध होता है। इससे चार-सौ-तैंतालीस प्रकारके बाध बनते हैं–इनका हिसाब होता है–पूर्व-मीमांसामें जो दसवाँ अध्याय है उसका नाम ही बाध्य-अध्याय है, वह बाधको ही समझानेके लिए है–यह आपको अभी सुनाया।

देखो, यह संसारमें कोई चीज है ऐसा मालूम पड़ता है और कोई चीज़ नहीं है ऐसा मालूम पड़ता है,तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिकी जो धारा है यह परस्पर बाधित होती रहती है–जाग्रत् आया तो स्वप्न बाधित हो गया, स्वप्न आया तो जाग्रत् बाधित हो गया; जाग्रत्-स्वप्न गये तो सुषुप्ति आ गयी,

जाग्रत्-स्वप्न बाधित हो गये–अब सत्य किसको कहेंगे-जाग्रत सत्य, कि स्वप्न सत्य, कि तुरीय सत्य? तो बोले देखो-'तुरीयं त्रिषु संततम्'-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति जो हैं ये तो परस्पर बदल गये और एक चौथी चीज है 'तुम स्वयं–वह तीनों अवस्थाओंमें बिलकुल एक सरीखी रही! तो हम गिरगिट के रंगको सच्चा नहीं मानते–गिरगिट तो सच्चा है लेकिन उसके रंग सच्चे नहीं हैं। आप देखो, जो इन्द्रधनुषके रंग आँखसे दिखायी पड़ते हैं न आकाशमें, वे रंग सच्चे नहीं हैं, उससे कपड़े नहीं रंग सकते–न हरा, न पीला, न लाल-वे दृष्टिसे दीखते हैं परन्तु सच्चे नहीं होते हैं। अच्छा, यह जो आकाशकी नीलिमा है न–यह जो नीला-नीला दीखता है–यह आँखसे दीखता हुआ भी सच्चा नहीं है। तो सत्य उसको कहते हैं जो अवस्थाके परिवर्तनसे परिवर्तित न हो, माने असलमें उसका परिवर्तन न हो, उसमें जो कुछ अन्य वस्तु मालूम पड़े वह विवर्त मालूम पड़े-एकमें अनेकता विवर्त है, चेतनमें जड़ता विवर्त है, अपरिच्छिन्नमें परिच्छिन्नता विवर्त है, आत्मामें अनात्मा विवर्त है–विवर्त माने विरुद्ध वर्तन, विपरीत वर्तन–जो चीज जैसी है उससे खिलाफ मालूम पड़े।

अब दूसरी बात देखो-ब्रह्म किसको कहते हैं? कि एक तो, कालसे अबाधित होवे, माने-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिकी तरह जाने-आनेवाला नहीं होवे और दूसरा ज्ञानस्वरूप होवे-जड़ जो वस्तुएँ होती हैं वे आपसमें कटती हैं, एक बार घड़ा आया मनमें, एक बार कपड़ा आया, एक बार चश्मा दिख गया, एक बार घड़ी आयी और गयी और ज्ञान तो ज्यों-का-त्यों रहा। तो, यह जो ज्ञान है यही आत्माका स्वरूप है-ज्ञानं आत्मा-ज्ञान माने आत्मा-यह अन्य कभी नहीं होता-ज्ञानको अन्य रूपसे कभी कोई देख नहीं सकता। जैसे किसीने कहा कि 'घटज्ञानं नष्टम्, पटज्ञानं ज्ञातम्'–घड़ेका ज्ञान मिट गया और कपड़ेका ज्ञान हो गया तो इसमें क्या मिटा और क्या आया? ज्ञानमें पहले घड़ा नहीं था, फिर घड़ा ज्ञानमें आया माने ज्ञान घटाकर हुआ, और फिर ज्ञानमें-से घट चला गया, ज्ञान अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हो गया। इसलिए ज्ञान नहीं मिटा और न ज्ञान आया। देखो, यहाँ रोशनी हो रही है–इसमें सैकड़ों स्त्री और सैकड़ों पुरुष दिखायी पड़ रहे हैं–तो स्त्री सैकड़ों हैं, पुरुष सैकड़ों हैं पर रोशनी एक है, इसी प्रकार चाहे घड़ा दिखे, चाहे कपड़ा दिखे, चाहे मकान दिखे, और चाहे इनमें-

से कोई न दिखे-जिस रोशनीमें ये सब दिखते हैं, वह रोशनी अपना आत्मा है। श्रुति इसी आत्माको ब्रह्म बताती है। ब्रह्मका लक्षण किया-'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। ज्ञानं आत्मा=ज्ञान आत्मा है और यह सत्य है--सत्यम् ज्ञानम्=ज्ञान सत्य है। वैज्ञानिक लोग सत्यको जड़ मानते हैं; पर इन्होंने कहा कि जड़ सत्य नहीं है ज्ञान सत्य है-माने सत्य जो है वह जड़ नहीं है, चेतन है। तो बोले कि चेतन ही मान लो, सत्य काहेको बोलते हो? तो बोले कि चेतनको बौद्ध लोग क्षणिक मानते हैं, तो बौद्धोंके क्षणिक चेतनके समान यह चेतन क्षणिक नहीं है। इसलिए तो सत्य कहना जरूरी है और वैज्ञानिकोंके जड़की तरह यह सत्य जड़ नहीं है। इसलिए इसको 'ज्ञानम्' कहना जरूरी है; और 'अनन्तम्' क्यों कहा? कि--अनन्तम् माने होता है–पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊपर-नीचे, बाहर-भीतरकी जितनी कल्पना होती है सो-कल्पक और कल्पनाके भेदसे भी यह भिन्न नहीं होता है। इसलिए इसको अनन्तम् कहा।

देखो, विषयके भेदसे देखनेवाला भिन्न नहीं होता है, स्थितियोंके भेदसे देखनेवाला भिन्न नहीं होता है, अवस्थाओंके भेदसे देखनेवाला भिन्न नहीं होता है--तो यह देखनेवाला क्या है--मुख्य प्रश्न तो यही है? अच्छा, झूठेको देख रहा है कि सच्चेको देख रहा है! बोले, जो दीख रहा है वह झूठा हो या सच्चा हो, पर देखनेवाला सच्चा है; दीखनेवाला यथार्थ हो कि अयथार्थ हो; परोक्ष हो कि प्रत्यक्ष हो, समाधि हो कि विक्षेप हो-आत्माके अस्तित्वमें कभी न संशय है और न ही तो न होनेका अनुभव है। अहं नास्मि है-मैं नहीं हूँ-यह कभी कोई अनुभव करता है? लगाओ समाधि कि मैं नहीं हूँ। तो अनुभवकी प्रणालीमें-मैं नहीं हूँ यह अनुभव नहीं होगा और मैं हूँ कि नहीं हूँ, यह संशय नहीं होगा। यही आत्मा ज्ञानस्वरूप है, यह भूत-भविष्य-वर्तमान कालका द्रष्टा है, यह बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ देशका स्रष्टा है, यह घट-पट-मठ आदिका द्रष्टा है, यह प्रत्यक्ष-परोक्षका द्रष्टा है, यह झूठ-सचका द्रष्टा है, यह अन्तरङ्ग-बहिरङ्गका द्रष्टा है। तो यह जो दृक्तत्त्व है यह अजर है, इसमें बाल्य, यौवन और बुढ़ापा नहीं है, इसमें जन्म और मृत्यु नहीं हैं-ऐसा यह तत्त्व है।

अब मतवादी लोग देखो क्या मजा करते हैं–जैसे एक सज्जन बोले कि देखो, हम वेदान्ती हैं तो हम भला ईश्वरको हाथ कैसे जोड़ सकते हैं? तो, इस

पट्ठेने अपने दोनों हाथको वेदान्ती बना लिया--बोले कि ये कैसे जुड़ेंगे? बोले कि भला हम कँसकुटियोंके साथ कैसे मिल सकते हैं? कँसकुटियोंको तो आप जानते हैं न-झाँझ लेकर जो बजाते हैं। कुछ वेदान्ती ऐसे होते हैं जो अपना मत बनाते हैं, अपना पन्थ बनाते हैं, अपना मजहब बनाते हैं, अपना सम्प्रदाय बनाते हैं। उनका तो अभी देह-इन्द्रिय आदिकी उपाधिमें मैं लगा हुआ है, भला, जब यह तुमने जान लिया कि मैं देह नहीं हूँ, मैं प्राण नहीं हूँ, मैं इन्द्रिय और मन नहीं हूँ, मैं बुद्धि नहीं हूँ मैं आनन्दमय नहीं हूँ, मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ, मैं व्यष्टि और समष्टि नहीं हूँ–तो ऐसा चन्दन लगाना हमारा सम्प्रदाय है-यह वेदान्त-मत नहीं हो सकता, ऐसी चोटी रखना हमारा सम्प्रदाय है यह वेदान्त-मत नहीं हो सकता-'यस्यामतं तस्य मतम्'-ऐसा कपड़ा पहनना हमारा सम्प्रदाय है यह वेदान्त-मत नहीं हो सकता, माने वेदान्तमें स्त्री-पुरुषका लिङ्ग-भेद नहीं है–दोनोंको ज्ञान हो सकता है भला; और इसमें वैष्णव और शैवका सम्प्रदाय-भेद नहीं है, दोनोंको ज्ञान हो सकता है, इसमें ब्राह्मण-क्षत्रियका वर्ण-भेद नहीं है, दोनोंको ज्ञान हो सकता है; इसमें संन्यासी-ब्रह्मचारीका आश्रम-भेद नहीं है दोनोंको ज्ञान हो सकता है। सच्चाई जो है वह अपना ज्ञान देनेमें किसीसे परहेज नहीं करती है। तो जो मत पन्थ बनाकरके बैठे हुए हैं वे तो 'गुरुडम्'के चक्करमें हैं–गुरुडम् क्या कि हमारे पन्थमें चेले ज्यादा बढ़ें, हमारे पन्थका वोट ज्यादा हो जाये। यह तो हँसिया-हथौड़ासे ठोंक-ठोंककर लोगोंको वेदान्ती बनानेका है? असलमें जिसके मनमें इतनी तीव्र वासना है कि हमारी गद्दी बढ़े, हमारा पन्थ बढ़े, हमारा सम्प्रदाय बढ़े, वह तो देहाभिमानी है, वह ब्रह्म काहेको है?

मतोंके बारेमें एक महात्माने हमको पहले बताया था। संसारमें जितने मत-पन्थ हैं वे मतिके भेदसे अलग-अलग होते है; क्योंकि सबके शरीरमें मति अलग-अलग है इसलिए मत अलग-अलग होते हैं-'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' और 'तुंडे-तुंडे च भोजनम्'-जितने मुँह हैं अपनी तरहके भोजन होते हैं, और जितने मुण्ड हैं उतनी मति है और जितनी मति है उतने ही मत हैं। तो मतिकी दो अवस्था होती है-एक व्यष्टि और एक समष्टि। अष्टि माने संस्कृत-भाषामें बीज होता है-जैसे अंगूरका बीज, आमका बीज, चनेका बीज, गेहूँका बीज-तो बीज

सामान्यको बोलते हैं अष्टि और व्यष्टि=वि+अष्टि माने विशेष अष्टि; विशेष बीज; जैसे अंगूरका बीज-इसको व्यष्टि बोलेंगे। और समष्टि माने समूहीकृत बीज-संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका बीज। तो मति जो है वह कभी व्यष्टि मति होती है और कभी समष्टि मति होती है-समाधिमें, सुषुप्तिमें व्यष्टि-रूपसे वह है, ब्यष्टि-बीज है और महाप्रलयमें समष्टि-बीज है; प्रकृतिमें समष्टि-बीज है और व्यक्तिमें व्यष्टि बीज है; ईश्वरमें समष्टि-बीज माने संस्कारके अनुसार मतिकी गति-विधि है-इसमें मैं कर बैठनेका नाम वेदान्त नहीं है, न व्यष्टिमें न समष्टिमें। तो हमको महात्माने क्या बताया था-वह तो सूत्र ही है-यह बताया था कि देखो, दुनियामें जितने भी मत हैं कोई मेरे नहीं है—दुनियाका कोई मत मेरा नहीं है। क्यों? बोले कि मति मेरी नहीं है और किसी मतका अभिमानी मैं नहीं हूँ-मतवादी नहीं हूँ क्योंकि मैं मतवाला नहीं हूँ और मतिवाला मैं नहीं हूँ। तो न मत मेरा और न मैं मतवाला और न तो मत सच्चा-कोई मत सच्चा नहीं है, सब मत झूठे हैं, क्योंकि मति झूठी है। यह एक बात हुई। मति मेरी नहीं है, मतवाला मैं नहीं, मत सच्चा नहीं। तब मैं क्या हूँ? कि मैं अमत हूँ-'यस्यामतं तस्य मतम्'।

अब दूसरी बात देखो! दूसरी बात क्या है इसमें कि मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, इसलिए मैं सच्चा और मुझमें ही सारे मत अध्यस्त हैं, सारी मति अध्यस्त हैं। इसलिए सारी मति, सारे मतवाला मैं-हिन्दू-मुसलमान, जैन, सिक्ख, पारसी, ईसाई-सबके सीनेमें धड़कता एक-सा है दिल मेरा। स्वामी रामतीर्थने कहा—सब मतवाला मैं सब मतियाँ मेरी और सब मत मेरे। देखो, सारा राग-द्वेष गया—न कहीं संघर्ष है, न कहीं राग है न कहीं द्वेष है, न कहीं पक्षपात है, न कहीं कटुता है, न कहीं वैमनस्य है—सबमें राम और राममें सब। तो क्या हुआ कि या तो सब मत अपने, सब मतवाले अपने और सबमति अपनी-सब मैं और या तो कोई मत अपना नहीं, कोई मतवाला अपना नहीं और कोई मति अपनी नहीं और मैंके सिवाय दूसरा कोई सत्य नहीं। अब इनमें-से देखो जिज्ञासुकी जो दृष्टि है वह तो निषेध-प्रधान है—मत भी गलत, मति भी गलत, मतवाले भी गलत-मतका अस्तित्व ही नहीं; और तत्त्वविद्की दृष्टिमें सब मत मैं, सब मतियाँ मैं, सब मतवाले मैं। तो, जो लोग ब्रह्मको अपने एक

मतमें बाँधते हैं कि ऐसा ही है—या वैसा ही है तो ब्रह्मतत्त्व न ऐसा है न वैसा है, उसमें प्रकार भेद नहीं है। ऐसा कहनेवाला भी अधूरा है और वैसा कहनेवाला भी अूधरा है—तत्त्वको सातवें आसमानमें कहनेवाले भी अधूरा और तत्त्वको प्रत्यक्ष संसारके रूपमें देखनेवाला भी अधूरा-परोक्ष माननेवाला भी अधूरा, प्रत्यक्ष माननेवाला भी अधूरा और प्रत्यक्ष परोक्षसे विलक्षण अपरोक्ष आत्मा माननेवाला भी अधूरा-या तो सब है और या तो सब नहीं है। दो दृष्टि हैं और इन दोनों दृष्टियोंमें जो ऐक्य है उसका नाम तत्त्व है; किसीने कहा कि सब झूठा है कि हाँ भाई, ठीक है; किसीने कहा कि सब सच्चा है कि हाँ भाई, ठीक है। एक महात्मा हैं वे ऐसे ही बोलते हैं। एकने कहा कि सब झूठा। बोले कि हाँ जी, आप जहाँ बैठे हैं वहाँसे ऐसे ही दीखता है। बोले कि सब सच्चा। कि हाँ जी, आप जहाँ बैठे है वहाँसे ऐसा ही दीखता है। तो जो मतवादको धारण कर लेता है वह वाद-विवादके चक्करमें पड़ जाता है और उसके संवाद-विवाद होने लगते हैं। शैव-वैष्णव आपसमें लड़ जायें, हिन्दू-मुसलमान लड़ जायें, निर्गुनिया-सगुनिया लड़ जायँ-कबीर-पन्थी कहेगा कि भीतर ही है बाहर नहीं और मूर्ति-पूजक कहेगा बाहर ही है, भीतर नहीं; निराकारी कहेगा कि अरे, वह तो व्यापक है-न बाहर न भीतर-बाहरवाले भी ढोंगी और भीतरवाले भी ढोंगी-वह तो व्यापक है व्यापक; वेदान्ती कहेगा कि यह व्याप्य-व्यापकका भेद काहेको बनाते हो? व्याप्य-व्यापकका भेद तो तब हो जब द्वैत हो, अद्वैतमें तो व्याप्य-व्यापकका भेद ही नहीं होता है।

तो, यह बात आपको सुनायी कि—'यस्यामतं तस्य मतं'—मनन-विषय जिसके लिए ब्रह्म है, मतिका विषय जिसके लिए ब्रह्म है, जिसने ब्रह्मको मतिके घेरेमें ले लिया, वह तो पार्टीबन्दी कर रहा है—आजकल निर्दलियोंका भी दल होता है-माने दल-दलका ऐसा चक्कर चला कि निर्दलियोंका दल हो गया-ये दल-दलमें फँसे बिना मान नहीं सकते! तो—'यस्यामतं तस्य मतं'-जिसने ब्रह्मको मतसे-माने मतिके कर्मसे विलक्षण जाना उसीने ब्रह्मको जाना। देखो, मतिसे सब जाना जाता है—होना भी और नहीं होना भी। घड़ा कैसे जाना जाता है? कि मतिसे जाना जाता है। कि अच्छा, यह चर है कि अचर है, कैसे जाना गया? कि मतिसे जाना गया। अपना है कि पराया है—यह कैसे

जाना गया? कि मतिसे जाना गया। पर मतिको कौन जानता है? आपको मालूम है? तो, जो मतिसे जाना गया सो तो मत हुआ और जिसने मतिको जाना वह अमत हुआ-मतसे विलक्षण। तो, 'यस्यामतं–जिसने मतिके प्रकाशकके रूपमें और मतिके अधिष्ठानके रूपमें और मतके प्रकाशकके रूपमें और मतके अधिष्ठानके रूपमें अपने आपको जाना उसने असलमें ब्रह्म जाना–'यस्यामतं तस्य मतं'। श्रीमद्भागवतमें यह सूक्ति उद्धृत है–'यन्मतं मतदुष्टतया'-दशम स्कन्धमें है यह। बोले 'यद्मतं तत् तत् दुष्टम्'–जो-जो बुद्धिके सामने आया वह आज अच्छा है तो कल बुरा होगा; आज सच्चा है तो कल झूठा होगा; आज अपना है तो कल पराया होगा; अभी मालूम पड़ता है तो थोड़ी देरके बाद नहीं मालूम पड़ेगा–जो मतिके सम्मुख आवेगा वह इस समय सुख है तो थोड़ी देरके बाद दुःख हो जावेगा, इस समय दुःख है थोड़ी देरके बाद सुख हो जावेगा; इस समय वह बिलकुल सच्चा है, थोड़ी देरके बाद बिलकुल झूठा हो जायेगा, इस समय झूठा है, थोड़ी देरके बाद सच्चा हो जावेगा; इस समय वह विदित है बादमें अविदित हो जायेगा; इस समय अज्ञात है फिर वह ज्ञात हो जायेगा; इस समय अपना है बादमें पराया हो जायेगा; इस समय पराया है बादमें अपना हो जायेगा-यह तो मत है, जो मतिके सम्मुख आता है और जाता है, वह तो कालमें बदलता रहता है। और मति कैसी है कि देखो, बाहर तो गुलाबका फूल है–यह हाथमें रखा है या पौधेमें खिला है, और शरीरमें यह जो आँखें है वे भी गुलाबके फूल हैं और हृदयमें मति है जो गुलाबके फूलकी तरह खिली हैं; परन्तु, जो अपनी रोशनीमें मतिको देख रहा है वह मतिसे न्यारा है। आप कहो कि इससे क्या फायदा होगा? जरा फायदेकी बात भी आपको सुना देते हैं क्योंकि–

प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते ।

कोई प्रयोजन सिद्ध न होता हो तो बेवकूफ आदमी भी वह काम करनेको राजी नहीं होगा; बेवकूफ आदमी भी कोई काम करता है तो देख लेता है कि इससे हमारा क्या मतलब निकलेगा? तो, देखो, शरीरके सम्बन्धी जब तुमसे छूटते हैं तब तुमको बड़ा भारी दुःख देकर जाते हैं-तो क्या सम्बन्धियोंने दुःख दिया? बिलकुल नहीं, तुम्हारी मतिने दुःख दिया–जो तुमने

उनको अपना माना उसने दुःख दिया। उनको तो जाना ही था। अच्छा, रुपया-पैसा? रुपया-पैसाको तो अपना मानना डबल बेवकूफ है। क्यों? कि तुम तो रुपये-पैसेको मेरा-मेरा-मेरा मानते हो, लेकिन रुपये-पैसेने कभी हस्ताक्षर नहीं किया कि हम तुम्हारे हैं, ये सारे बेदिल हैं—नोटके दिल नहीं, हीरा-मोतीके दिल नहीं, सोना-चाँदीके दिल नहीं—यह पत्थर और कागज और मिट्टी-इन्होंने तो कभी अपनेको तुम्हारा कबूल किया नहीं और तुम ही इनको मेरा-मेरा-मेरा कबूल करते फिरते हो। जानते हो तुम्हारे मरनेके बाद इनका क्या होगा? अरे, जिन्दा ही रहते क्या होगा? इनको एक दुकानसे दूसरी दुकानमें जानेमें क्या शरम लगती है! मान लो कोई स्त्री हो तो एक पुरुषको छोड़ करके दूसरे पुरुषके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें उसको तकलीफ होगी न; एक पुरुष हो तो अपनी स्त्रीको छोड़कर दूसरी स्त्रीसे सम्बन्ध जोड़नेमें शर्मका अनुभव करेगा न! परन्तु, ये रुपये-पैसे, हीरा-मोती, सोना-चाँदी--ये दुनियाकी जो चीजें हैं, इनको तो एक हाथसे दूसरे हाथमें, एक जेबसे दूसरी जेबमें, एक बैंकसे दूसरी बैंकमें, एक दुकानसे दूसरी दुकानमें जानेमें कोई शर्म नहीं है। क्यों? कि ये बेदिल हैं, इनके दिल ही नहीं है, तो, ऐसे बेदिलसे प्रेम जोड़ोगे तो सिवाय तकलीफके और कुछ नहीं मिलेगा। और कहो कि भाई, आदमी जो हैं, ये तो बड़े दिलवाले हैं, तो देखो कुत्ते दिलवाले होते हैं, हमसे कितना प्रेम करते हैं, पूँछ हिलाते-फिरते हैं, कितना चूमते-चाटते हैं—हम बड़े-बड़े कुत्तोंकी बात तो नहीं जानते हैं, उनकी बात तो उनको पोसनेवाले जानें, पर, हम गाँवके कुत्तोंकी बात जानते हैं। ये चोर-लोग चोरी कैसे करते हैं? किसी-किसीके घरमें खूब बढ़िया-बढ़िया गुड़ खिलाते हैं-एक दिन, दो दिन, तीन दिन जो गुड़ खिलाया तो उसको देखते ही कुत्ते पूँछ हिलाते हुए उसके पास जाने आले लगते हैं और जब रातको वह चोरी करनेके लिए आता है तब गुड़की एक डली और चाहे मांसका एक टुकड़ा कुत्ताके सामने फेंक देते हैं और कुत्ता उसको चाटने लग जाता है और उसके पीछे-पीछे दौड़ता है, पर भूँकता नहीं है—यह कुत्ता बेवफा है।

अब आदमियोंकी बात हम नहीं करते हैं, क्योंकि इसका अनुभव तो आपको बहुत ज्यादा होगा-कुत्तेका अनुभव भले ही आपको न हो पर,

आदमियोंका अनुभव तो होगा ही और अगर अभीतक नहीं हुआ होगा तो आगे हो जायेगा-भला! अभी सारा भविष्य पड़ा हुआ है–बड़े प्रेमसे लोग शादी करते हैं, दुनियामें-'लव मैरेज' होती है और दो वर्ष तीन वर्षमें वह मारपीट होती है कि जिसकी कोई हद नहीं। तो यह संसारमें अपना मान करके-वस्तुको, पशुको, पक्षीको, आदमीको बादमें उन्हींसे दुःखी होते हैं; अपनेको हिन्दू मान करके मुसलमानको मारते हैं; अपनेको शैव मान करके वैष्णवेसे द्वेष करते है; अपनेको ब्राह्मण मान करके शूद्रका तिरस्कार करते हैं; अपनेको गृहस्थ मानकर साधुका तिरस्कार करते हैं और साधु मानकर गृहस्थका तिरस्कार करते हैं–यही मत है।

देखो, सबको भगवान्‌ने दो कान दिये हैं, दो-दो आँख दी हैं, सबके मुँह है, सबके दिल हैं, सबके दिमाग हैं, सबके हाथ हैं, सबके पाँव हैं–इतनी समानता है अपनेमें, इतनी समानता है कि विषमता हम बेवकूफीसे बनाते है; फिर देखो-शरीरके साथ जन्म-मृत्यु लगी है, इसको अपना मानोगे तो मौतका डर तुमको लगेगा कि नहीं? पागल हो जाओगे मृत्युके डरसे! और दिलको अपना मानोगे तो फँसनेका डर रहेगा कि नहीं? इन्द्रियोंको अपना मानोगे तो भोगके बिना रोओगे कि नहीं?

एक बनिया आया वृन्दावनमें। रक्षा-बन्धनका दिन था, आकर सभामें बैठा-करोड़पति था बड़ा-बैठा तो एक विद्यालयकी अध्यापिकाने आकर उसको रक्षा बाँध दिया। उसने कहा–क्या चाहिए बहन? बोलो, तुमने तो रक्षा बाँध दी, बहन हो गयी। उसने कहा–हमारे स्कूलको पाँच हजार रुपये दे दो। उसने कहा–दे देंगे। कहकर तो आया खुद और घरमें आकर रोने लगा कि हाय-हाय, मैं तो बेवकूफी कर आया–अपने कियेपर रोते हैं। तो, अपना दिल भी धोखा देता है, अपना दिमाग भी धोखा देता है, अपना अभिमान भी धोखा देता है-निरभिमानताका भी अभिमान होता है कि मेरे सरीखा निरभिमान और कोई नहीं है। तो यह जो मत है न, यह मान जो है–अभिमान-यह मतिसे बनता है–अभिमत, अभिमति, अभिमान। नारायण, यह मति जो है–इस मतिके पेटमें जो आता है सो नाशवान् होता है; और जो मतिको रोशनी दे रहा है, मति जिसमें अध्यस्त है–जैसे सर्प रज्जुमें अध्यस्त है, ऐसे ही मति जिस अधिष्ठानमें

अध्यस्त है, जैसे दुनियाकी सब चीजें किसी रोशनीमें दिखती हैं वैसे ही यह मति जिसकी रोशनीमें दिखती है वह अविनाशी है-वह आप स्वयं हैं।

आप किताबमें अक्षर देख रहे हैं आँखसे–

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

पुस्तक दिखती है, अक्षर दिखता है–आँखसे दिखता है–इसमें तो कोई शंका है ही नहीं कि आँखसे दीखता है, पर रोशनी है तब दीखता है न! तो दिखते हैं अक्षर, आँखसे दिखते हैं और रोशनीमें दिखते हैं। अब जरा आँख बन्द कर दीजिये, आपको मालूम पड़ेगा कि आपके दिलमें प्रेम है–अच्छा तो वह जो प्रेम है आपके दिलमें, वह है अक्षरकी जगहपर, किताबकी जगहपर दिख रहा है, उसको कौन देख रहा है और किसकी रोशनीमें दिख रहा है-आप इसपर विचार कीजिये। तो असलमें, बाहर-को-बाहरकी रोशनीकी जरूरत होती है पर भीतर बाहरकी रोशनी काम नहीं देती है। तो–

अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ।

आप स्वप्नमें किसी चीजको देखते हैं तो वहाँ किसकी रोशनीमें देखते हैं? वहाँ सूर्यकी, चन्द्रमाकी रोशनी होती है? कि उस चीजमें रोशनी होती है? सपनेमें आप एक घड़ी देखें कि घड़ा देखें, चश्मा देखें कि मेज देखें, स्त्री देखें या पुरुष देखें, तो क्या उस स्त्रीमें, पुरुषमें, घड़ीमें, मेजमें कोई रोशनी होती है कि आपको दिखती है? कि तब क्या वहाँ सूर्य और चन्द्रमा रहते हैं कि वे दिखाते हैं? तो, वहाँ आप स्वयं ज्योति होते हैं–आप अपने अन्दर, अपनी रोशनीमें, अपनेको ही उस चीजके रूपमें देखते हैं–कि नहीं हैं? वहाँ स्त्री नहीं है, स्त्री दिखती है, पुरुष नहीं है पुरुष दिखता है, वहाँ घड़ी नहीं है घड़ी दिखती है। आप अपने आपको ही घड़ीके, स्त्रीके, पुरुषके रूपमें देखते हैं, अपनी रोशनीमें ही देखते हैं, अपनेमें ही देखते हैं, अपनेको ही देखते हैं, आपके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं होती है।

आप यह अपनी मति जो देखते हैं, न मति-यह जाग्रत् अवस्थामें कैसी देखते हैं कि यह हमारा निश्चय है; महाराज, जूता पीटकर अपना निश्चय प्रकट करते हैं। मैंने हिटलरके फोटो देखे हैं–वह हाथ उठाये हुए, घूँसा ताने हुए मानो कह रहे हैं–विध्वंस कर डालेंगे। अरे, ध्वंस क्या कर डालोगे, बाबू

तुम्हीं ध्वंस हो जाओगे। तो, यह ब्रह्मज्ञानका लाभ क्या है कि यह देहमें, इन्द्रियमें, प्राणमें, मनमें, बुद्धिमें, दुनियाकी चीजोंमें अतिशय आग्रह करके जो हम अपनी मानसिक उलझनसे, बौद्धिक उलझनसे दुःखी हो रहे हैं वह उलझन मिट जाती है। क्या आप समझते हैं कि दुनियामें केवल रोटी न मिलनेका ही दुःख है? लोग इसलिए दुःखी हैं कि उन्हें पेटभर खानेको नहीं मिलता? यह बात आप अखबारमें पढ़-पढ़कर बेवकूफ बन रहे हैं कि लोग केवल रोटी न मिलनेसे दुःखी हैं, लोग केवल कपड़ा न मिलनेसे दुःखी हैं; केवल पढ़ाई न होनेसे दुःखी हैं, केवल पैसा न होनेसे दुःखी हैं, केवल व्याख्यान सुन-सुन करके और जिनको आप बड़ा मानते हैं उनकी बात सुन-सुन करके आपने अपने आपको खुद ही गलत रास्तेपर डाल दिया है-कहो तो हम ऐसे आदमीको बतावें कि उनके पास करोड़ रुपये हैं और रातको उनको नींद नहीं आती है-रोटीकी कमी है उनको? जिनके पास रोटी बहुत है वे भी दुःखी हैं, जिनके पास कपड़ा बहुत है वे भी दुःखी हैं, जिनके पास मकान और मोटर बहुत हैं वे भी दुःखी हैं, सरकारी रजिस्टरमें सौ करोड़पति देशमें हैं कि नहीं, यह हमको मालूम नहीं है, पर, हमारी सौ करोड़पतियोंसे जान-पहचान है–लेकिन हम सौमें-से सौके बारेमें बता सकते हैं कि वे दुःखी हैं, उनके मनमें अशान्ति है, दुःख है। कि अच्छा, पढ़ाई न होनेसे दुःखी है दुनिया? हम पढ़े-लिखे लोगोंके बारेमें जानते हैं, ज्यादा रिश्वत लेने-देनेका काम ये पढ़े-लिखे लोग ही करते हैं; झूठा मुकदमा बनानेका काम पढ़े-लिखे लोग करते हैं; झूठा फैसला देनेका काम पढ़े-लिखे लोग करते हैं और झूठी गवाही देनेका काम पढ़े-लिखे लोग करते हैं और डिस्टिल्ड वाटरका इन्जेक्शन दे करके दवाका दाम वसूल करनेका काम भी पढ़े-लिखे लोग करते हैं-ये पढ़े-लिखे लोग क्या दुःखी नहीं हैं? आप समझते हैं कि हमारे हृदयमें जो दुःख है, हमारे जीवनमें जो दुःख है उसको ये पढ़े-लिखे लोग मिटा देंगे? ये पैसे वाले मिटा देंगे? बाबा, यह विद्या आत्म-विद्या है, यह ब्रह्म-विद्या है–'यस्यामतं तस्य मतं'-जब आप मतिके चक्करसे अपनेको मुक्त पायेंगे तब दुनियाके सारे दुःखोंसे मुक्त हो जायेंगे और जबतक आप अपनेको मतिके चक्करमें आबद्ध रखेंगे, तबतक दुनियाके दुःखोंसे छूट नहीं सकते।

'यस्यामतं तस्य मतं'-ब्रह्म किसने जाना? कि ब्रह्म उसने जाना जिसने मतिके साक्षीको, आत्माको ब्रह्म जाना। यह मति तुमको गेंद खेलनेके लिए मिली हैं-भले ही आप पीछे हँस लेना। असलमें हम गीता पढ़ते थे बचपनमें तो, किसी दिन हमने अपनेको अर्जुनकी जगहपर बैठाया, और सोचा कि कृष्ण हमको उपदेश कर रहे हैं तो हमको क्या बोल रहे हैं? और किसी दिन हमने अपनेको ब्राह्मण बनाकर अर्जुनकी जगहपर बैठाया और सोचा कि कृष्ण हमको क्या बोल रहे हैं; कभी मुसलमान बनाकर बैठाया, कभी ईसाई बनाकर बैठाया, कभी हिन्दू बनाकर बैठाया और कभी अपनेको देखा कि मैं ऊँट हूँ और कृष्ण मुझको उपदेश कर रहे हैं-'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'-खाओ नीमकी पत्ती और ढोओ बोझ-'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'-यह जो मति है न, यह जो अभिमान है इस देहमें, क्या यही हड्डी-मांस-चाम-विष्ठा-मूत्रकी पोटली लेकर हम ईश्वरके सामने उपस्थित होंगे और उनकी सहायता और उसकी शक्ति और उनका ज्ञान और उनसे एकत्व प्राप्त करेंगे? यही परिच्छिन्न मैं-मैं-मैं जोड़े रहेंगे और ईश्वरसे कहेंगे कि मिल जाओ! ये बनिया लोग ऐसे ही बोलते हैं कि जब रातको हम अपने घरमें बैठें तो दिन भरमें कितनी आमदनी हुई इसके लिए तो नोट हाथसे गिनते रहें और बगलमें श्रीमतीजी बैठी रहें और बच्चा आकर कन्धेपर बैठ जाये और सामने आकर श्रीकृष्ण खड़े हों और कहें कि 'श्रीमानजी वर माँगो, तुमको क्या चाहिए?'-ये ईश्वरको ऐसे चाहनेवाले हैं कि बगलमें पत्नी हो, सिरपर बेटा हो, हाथमें नोट हो और हृदयमें भोग-वासना हो और हमारे जीवनमें एक भगवान् भी आकर एक नौकरकी तरह हमारी सेवा करें-और मैं कहूँ-ओ खटुआ, ओ लटुआ, ओ पटुआ; तो भगवान् दौड़कर सामने आकर खड़े हो जायें और कहें कि तुमको क्या चाहिए? तो बाबा, असलमें सबसे ज्यादा छोड़नेकी जो वस्तु है वह तो यह जो संस्काराक्रान्त मति है, वासनावासित-मति है, 'हिन्दुत्व, ब्राह्मणत्व, संन्यासी' आदिके कलुषसे कलुषित जो मति है और अकलुषित जो मति है-परिच्छिन्न-बीज-गर्भित-मति और वासना-गर्भित मति दोनोंका परित्याग करके-'यस्यामतं'-मतिमें जो मालूम पड़ता है सो सब दृश्य है, स्वयं मति भी दृश्य है और मतिसे विशिष्ट जो है वह भी दृश्य है और मति जिसकी उपाधि हो रही है वह भी उपाधिसे अवच्छिन्न

है और उपाधिसे जो अवच्छिन्न भासता है उसमें अवच्छिन्नता नामकी चीज नहीं है, ऐसा जो अमत है-मतिका विषय नहीं, मतिरूप नहीं, विशिष्ट नहीं-मत्योपाधिक नहीं और मत्यवच्छिन्न नहीं-जिसमें मतिकी सत्ता नहीं, जिस अधिष्ठानमें मति भासती है। और जिस अधिष्ठानमें मति बिना हुए भासती है, उसको बोलते हैं ब्रह्म।

'मतं यस्य न वेद स'-जो अपने मतिको दोहराता है-बोलेकि हम ब्रह्माकार वृत्ति.करते रहते हैं कि देखो, ब्रह्ममें तो कोई आकार नहीं, तो तुम्हारी वृत्तिमें कौन-सा आकार आया ब्रह्मके लिए? रामाकार तो एक बात भी हुई, कृष्णाकार एक बात भी हुई, अभावाकार एक बात भी हुई, ब्रह्माकार क्या हुआ भाई! ब्रह्ममें तो कोई आकार ही नहीं है तो वह वृत्तिमें कहाँसे आवेगा? जो आया तो झूठा; जिसको तुम ब्रह्माकार-वृत्ति बोलते हो वह झूठी। बोले कि अच्छा, हमारी वृत्ति ब्रह्ममें घुस गयी और जाकर बिलकुल एकमेक हो गयी। तो ब्रह्ममें कोई पोलपट्टी होगी उसमें तुम्हारी वृत्ति घुसी होगी? ब्रह्ममें कोई पोल नहीं, अवकाश नहीं कि तुम्हारी वृत्ति जाकर उसमें घुसे-अरे, झूठे ही पागल होते हैं, बेवकूफीसे पागल होते हैं, वृत्ति ब्रह्ममें घुसती नहीं क्योंकि ब्रह्ममें द्वैत है ही नहीं, दूसरा है ही नहीं; और वृत्तिमें ब्रह्म आता नहीं क्योंकि ब्रह्ममें कोई आकार नहीं। कि तब? कि यह ब्रह्माकार-वृत्ति, ब्रह्माकार-वृत्ति-अरे, हम तत्त्वकी दृष्टिसे बात करते हैं भला! यह कोई बुद्धिके सोनेका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है, समाधिका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं हैं और बुद्धिके आकार-विशेषसे युक्त होनेका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है, अपने स्वरूपमें बुद्धि नामकी कोई वस्तु ही नहीं है, तुम अपना कर्तृत्व तो छोड़ते नहीं, बुद्धिका अस्तित्व तो छोड़ते नहीं और बोलते हैं कि ब्रह्माकार वृत्तिका बोध है-एक भगतजी थे, बड़े अच्छे। भक्तिमें कोई सन्देह नहीं-भगवान्‌का नाम बड़े प्रेमसे लें, आँखसे आँसू गिरें, शरीरमें रोमाञ्च हो, अष्टसात्त्विक विकार जो हैं वे उनके जीवनमें आवें-कभी स्तम्भ हो जाये, कभी मूर्च्छित हो जायें, कभी अश्रु गिरे-एक दिन एकान्तमें रोने लगे-स्वामीजी, भगवान्‌की विस्मृति हो जाती है, भूल जाते हैं भगवान्। मैंने कहा कि यह विस्मृति जो तुम्हारे अन्तःकरणमें आती है वह कौन देता है, वह तुम्हारे प्यारेके हाथसे आयी कि नहीं? बोले-आयी-आयी, उसीने दी। कि उसीने दी? कि हाँ,

उसीने दी और आँखसे झर-झर आँसू गिरे, शरीरमें रोमाञ्च हो गया। अब भला बताओ कि भगवान्‌को भूलनेका क्या सवाल है?

हम आपको अपनी बेवकूफी बताते हैं-पहले हम साधुओंके पास जाते थे, तो अगर साधु प्रसादमें इलायची देते तो हम उसके छिलकेको निकालते नहीं थे, ज्यो-की-त्यों खा लेते थे। एक बार एक साधुने पिस्ता दे दिया (नमकीन), तो पिस्तेको भी मैंने दाँतसे कुचलकर खानेकी कोशिश की--साधुका दिया हुआ प्रसाद, साधुकी दी हुई चीजमें-से कुछ फेंकना तो अश्रद्धाकी बात होती, तो यह पिस्ता खानेमें हमको कितनी तकलीफ हो रही है यह बात महात्माने देख ली, हमारी आँखमें पानी आ गया था उसको तोड़ने और निगलनेमें। उन्होंने कहा कि देखो-भाई, ऐसी गलती मत करो, छीलकर खाया करो, इलायची भी छीलकर खाया करो और पिस्ता भी छिलकर खाया करो, जो खाने लायक चीज होती है वह प्रसाद होता है भला! वे साधु अयोध्यामें रहते थे-खूब फटकारा उन्होंने, फिर मैंने छोड़ दिया-घरसे भागकर गया था अयोध्या, उस समय सोलह-सत्रह वर्षका रहा होगा! देखो, भक्तिमें जब यह सूझता है कि विस्मृति भी भगवान्‌की दी हुई है-'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'-स्मृति भी भगवान् देते हैं, ज्ञान भी भगवान् देते हैं, विस्मृति और अज्ञान भी भगवान् देते हैं-अपोहनका अर्थ है-स्मृति और ज्ञान दोनोंका नाश; स्मृति देते हैं स्वप्नमें, ज्ञान देते हैं जाग्रत्‌में और दोनोंका अपोहन देते हैं सुषुप्तिमें-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तीनोंको वही दे रहे हैं-'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानं'-मत्तः माने तुम्हारे मैंके रूपमें बैठा हुआ जो मैं हूँ, मैं ही जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिको प्रकाशित करनेवाला हूँ। तो, जब यह ज्ञान होता है कि यह भगवान्‌का दिया हुआ है तो विस्मृतिमें भी मजा आ जाता है और जब यह दीखता है कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, सुख और दुःख तथा ज्ञान और अज्ञान, जीवन और मरण, आना और, जाना नरक और स्वर्ग-सब मेरी ही रोशनीमें दिख रहे हैं-मेरे ही प्रकाशमें पूरब और पश्चिम दोनों दिख रहे हैं; ऊपर और नीचे दोनों दिख रहे हैं, बाहर और भीतर दोनों दिख रहे हैं--मेरी ही रोशनीमें, मेरे ही प्रकाशमें दिख रहे हैं; भूत और भविष्य मेरे ही प्रकाशमें दिख रहे हैं-सारा वर्तमान मेरी रोशनीमें दिख रहा है-जो कुछ भी दिखता है वह मेरी रोशनीमें दिखता है, ईश्वर मशाल लेकर नहीं आता,

ईश्वर यदि दर्शन देने आता है तो मेरी रोशनीमें दिखता है, मेरी रोशनीमें ईश्वर दिखता है, मैं देखता हूँ ईश्वरको, मायाको मैं देखता हूँ, अज्ञानको मैं देखता हूँ, अच्छे-बुरे सबको मैं देखता हूँ-मेरी रोशनीमें प्रकाशित होने वाले, सत्ता प्राप्त करनेवाले, मेरी प्रियतासे प्रिय बननेवाले ये मेरे लिए अकिञ्चित्कर हैं-ऐसी जिसकी दृष्टि है उसीने ब्रह्मको जाना। और 'मतं यस्य न वेद स'-जिसने मतिके पेटमें परमात्माको ले लिया उसने परमात्माको नहीं जाना।

अविज्ञातं विजानताम् विज्ञातमविजानताम्।

जिसने देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आनन्द, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, देशकाल-वस्तु आदिकी उपाधिसे परमात्माको जाना-अन्यके रूपमें परमात्माको जाना उसका जाननेका दावा झूठा है, असलमें उसने परमात्माको नहीं जाना। जो जाननेवाले हैं उसके लिए परमात्मा कैसा है कि बुद्धि इन्द्रियादिके द्वारा अविज्ञात है, वह तो उनका प्रकाशक है–'अविज्ञातं विजानताम्' और 'विज्ञातं अविजानताम्' और जो अज्ञानी है वह बुद्धि इन्द्रयादिकी उपाधिसे युक्त परमात्माको जानते हैं। इसलिए जाननेवालेका लक्षण यह है कि यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने दृश्यके रूपमें परमात्माको जाना, क्योंकि परमात्मा स्वयं अपना आपा है। तो 'विजानताम् अविज्ञातं बुद्धीन्द्रियादि विषयम्'–जो जानते है उनके लिए बुद्धि इन्द्रिय आदिका विषय परमात्मा नहीं है और जो नहीं जानते हैं वे झूठा ही दावा करते हैं कि हमने बुद्धिकी रोशनीमें परमात्मा देखा। अरे, परमात्माकी रोशनीमें बुद्धि दिखती है कि बुद्धिकी रोशनीमें परमात्मा दिखता है? तुम्हारी रोशनीमें बुद्धि दीख रही है बुद्धिकी रोशनीमें तुम नहीं दिख रहे हो। तो, यह संसारके जितने बौद्ध-प्रत्यत होते हैं, उनकी रोशनीमें जो लोग परमात्माको देखनेकी कोशिश करते हैं उनकी केवल दो उपलब्धि होगी-कई बार यह बात मैं आपको सुना चुका हूँ–कि यन्त्रसे परमात्माको ढूँढोगे तो जड़ मिलेगा और बुद्धिसे परमात्माको ढूँढोगे तो शून्य मिलेगा या बुद्धिके समान क्षणिक विज्ञान मिलेगा और भावयुक्त बुद्धिसे परमात्माको ढूँढोगे, श्रद्धा-युक्त बुद्धिसे तो ईश्वर मिलेगा। और इन सबको जो देख रहा है–प्रत्यक् चैतन्य, उसकी शोधसे यदि परमात्माको देखोगे तो अद्वय-ब्रह्मका साक्षात्कार होगा।

●

प्रवचन : 12.1

प्रतिबोधविदितं मतम्- 1

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥

(केन0 खण्ड 2, मंत्र 4)

अब बड़े विलक्षण मन्त्र हैं ये–बोलनेमें जो विरोध है उसपर जल्दी ध्यान नहीं जाता है। बोलनेमें विरोध क्या है कि 'अविज्ञातं विजानतां'–जो ब्रह्मज्ञानी हैं उनके लिए तो ब्रह्म अविज्ञात है, जो अज्ञानी हैं उनके लिए ब्रह्म विज्ञात है। देखो, ब्रह्मज्ञानी है तो ब्रह्म अविज्ञात कैसे? और अज्ञानी है तो ब्रह्म विज्ञात कैसे? है–बोलनेमें उल्टा हुआ कि नहीं हुआ? कहते हैं कि जो जानता है सो तो नहीं जानता है, जो नहीं जानता है वह ब्रह्मके बारेमें जानता है। जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्मके बारेमें यह जानता है कि ब्रह्म (विषयत्वेन) नहीं जाना जाता और जो नहीं जानता है वह ब्रह्मके बारेमें यह जानता है कि वह (विषयत्वेन) जाना जाता है-माने विषयत्व और अविषयत्वका फर्क है।

जिसने यह कहा कि, अभी मैं ब्रह्मको देखकर आया हूँ; तो पूछो उससे कि कहाँ देखा? कि वह पीपलके पेड़पर। तो, वह ब्रह्म देखकर नहीं आया, भूत देखकर आया है, क्योंकि आँखके घेरेमें जो चीज आ गयी वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अनन्त अविनाशी, परिपूर्ण ब्रह्म नहीं हो सकती।

एकने कहा कि हमने त्रिपुटीमें ब्रह्म देखा है। क़ि काहेसे देखा? कि मनसे देखा है। किसने देखा है? कि मैंने देखा है। कहाँ देखा है, कि त्रिपुटीमें देखा है! अब नन्हीं-सी बिचारी त्रिपुटी और यह क्षण-क्षण मरनेवाले मन और

इससे तुमने देख लिया ब्रह्म–तो यह झूठ ही हुआ, बिलकुल सोलहो आने झूठ हुआ-ब्रह्म न मूलाधारमें दिखता है, न हृदयमें, न त्रिपुटीमें, न मस्तिष्कमें, न ब्रह्म-रन्ध्रमें।

तब फिर एकने कहा कि नहीं, तदाकर-वृत्ति करते-करते करते-करते हमने वह चमक देखी ब्रह्मकी-तो यह चमक-दमक जो है इसका नाम ब्रह्म नहीं होता, ये बेचारे बावरे लोग विश्वास कर लेते हैं! बोले कि हमने समाधिमें ब्रह्मको देखा है। तो समाधिमें तुमने वृत्तियोंका अभाव देखा होगा भला, वृत्तियोंका विरोध देखा होगा! बोले-नहीं-नहीं, समाधिमें नहीं, मैं तो हर समय, हर जगह, हर रूपमें ब्रह्म-ही-ब्रह्म देखता हूँ। कि अरे, तुम देखनेवाले और ब्रह्म देखा जानेवाला-जिसमें देखनेवाले और देखे जानेवालेका भेद हो वह ब्रह्म कैसा? कि जरा बात तो सोच समझकर करनी चाहिए।

तो 'विज्ञातं अविजानताम्' वह अविज्ञानी है, उसको ब्रह्म-तत्त्वका अनुभव नहीं हुआ जो यह कहता है कि हमने इन्द्रियोंके द्वारा या मनके द्वारा या बुद्धिके द्वारा या स्वयं साक्षी-भास्य-रूपमें ब्रह्मको देखा है। देखो, सुषुप्तिको आप कैसे देखते हैं–इन्द्रियसे तो नहीं देखते, मनसे भी नहीं देखते और बुद्धिसे भी नहीं देखते, किसी भी करणके द्वारा आप सुषुप्तिको नहीं देखते-सुषुप्ति प्रमाण-व्यवहारसे सिद्ध नहीं है। यह तो आपको मालूम है, कि सुषुप्ति न प्रत्यक्ष है कि इन्द्रियोंसे मालूम पड़े और न परोक्ष है कि सुषुप्ति न प्रत्यक्ष है कि इन्द्रियोंसे मालूम पड़े और आपको मालूम है, कि सुषुप्ति न प्रत्यक्ष है कि इन्द्रियोंसे मालूम पड़े और न परोक्ष है कि अनुमान करें और न अन्यके द्वारा बतानेके लिए उसमें अनुमान-प्रमाण है, न अर्थापत्ति है, न अनुपलब्धि है, न इतिहास है, न संभव है, न चेष्टा है--कि अरे भाई, सुषुप्ति होनेमें प्रमाण है? कि मैं खुद प्रमाण हूँ, मैंने देखी सुषुप्तिको। तो सुषुप्तिमें प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार नहीं होता, इसलिए सुषुप्तिको मैं यानि साक्षी स्वयं देखता है–सुषुप्ति साक्षी-भास्य है।

यदि किसीने कहा कि हम आँखसे ब्रह्म देखकर आये, तो भाई, तुमने ब्रह्म नहीं देखा। उसको तुमने भावसे ब्रह्म मान लिया होगा? यदि तुमने अनुमानसे निश्चय किया, तो ऐसा ब्रह्म जिसके लिए अनुमान करना पड़े माने

जो परोक्ष ही रहे, वह ब्रह्म किस कामका? तो ब्रह्म प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, संभव, चेष्टा आदि प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं है। तो 'विज्ञातं विजानताम्'–जिन लोगोंने ब्रह्मको ब्रह्मरूपसे नहीं जाना है–अविनाशी, अनन्त, परिपूर्ण, प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न, अपने स्वरूप-रूपमें जिसने ब्रह्मको नहीं जाना है वही कहता है कि हमने ब्रह्म देखा, हमने ब्रह्म देखा–ब्रह्म न जाग्रत्में दिखता है, न स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, न समाधिमें। क्योंकि जो सबमें देखनेवाले हैं, उसीका नाम ब्रह्म है–जो देखनेवाले है उसकी परिच्छिन्नता सिद्ध नहीं होती। देखो, ऐसा भी नहीं है कि अपनी अपरिच्छिन्नताको हमने जान लिया। स्वयं हमने अपने आपको अपरिच्छिन्न जाना यानी कि अपनी अपरिच्छिन्नता आपने जानी, सो इसको दार्शनिक दृष्टिसे बड़ा दूषित बताते हैं। आगसे आग जल गयी, स्वयंसे स्वयंको जान लिया-कई लोग ऐसे बोलते हैं, तो जो भोले लोग हैं वे बातको तो समझते नहीं हैं, वे समझते हैं कि स्वयं-स्वयं कोई उलट-पुलटकर नहीं जाना जाता है। तो इसमें न तो अन्तर्मुखताका पंथ चलता है, न बहिर्मुखताका, न तो इसमें ध्यान चलता है, न समाधि; और इसमें स्वयं स्वयंको जान लिया-यह भी नहीं चलता है। तो, बोलेकि जिसने कहा कि हमने ब्रह्मको देख लिया तो देखनेवाला मैं और ब्रह्म देखा जानेवाला–ऐसा? बोले नहीं-नहीं-नहीं, अपने रूपमें देख लिया। कि अपने रूपमें देख लिया तब भी जो देखा गया वह दूसरा-तुमने शीशेमें देखा होगा कुछ, परछाई देखी होगी, सच्चेको नहीं देखा होगा, अपनी परछाईं देखी होगी, क्योंकि देखनेवालेका जो शुद्ध-स्वरूप है वह देखा नहीं जाता। बोले बस! तब तो मैं ही ब्रह्म नहीं हूँ। कि नहीं, यह भी नहीं। यह क्यों नहीं? कि इसलिए कि तुमको अपनी अद्वितीयता नहीं दिख रही है, अपनी परिपूर्णता नहीं दिख रही है, अपनी अपरिच्छिन्नता नहीं दिख रही है।

तो 'विज्ञातमविजानताम्'–जो नहीं जानते हैं वे ही कहते हैं कि ब्रह्म विज्ञात-रूप है। बोले–अच्छा भाई, जिन्होंने जान लिया उनके लिए? बोले-उनके लिए 'अविज्ञातं विजानताम्' उनके लिए ब्रह्म इन्द्रियोंसे अविज्ञात, मनसे अविज्ञात, बुद्धिसे अविज्ञात, वाणीसे अविज्ञात, समाधिसे अविज्ञात,

ध्यानसे अविज्ञात, किसी भी प्रमेयके रूपमें अविज्ञात। बोले कि स्वयं? कि स्वयं जाननेवाला और जाना जानेवाला इस भेदसे भी विनिर्मुक्त। तो इसका निरूपण श्रुति कैसे करती है? वह कहती है कि ऐसे जो तुम हो सो परिच्छिन्न नहीं हो सकते, जो यह तुम्हारा स्वरूप है यह एक अन्तःकरणावच्छेदेन-- साक्षी नहीं है, एक अन्तःकरणमें रहकर केवल उसीका साक्षी नहीं है और अन्तःकरण आत्माका निवास-स्थान नहीं है।

देखो, तीन बात ध्यानमें रखनेकी है-आत्मा अन्तःकरणावच्छेदेन साक्षी नहीं है-एक बात, और कालावच्छेदेन नित्य नहीं है-दो और देशावच्छेदेन व्यापक नहीं है-तीन, वह अवकाशमें रहकर व्याप्त नहीं होता है। अवकाश ब्रह्ममें रहता है कि ब्रह्म अवकाशमें रहता है? धरती जैसे आकाशमें रहती है वैसे ही यह पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे यह देश ब्रह्ममें कल्पित है, ब्रह्म देशमें व्यापक नहीं है; जैसे सर्प रज्जुमें कल्पित है, रज्जु देशमें व्यापक नहीं है; क्योंकि सर्प तो वहाँ है ही नहीं; तो सर्पमें रज्जु नहीं रहता है। यह जब कहते हैं न कि ब्रह्म सर्वत्र है, तो सर्व-देश तो हो गया घड़ा और उसमें ब्रह्म हो गया पानी; बोले ब्रह्म है, सदा-ब्रह्म हैं, सर्वदा ब्रह्म है-तो वह सदा, सर्वदा तो हो गया काल जैसे कि रात और ब्रह्म हो गया अन्धकार। यदि यह कहो कि ब्रह्म हमेशा रहता है तो, 'हमेशा'में-कालमें ब्रह्म रहता है-माने हमेशा आधार हुआ और ब्रह्म आधेय हुआ। तो सर्वदेश घड़ा हुआ और ब्रह्म पानी हुआ; हमेशा काल और ब्रह्म एक दिन या एक रात या एक सूरज या एक चन्द्रमा हो गया। हमेशामें ब्रह्म नहीं रहता, रज्जुमें सर्पके समान ब्रह्ममें हमेशा कल्पित है—सब जगह ब्रह्म नहीं रहता, सब जगह ब्रह्ममें कल्पित है। इसलिए नित्यता काल-दृष्टिसे ब्रह्ममें आरोपित है, ब्रह्म तो अविनशत्-स्वरूप है; और परिपूर्णता देशकी दृष्टिसे ब्रह्ममें आरोपित है; और अन्तःकरणका जो अवच्छेद है—इस अन्तःकरणमें रहकर मैं इस अन्तःकरणका साक्षी हूँ—यह अन्तःकरण कोई घड़ाके समान साक्षी इसमें रहनेवाला पानीके समान नहीं है। जैसे आकाशमें धरती ऐसे आत्मामें अन्तःकरण है और एक अन्तःकरण नहीं, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत जो अन्तःकरण हैं ये सब-के-सब साक्षी आत्मामें भास रहे हैं; प्रत्येक ब्रह्माण्डमें कोटि-कोटि अगणित जीव, अगणित देवता,

अगणित वस्तु, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पृथक्-पृथक् ब्रह्मा-विष्णु-महेश और अगणित ब्रह्माण्ड और अगणित ब्रह्माण्ड भी जिसके रोम-कूपमें कल्पित। कहनेका अभिप्राय क्या है कि ये लोग जो बोलते हैं न कि ब्रह्म नित्य है वे कालमें जो नित्यता है उसका आरोप ब्रह्मपर करते है; जो कहते हैं कि ब्रह्म पूर्ण है वे देशकी पूर्णताको ब्रह्ममें आरोपित करते है और जो कहते हैं कि इस अन्तःकरणमें रह करके अन्तःकरणका साक्षी है वह अन्तःकरणके द्वारा अपनेमें परिच्छिन्नताका आरोप करते हैं। तो कहनेका मतलब यह हुआ कि यदि साक्षीके द्वारा भी ब्रह्म भासता है तो वह ब्रह्म नहीं है, वह खुद साक्षी है और ऐसा साक्षी है जिसमें देश-काल-वस्तुका परिच्छेद नहीं है, जिसमें कोई विजातीय जड़ नहीं है, जिसमें कोई सजातीय दूसरा चेतन नहीं है और जिसमें स्वयं भी परिवर्तन नहीं है। स्वयं-परिवर्तनको स्वगत-भेद बोलते हैं। स्वयंमें जो परिवर्तन नहीं है उसको स्वगत-भेद बोलते हैं और दूसरे चेतनका होना यह सजातीय भेद है और जड़का होना यह विजातीय-भेद है। तो न तो ब्रह्ममें कोई दूसरा है, न तो ब्रह्ममें कोई ब्रह्म जैसा है अपेक्षा रखनेवाला नहीं, प्रकृति और मायाकी अपेक्षा रखनेवाला नहीं, देश और कालकी अपेक्षा रखनेवाला नहीं-यह जो आत्मचैतन्य है यह दर असल ऐसा ही-परिच्छिन्नताके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित है। तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि किसीने विज्ञात रूपमें ब्रह्मको जाना कि यह हमारा जाना हुआ ब्रह्म है, तो उसने दरअसल ब्रह्मको नहीं जाना और यदि उसने देखा कि किसी भी प्रकार विज्ञातत्व ब्रह्ममें उत्पन्न नहीं होता-इसीको बोलते हैं अविज्ञात-'अविज्ञातं विजानताम्'-यदि उसने यह जाना कि ब्रह्ममें विज्ञातत्व उत्पन्न नहीं होता तो उसने ब्रह्मको जाना और यदि ब्रह्ममें विज्ञातत्त्वकी उत्पत्ति मानी तो ब्रह्मको नहीं जाना। तो जिनका दावा है कि हमने जान लिया उन्होंने नहीं जाना।

अब, बोले कि 'तर्हि कथं ब्रह्म वेदनीयम्'–फिर ब्रह्मको कैसे जानना? ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें ब्रह्ममें विज्ञातत्व नहीं है और अपनेमें ज्ञातृत्व नहीं है। तो जब ब्रह्म अत्यन्त अविज्ञात होवे तब प्रश्न यह उठता है कि फिर तो एक मच्छरमें और एक ब्रह्मज्ञानीमें क्या फर्क है, क्योंकि मच्छरको भी ब्रह्म नहीं मालूम है और ब्रह्मज्ञानीको भी ब्रह्म नहीं मालूम है, कि नहीं मालूम है यह

बात नहीं कहते हैं, बात यह कहते हैं कि ब्रह्ममें विज्ञातत्व नहीं है ब्रह्मज्ञानीको तो यह मालूम है, पर मच्छरको क्या यह मालूम है कि ब्रह्म विज्ञात नहीं होता? क्या मच्छरको यह बात मालूम है कि ब्रह्मका ऐन्द्रियक-प्रत्यय नहीं होता, मानस-प्रत्यक्ष नहीं होता, बौद्ध-प्रत्यक्ष नहीं होता, साक्षी-प्रत्यक्ष नहीं होता? ब्रह्म स्वयं है, अद्वितीय है, उसमें ज्ञातृ-ज्ञातत्वका भेद नहीं होता- यह बात क्या मच्छरको मालूम है? कि नहीं मालूम है। तो देखो न,· ब्रह्मको अविज्ञात-रूपसे जानना ही ब्रह्मका विज्ञान है और ब्रह्मको विज्ञात रूपसे जानना ब्रह्मका अविज्ञान है। तब ब्रह्मको कैसे जानें? तो अब अगले मन्त्रपर विचार करते हैं--

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥

प्रतिबोधविदितं मतं-पहले आपको इसका मामूली अर्थ बताते हैं। एक अर्थ इसका यह है कि प्रतिबोध शब्दका प्रयोग संस्कृत-भाषामें ऐसे भी होता है–'सुषुप्तो रामः श्यामेण प्रतिबोधितः'–राम सो रहा था उसको श्यामने जगाया–माने प्रतिबोध शब्दका प्रतिबोधितः--ऐसा प्रयोग जगानेके अर्थमें होता है, जैसे कोई सो रहा है और उसको जगा दिया जाये। आपने कभी ध्यान दिया है–जैसे दस आदमी एक साथ सो रहे हों और बुलावें-मोहन उठ, तो मोहन उठ गया। अच्छा, आप बता सकते हैं कि पहले मोहनकी नींद टूट गयी तब उसने अपना नाम सुना कि उसने अपना नाम सुना तब उसकी नींद टूटी-इसका विवेक आपने कभी किया है? बोले-पहले नाम सुना तो सुना कैसे? वह तो कान जाग रहा हो तब न, सुना होगा? बोले कि नहीं, पहले जाग गया फिर सुना। तो पहले-कैसे जाग गया? सुरेशराचार्यजी महाराजने इसपर बड़ा विचार किया है–शब्दशक्तिः अचिन्त्यत्वात्–उन्होंने कहा कि शब्दकी शक्ति अचिन्त्य है; दो गाली दे दें तो गुस्सा आ जाये, भले उस गालीका जो अर्थ हो वह बिलकुल झूठा हो। और तारीफ करें तो फूल जायेगा-भले झूठी तारीफ करें तो भी फूल जायेगा-ब्लैक-मार्केटीको धर्मात्मा कहें या भक्तराज कहें तब भी वह खुश हो जायेगा-यह शब्दकी शक्ति है। बहुत सारी स्त्रियाँ अपनी तारीफ सुन करके कि बहुत सुन्दर हैं गद्‌गद हो जाती

हैं। तो यह क्या है कि प्रफुल्लित करने या विषण्ण करनेमें शब्द हेतु होता है। शब्दकी शक्ति बड़ी विलक्षण है; कुछ ऐसे शब्द होते हैं कि जिससे सोया हुआ मनुष्य जाग जाये।

तो 'प्रतिबोधविदितं मतं'का एक अभिप्राय यह है कि यह अनादिकालसे अज्ञाननिद्रामें सोया हुआ जो जीव है उसको गुरुने कहा कि अरे, तूँ जीव नहीं है भाई, अपनेको जीव कैसे मान मिला तूने? किस प्रमाणसे प्रतिपन्न हुआ कि तूँ जीव है? अच्छा, घड़ा फूटता है कि माटी? घड़ा ही फूटता है न! शकल-सूरत तो घड़ेकी ही बिगड़ती है, माटीकी शकल-सूरत नहीं बिगड़ती है। जेवर टूटता है, सोना नहीं टूटता है। तो यह जो जीव है यह जेवर है और ब्रह्म सोना है–यह जीव घड़ा है और ब्रह्म माटी है और यह जीव नीलिमा है और ब्रह्म आकाश है। तो वेदान्तीने कहा कि अच्छा बाबा, हम मान लेते हैं कि माटी (ब्रह्म) और घड़ा (जीव) अलग-अलग हैं, पर, हमारी माटी तुम वापस कर दो और अपना धड़ा ले जाओ-मिट्टीसे अलग घड़ेका वजन नहीं होता, यह तो आपको मालूम ही है न! घड़ा मैटर नहीं है माटी मैटर है। मृत्ति-मैटर-यह मृत्तिका जो है न, वही वस्तु है, घड़ा वस्तु नहीं है? बोले भाई! सोना (ब्रह्म) और जेवर (जीव) अलग-अलग हैं कि एक? बोले भाई! बोले-सोना अलग और जेवर अलग; जेवर भी सच्चा और सोना भी सच्चा; बोले-अच्छा, सोना हमारा वापस करो और जेवर तुम ले जाओ-तो जेवर नामका कोई तत्त्व मिलेगा? कोई धातु मिलेगी! कोई धातु नहीं है, जेवर कोई धातु नहीं है। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्ममें जिसमें न समय है और न अवकाश है-देश भी नहीं है और काल भी नहीं है और ऐसे ब्रह्ममें किसी शकल-सूरतका दिखना और मिटना वह तत्त्व नहीं होता है वह केवल भान-मात्र होता है; सो भी कबतक दिखता है कि जबतक देहको 'मैं' करके बैठते हैं।

एक राजाके राज्यमें शास्त्रार्थ हुआ-सत्-ख्याति, असत्-ख्याति-सदसत्-ख्याति-ख्यातिवादपर शास्त्रार्थ हुआ कि भाई, सीपमें जो चाँदी दिखती है वह सच्ची कि झूठी? तो वेदान्ती पण्डित जरा कमजोर पड़ गया-पर, एक पण्डितके हारनेसे विद्या थोड़े ही हार जाती है, वह तो

उसकी बुद्धिका दोष है–हार गया; और जो कह रहा था कि सीपमें चाँदी सच्ची, सो जीत गया। पर, राजा बड़ा बुद्धिमान था। वह बोला–हाँ, महाराज, आप जीत गये। कि अच्छा, तब पुरस्कार मिलना चाहिए तो राजाने कहा कि आपको यह पुरस्कार मिलता है कि हमारे राज्यमें जितनी सीप हैं और उसमें जितनी चाँदी है वह चाँदी आप निकाल कर ले जाइये परन्तु सीप यहीं छोड़ जाइये। तो कुछ मिलेगा? आप ब्रह्मको छोड़ करके यदि जगत्‌को निकालना चाहें-तात्त्विक दृष्टिसे जीवको कुछ बनाना चाहें, कुछ निकालना चाहें–तो यह ब्रह्म-दृष्टिसे कुछ नहीं है। तो आवो जागो, नींदसे जागो! 'प्रतिबोधविदितं मतम्'-यह बिलकुल एक क्षणका काम है-आँख मींचनेमें श्रम है, फूल मसलनेमें श्रम है-नींदका समय अलग है और जागनेका समय अलग है-लेकिन, यह आत्माकी जो ब्रह्मरूपता है यह ऐसी नहीं है, इसमें इतना भी परिश्रम नहीं है। अच्छा, आपमें-से बहुत-से ब्राह्मण होंगे, क्षत्रिय होंगे, वैश्य होंगे, शूद्र होंगे, अब आप बताइये कि आपको हिन्दू बननेमें कितनी देर लगेगी। कि अरे, हिन्दूके एक हिस्सेमें ब्राह्मणपना, क्षत्रियपना, वैश्यपना, कल्पित है। अच्छा हम आपसे पूछते हैं कि हिन्दूको मनुष्य होनेमें कितनी देर लगती है? क्या कोई ऐसा हिन्दू है जो अपनेको मनुष्य न मानता हो? देखो, एक मानवत्वकी संवित् हैं कि मैं मनुष्य हूँ और एक हिन्दूत्वकी संवित् है कि मैं हिन्दू हूँ, तो दो संवित् हैं माने दो भाव हैं आपके मनमें! ये दोनों ही भ्रान्तियाँ हैं–भला! हिन्दूत्व भी भ्रान्ति हैं और मानवत्व भ्रान्ति है–इसी प्रकार मुसलमानत्व भी भ्रान्ति है और ईसाईत्व भी भ्रान्ति है, यह नहीं कि मानवता सच्ची है। अच्छा, आप अभी बताओ-इसी समय यह बात ध्यानमें लो कि एक आदमी जो अपनेको हिन्दू मानता रहा है वह यदि अपनेको मनुष्य समझे तो इसमें कितनी देर लगेगी? कुछ देर नहीं लगेगी। क्यों! कि वह मनुष्य तो पहलेसे है, उसने तो मनुष्यके एक विभागमें अपना मैं करके अपनेको हिन्दू-मुसलमान बनाया है तो, जो अनन्त सत्य है, जो यथार्थ सत्य है, जो परमार्थ सत्य है उसमें जीवको ब्रह्म होनेमें कितनी देर लगेगी, कि जितनी देर एक हिन्दूको मनुष्य होनेमें लगती है। फिर! अपनेको एक शरीरका

अभिमानी मानकर जीव मान लिया, इसका कर्म अपना, इसका सम्बन्ध अपना, इसका भोग अपना। शास्त्रमें दृष्टान्त आता है कि एक राजकुमारने अपनेको डाकू मान लिया, जब उसको निशान बताये गये कि अरे भाई, तुम तो राजकुमार हो तो डाकूको राजकुमार होनेमें कितनी देर लगी, क्योंकि वह तो राजकुमार पहलेसे ही था।

तो 'प्रतिबोधविदितं मतम्'—जागो, अपने ब्रह्मस्वरूपमें जागो। कोई लोग ऐसे होते हैं कि उनको खटसे बोध हो जाता है और कोई कितना भी समझाओ, वहाँ-के-वहीं रहते हैं। चार बातोंके कारण यह बात नहीं आती समझमें-एक तो बुद्धि कमजोर हो तो बात जल्दी समझमें नहीं आती—इसको प्रज्ञा-मांद्य बोलते हैं दूसरा-बालकी खाल निकालनेवाला कुतर्की हो तब भी बात जल्दी समझमें नहीं आती; तीसरा-विपर्ययमें दुराग्रह हो-विपर्यय माने यह जो अपनी मानी हुई चीजें हैं कि हम हिन्दू हैं, हम मुसलमान हैं, हम देह हैं, हम सूक्ष्म शरीर हैं, हम करण शरीर हैं, हम पापी-पुण्यात्मा, रागी-द्वेषी, ये कर्त्ता-भोक्ता, जाने-आनेवाले जीव हैं—यह बिलकुल मान्यता ही तो है, सब विपर्यय हैं- इसमें दुराग्रह होना कि बाप-रे-बाप इसको छोड़कर कैसे जीयेंगे, हम पाप-पुण्य नहीं मानेंगे तो दुनिया उलट जायेगी, हम राग-द्वेष नहीं करेंगे तो लुट जायेंगे, हम सुखी-दुःखी नहीं होंगे तो मर जायेंगे-यही विपर्ययमें दुराग्रह है, खोपड़ी उल्टी हो गयी—एक उल्टी अक्कलको अपनी मान लिया गया। तो प्रज्ञाकी मन्दता, कुतर्क और उल्टी खोपड़ी-विपर्ययमें दुराग्रह-ये तीन हुए; और चौथा है विषयासक्ति। एकने पूछा—क्यों संन्यासी होते हो? तो हमने कहा कि तुमको संन्यासी होनेसे डर क्यों लगता है? माने तैयारी की कमी है न! मोहकी अधिकता ही तो है, अब उसको चाहे कैसे भी छिपाओ, हम यह खाये बिना नहीं रह सकते, हम इस आदमीके बिना नहीं रह सकते, हम ऐसे मकानके बिना नहीं रह सकते—चाहे जितना उसपर मुलम्मा लगाओ, चाहे जितना मेक-अप करो अपनी कमजोरीको छिपानेके लिए, लेकिन, बात तो यही है न, कि छोड़नेकी तैयारी नहीं है! तो 'प्रतिबोधविदितं मतं'—कोई-कोई ऐसे होते हैं कि एकबार खटसे बोल दिया और सारा काम

समाप्त, अरे तूने बिना समझे, बिना सोचे, बिना विचारे-मूर्खतासे तूने अपनेको जीव मान रखता है; देख, सोच-विचार, सारे वेदान्त बोलते हैं, सारे अनुभवी बोलते हैं, तेरा गुरु तुझसे बोल रहा है कि तूँ ब्रह्म है। गुरुने कहा और बारा-न्यारा हो गया–'श्रवणमात्रेण'। यह 'प्रतिबोधविदितं मतम्'– गुरुके प्रतिबोधसे! प्रति-बोधन माने समझानेसे–यह ब्रह्मज्ञान होता है।

बोले-आवो, हम अपने आप ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लें! कि अपने-आप इतना तो आप जान सकते हैं कि मैं हूँ–भला; मैं सत् हूँ-यह आप अपने आप जान सकते हैं; मैं चित् हूँ–मैं जानता हूँ–यह भी आप अपने आप अनुभव कर सकते हैं और मैं परम-प्रेमास्पद आनन्द-स्वरूप हूँ यह भी आप अपने-आप जान सकते हैं; मैं सच्चिदानन्द हूँ, साक्षी हूँ-यह आप अपने-आप जान सकते हैं-शरीरको ढीला छोड़ दीजिये, आप शरीरको देख रहे हैं; मनको ढीला छोड़ दीजिये, वह चाहे सोये, चाहे जागे, चाहे फुदफुदाये-आप उसको देख रहे हैं; बुद्धिको ढीली छोड़ दीजिये-जो होय सो होने दो--आप सब ढीला करके बैठ जाइये, आप तो साक्षी हैं-यह बात आप अपने आप जान सकते हैं। ये गुरु-शास्त्र अनुवाद करनेवाले नहीं होते। माने जो बात अपने आप मालूम हो रही है वही बतानेके लिए शास्त्र नहीं होता, जो बात अपने-आप नहीं मालूम हो रही है उसको गुरु बताता है। देखो तुम-तुम्हारे अन्दर किसी प्रकारकी परिच्छिन्नता नहीं है–इस बातको समझो-किसी प्रकारका द्वैत नहीं है-तुम अपरिच्छिन्न हो, अद्वैत हो। तो 'प्रतिबोधविदितं मतं'–यह समझानेसे-यह बात गुरुके समझानेसे समझमें आती है।

तो बोले महाराज, यह तो आपने ब्रह्म-स्वरूप जाननेकी युक्ति बतायी, तो 'प्रतिबोधविदितं मतम्' में क्या केवल युक्ति ही है, ब्रह्मज्ञानका स्वरूप नहीं है? तो अब देखो, दूसरा अर्थ बताते है। 'प्रतिबोधविदितं मतमं'–यह ज्ञान केवल एक बार होता है-प्रतिबोध माने जैसे आदमी नींदमें हो, सपना देख रहा हो तो जग जानेका नाम प्रतिबोध है–सोया हुआ जग गया-जगनेको संस्कृतमें बोलते हैं प्रतिबोध-'प्रतिबुद्धो अयं पुरुषः'–यह मनुष्य जाग गया-जाग गया; जाग-रे-जाग-बोलते हैं न!

दो वेदान्ती यात्रा कर रहे थे। सबेरे एक पूछता–गुरु भाई, जाग रहे हो

कि सो रहे हो? दूसरा बोला–गुरु भाई, अपने स्वरूपमें जागना-सोना है ही नहीं। वेदान्ती लोग ऐसे ही बात करते हैं–गुरु भाई! कहाँसे आ रहे हो? बोले-जहाँसे तुम पूछ रहे हो अथवा अपने स्वरूपमें आना-जाना कहाँ है। एक महात्माके पास हमलोग गये, बड़े मस्ताने थे, उनको ठन-ठनपाल बोलते थे, तो हमने उनसे पूछा कि मरकर कहाँ जावोगे? तो बोले–जाना-आना नहीं है। वैसे वे बोलते-वोलते नहीं थे। हमारे स्वामी-स्वरूपानन्दजी गये थे–यह राम-राज्य-परिषदके जो अध्यक्ष हैं न, वह पहले हमारे साथ ही रहते थे–सन्'42से 48 तक हमारे साथ-ही-साथ थे, तो इन्होंने पूछा कि साधन क्या है? आपको बतावें जबाव उनका? बुरा मत मानना, फक्कड़की बात हैं; बोले–साधन गधा है गधा–जहाँ तत्त्वके अप्राप्य होनेका भ्रम है, अज्ञान है, बेवकूफी है कि ब्रह्म हमसे कोई न्यारा है वहाँ साधन है–अज्ञानमें साधन है, ज्ञानमें साधन और साध्यका भेद नहीं है। तो 'प्रतिबोधविदितम्'का क्या अर्थ हुआ--'प्रतिबोधवत् विदितं-जैसे सोतेसे जाग जाते हैं वैसे एक ही ठोकरमें जाग जाते हैं–

मेरे सद्‌गुरुने मार्यो तीर निकस गयो पार ।

एक बार जगते हैं, जागना बार-बार नहीं होता–'सकृत् विभातम्'। एकबार सपना टूट गया, टूट गया छह महीनेका सपना। सपनेमें देखा–छह महीने बीत गये, छह वर्ष बीत गये, पचास वर्ष बीत गये–सपनेमें, लेकिन एक क्षणका जाग्रत् उसका बिलकुल बंटाढार है, सपनेमें क्या तत्त्व है, सपनेमें रोये, गाये, मरे-जीये; मिले-बिछुड़े-पर जाग गये तो कुछ नहीं–'प्रतिबोधवत् विदितं मतम्–दो बार ज्ञानकी जरूरत नहीं पड़ी, ज्ञान सिर्फ एक बार होता है-'सकृत् विभातम्'। तो बोले, यह तो ज्ञानकी महिमा हुई कि दो बार नहीं होना पड़ता।

देखो यह बात क्यों कही गयी कि धर्म बार-बार करना पड़ता है, प्रायश्चित्त बार-बार करना पड़ता है–फिर पाप करो, प्रायश्चित्त करो; फिर पाप करो फिर प्रायश्चित करो, फिर धर्म करो; उपासना बार-बार करनी पड़ती है, इष्टकी स्मृति न हो तो कैसे होगा? कि समाधि बार-बार लगानी पड़ती है! और यह चीज ऐसी है कि जो बार-बार नहीं करनी पड़ती। बोले–यह भी तो

ज्ञानका स्वरूप नहीं हुआ, ब्रह्मका स्वरूप नहीं हुआ, यह तो ब्रह्मज्ञानका माहात्म्य हुआ–यह धर्म, उपासना, योग-सबकी अपेक्षासे व्याख्या हुई। यह शान्तिसे बैठना और शान्तिसे उठना और ढीला छोड़ना और कसकर रखना-इससे न्यारा है यह।

कल हमको एकने बताया कि महाराज, जप करते हैं तब थोड़ा परिश्रम मालूम पड़ता है, पाठ करते हैं तो परिश्रम मालूम पड़ता है और शरीरको जब जरा ढीला छोड़ देते हैं तब आराम मालूम पड़ता है।

देखो, हम आपको बताते हैं कि आपको व्यभिचार करनेमें श्रम मालूम पड़ता है कि नहीं? पति-पत्नीके भोगमें श्रम है कि नहीं? अच्छा, धन कमानेमें श्रम है कि नहीं है? एक जगहसे दूसरी जगह जानेमें श्रम है कि नहीं है? तो आप उस परिश्रमसे तो बचनेकी कभी कोशिश नहीं करते हो! भलेमानुष, आप कभी उस परिश्रमसे बचनेकी कोशिश करते तो संसारसे बच जाते! लेकिन, जो ईश्वरकी ओर ले जानेवाला परिश्रम है उससे बचनेकी कोशिश करते हो, यह तुमने रामके हाथमें अपनेको छोड़ा कि कामके हाथमें? भगवान्‌के प्रति समर्पित हुए कि वासनाके प्रति?

ढीला छोड़नेका क्या अर्थ है? तो नारायण, जैसे आप श्रम करके धन कमाते हो, श्रम करके धर्म करते हो, श्रम करके भोग भोगते हो, वैसे ही श्रम करके अपने मनको भी भगवान्‌में लगाओ। ईश्वरके दरबारमें, परमार्थके मार्गमें बेईमानी नहीं चलती, यदि आपके मनमें कर्मके लिए, वस्तुके लिए श्रम न हो, भोगके लिए श्रम न हो, सम्बन्धके लिए श्रम न हो, बाह्य-पदार्थोंके लिए यदि आपके जीवनमें श्रम न हो तो आप ईश्वरके लिए भी श्रम मत करो-आपको ईश्वर मिल जायेगा! श्रम न करना भी साधन है, यह नहीं कि वह साधन नहीं है, वह भी साधन है और बहुत बढ़िया साधन है, लेकिन और सब श्रमोंसे तो आप नहीं डरते, नहीं कतराते, नहीं बचते, केवल ध्यानके श्रमसे, समाधिके श्रमसे, जपके श्रमसे आप बचना चाहते हो।

आप स्वयं अपने हृदयमें ईमानदारीके साथ जरा निरीक्षण करें, जरा जाँच-पड़ताल करें, क्या बात है? यह तो रोज-रोज ढीला छोड़नेकी बात नहीं

है, एक ही दिन सब ढीला छोड़ दो--यह ज्ञान तो ऐसा है कि एक दिन ढीला छोड़ दो-धनके लिए भी ढीला छोड़ दो, धर्मके लिए भी ढीला छोड़ दो, भोगके लिए भी ढीला छोड़ दो, समाधिके लिए भी ढीला छोड़ दो, ज्ञानके लिए ढीला छोड़ दो-एक दिन छोड़ो ताकि दुबारा छूटेगा-प्रतिबोध एकबार जग जाना--यह ज्ञानका माहात्म्य है, यह धर्मसे, उपासनासे, योगसे विलक्षण है-मरनेतक इसमें दोहरानेकी जरूरत नहीं है-'प्रतिबोधविदितं मतम्'।

अच्छा! बोले कि यह तो महिमा हुई अब उसका स्वरूप बतलाओ। तो स्वरूप बतलाते हैं-'प्रतिबोधविदितं मतम्'-अभी इसकी असलियत बता दें कि अभी नकली ही बतावें! बिना नकलीके असली समझमें नहीं आता, इसलिए पहले नकली, फिर असली बतायेंगे-यह बहुत विलक्षण हैं। देखो-प्रतिबोध क्या है? प्रतिबोधका अर्थ है-बोधके विपरीत दिशामें बोध। बोध जो है वह सामनेको जाता है और प्रतिबोध भीतरको जाता है। देखे जानेवालेका होता है बोध और देखनेवालेका होता है–प्रतिबोध-उल्टा। जैसे पक्ष और प्रतिपक्ष होता है-जिधर तुम्हारी मनोवृत्ति बिलकुल ढुलकती जा रही है, जिधर जा रही है, उधर नहीं, जिधरसे आ रही है उधर-मछलीकी चाल चलो!

मछलीकी चाल क्या है कि जिधर पानी बहता है उधर नहीं, जिधरसे आता है उधर चलती है। यह ज्ञानकी धारा जिधर विषयोंमें जाती है ऊधर नहीं, जिस आत्मेदवसे आ रही है उधर चलो-धाराको बहने दो और तुम इसको पकड़कर इसकी जड़में पहुँच जाओ-तस्मात् धियो मार्गय जन्मदशं'-ये बुद्धियाँ जहाँ पैदा होती हैं, ये वृत्तियाँ जहाँ पैदा होती हैं, उस मूलको ढूँढ़ो! 'प्रतिबोधविदितं मतम्'-जितना अर्थ अभी तक मैंने बताया है इनमें-से कोई अर्थ श्रीशंकराचार्य भगवान्ने अपने पदभाष्यमें नहीं लिया है, उसमें दूसरे ही अर्थ हैं। वे कहते हैं–

बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते।

बुद्धिमें जो प्रत्यय होते हैं माने वृत्तियाँ होती हैं उनको यहाँ बोध कहा गया है और 'बोधं बोधं प्रति प्रतिबोधम्;' देखो, एक ज्ञान है कि यह घड़ी है, यह ज्ञान है कि नहीं? बोले–है तो सही; एक ज्ञान है कि यह पुस्तक है-यह भी ज्ञान है; फिर बोले कि देखो, घड़ी अलग है और पुस्तक अलग है और

ज्ञान एक है। विषयके अलग-अलग होनेपर भी और मनमें विषयाकारताके अलग-अलग होनेपर भी बोध एक है कि नहीं? दोनोंको जाननेवाला तो एक है न! ज्ञान एक है।

अब देखो, रातको जान रहा है वही दिनको भी जान रहा है। तो क्या रातका ज्ञान अलग हुआ दिनका ज्ञान अलग हुआ? कि नहीं-नहीं, रात और दिन अलग हुए, ज्ञान अलग नहीं हुआ; कि अच्छा, दाहिनेका ज्ञान अलग हुआ और बायेंका ज्ञान अलग हुआ? कि नहीं दाहिने और बायें अलग-अलग हुए; परन्तु ज्ञान अलग-अलग नहीं हुआ। तो, यह जो अलग-अलग देश, अलग-अलग काल और अलग-अलग वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं इनमें जो एक ज्ञान है-स्वयं है। 'प्रतिबोधविदितं मतम्'–तो क्या घड़ीका ज्ञान पैदा हुआ और नष्ट हुआ? बोले नहीं, घड़ी आयी और गयी परन्तु, ज्ञान एक ही रहा; सूर्यकी रोशनीमें चमार जूता बनाता है, ड्राइवर गाड़ी चलाता है, रसोइया रसोई बनाता है, पण्डित वेद-पाठ करते हैं और फौजी बन्दूक दागता है, लेकिन रोशनी एक है कि नहीं, रोशनी एक है। वैसे ही तुम रोशनी हो, तुम प्रकाश हो और ऐसे प्रकाश हो जो पहले और पीछेको भी बतावे, दायें और बायेंको भी बतावे यह और वहको भी बतावें; प्रकाशमें न बायें है, न दायें है, न यह है न वह है, न पहले है न पीछे है-प्रत्ययका भेद होनेपर भी, वृत्तिका भेद होनेपर भी जो ज्ञानकी एकता और अद्वितीयता है–यह 'प्रतिबोधविदितं मतम्'से बताया गया है।

●

प्रवचन : 12.2

प्रतिबोधविदितं मतम्- 2

सोतेसे आदमी जाग जाये, जैसे सपना टूट जाये, जैसे भूले हुए राजकुमारको अपने राजकुमारका ज्ञान हो जाये ऐसे यह जो आत्मदेव है सरलरूपसे विद्यमान हैं। एक आदमी चाहता था कि हम आकाशका अन्त कहाँ है इसका पता लगावें-ऊपर कि नीचे, दाहिने कि बायें-चिड़िया होकर उड़ा, तो उसको क्या कभी आकाशका अन्त मिलेगा? असलमें आकाशका प्रारम्भ कहाँ है और अन्त कहाँ है। तो आकाशका ज्ञान जब आपको होगा तो अज्ञातत्व-विशिष्ट ही ज्ञान होगा; माने इसके ओर-छोरको न जानना-यह भी रहेगा और आकाशको आप जानेंगे भी अर्थात् आकाशका ज्ञान भी रहेगा और अज्ञान भी रहेगा, अज्ञान-रहित-ज्ञान आकाशका नहीं हो सकता। अच्छा, काल कब प्रारम्भ हुआ–इसका, आदिभूतका कोई पता लगा सकता है? अच्छा, भूतान्तका पता लगा सकता है?

बोले-नहीं, हम अजर रहेंगे, अमर रहेंगे, हम देखेंगे कालको मरते हुए, तो कालके आदिका, मध्यका, अन्तका जितना भी ज्ञान होगा वह अज्ञातत्व-विशिष्ट ही ज्ञान होगा-अज्ञान रहेगा, मालूम पड़ेगा कि हम पूरे कालको नहीं जानते हैं, हमारी वृत्तिमें पूरा काल नहीं आया-बिना अज्ञानका काल-ज्ञान नहीं हो सकता; बिना अज्ञानका देश-ज्ञान भी नहीं हो सकता, बिना अज्ञानका द्रव्य-ज्ञान भी नहीं हो सकता, क्योंकि असलमें देश और कालका विभाजक द्रव्य ही है–यह घड़ी है तो इसके पूरब है, पश्चिम है, उत्तर है, दक्षिण है, बाहर है, भीतर है, पहले है, पीछे है, देश और कालका विभाजन पदार्थ ही करता है; और पदार्थका आदि और अन्त भी जब ज्ञात होगा तब अज्ञातत्व-

विशिष्ट ही होगा–माने उसका अज्ञान रहेगा। यह भी ध्यानमें रखो कि अन्य पुरुषका जब भी ज्ञान होगा-अन्य वस्तुका, अन्य व्यक्तिका, अन्य सम्बन्धका, समवायका, अन्य संयोगका, तो वह ज्ञान परिच्छिन्नत्व-विशिष्ट ही होगा। यह भी आप ध्यानमें रखो कि वह वस्तु परिच्छिन्न ही रहेगी; वह हमसे परिच्छेद्य होगी, परिच्छेद्यका अर्थ है कि एकसे अलग करके दूसरेको जानेंगे, दूसरेका अलग पहलेको जानेंगे, यदि घट और पट दोनों न हों तो दोनोंका भेद कैसे ज्ञात होगा? तो भेद जब ज्ञात होगा तब परिच्छेद्य हो करके, कट करके, अलगावको प्राप्त करके ही होगा। तो जहाँ-जहाँ भेदका ज्ञान होगा वहाँ-वहाँ अज्ञातत्त्व भी जरूर रहेगा। कहनेका मतलब यह है कि देश-काल-वस्तुका ज्ञान, कालमें होनेवाले परिणामका और देशमें और वस्तुमें होनेवाला परिमाणका ज्ञान--ये सब अज्ञातत्व-विशिष्ट ही होगा। परिमाण माने नाप और परिणाम माने तबादला, परिवर्तन-कालमें होनेवाले परिणाम, देशमें होनेवाले परिमाण-एक गज-दो गज, एक फुट-तीन फुट; और वस्तुमें होनेवाले वजन-एक माशा और एक माशाका करोड़वाँ हिस्सा। तो परिमाण और परिणाममानिता-बदलना, वस्तुका बदलना-इन सबके ज्ञान अज्ञातत्व-विशिष्ट ही होंगे।

अब, हम आपको एक ऐसा स्थान बताते हैं जहाँ अज्ञातत्व रह नहीं जाता-वह कौन-सा स्थान है। कि जो सबको जान रहा है, अरे, अपना-आपा ही है वह। यह कैसा है कि यह अज्ञातत्वका भी ज्ञाता है। 'इदं अज्ञातं इति अहं जानामि'--अज्ञानं अहं जानामि। अच्छा देखो, मैं नहीं हूँ-यह आप नहीं जान सकते; मैं नहीं जानता हूँ यह भी आप नहीं जान सकते; मैं अप्रिय हूँ यह भी आप नहीं जान सकते। अनुभवकी प्रणालीमें आत्मा सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है और देश-काल-वस्तु परिणाम, परिमाण, परिणाममानिता-यह सब अज्ञातत्व-विशिष्ट हैं। अच्छा, अब आप देखो-यदि आप अपनेको देहेन्द्रियादि-का साक्षी जानोगे कि मैं साक्षी हूँ एक देहका, एक इन्द्रियका, एक मनका, एक प्राणका, एक बुद्धिका, एक सुषुप्तिका मैं साक्षी हूँ तो परिच्छिन्नत्व लगा रहेगा कि नहीं! कि लगा तो रहेगा; तो बोले कि हम जो परिच्छिन्नत्वके भी साक्षी हैं! कि बस बेटा, तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। अब

मजा लो उसका। उसका क्या मजा है कि परिच्छिन्नता तो होती है देशमें, कालमें, वस्तुमें और तुम देश-काल-वस्तुकी परिच्छिन्नताके साक्षी हो-इसका मतलब है कि तुममें अपरिच्छिन्नता नहीं है। तो श्रुति-शास्त्र ऐसे नहीं बोलते कि तुम अपरिच्छिन्न नामकी कोई चीज हो, ऐसे बोलते हैं कि तुम्हारे अन्दर परिच्छिन्नता नहीं है। जब परिच्छिन्नता नहीं है तब आप अपनेको जीव कैसे कह सकते हैं? अपनेको जगत् कैसे कह सकते है। अपनेको ईश्वर कैसे कह सकते हैं।

'प्रतिबोधविदितं मतम्'का अर्थ हुआ कि चाहे ये व्यष्टि देश, समष्टि देश और देशका अभाव-ज्ञात होवें; और चाहे व्यष्टि काल, समष्टि काल और कालका अभाव ज्ञात होवे; और चाहे व्यष्टि वस्तु, समष्टि वस्तु और व्यष्टि और समष्टि वस्तुका अभाव ज्ञात होवे, आप उनके भावाभावसे और भावाभावका सृजन करनेवाली जो अविद्या है उस अविद्यासे असंस्पृष्ट हैं; आपमें परिच्छिन्नता नामकी कोई वस्तु नहीं है–न आपसे अलग कोई परिच्छिन्न है, न आप स्वयं परिच्छिन्न हैं। इस परिच्छिन्नताका निषेध तत्त्वमस्यादि महावाक्य करते हैं। इसीसे भाई मेरे! धर्मानुष्ठानके द्वारा अन्तःकरण-शुद्धि बहुत अच्छी वस्तु है, परन्तु अपनी परिच्छिन्नताका बोध धर्मसे नहीं हो सकता; उपासना द्वारा ईश्वरकी विशालताका बोध हो सकता है, परन्तु उससे अपरिच्छिन्न ब्रह्म-बोध नहीं हो सकता, योगाभ्यासके द्वारा अपने द्रष्टापनेका बोध हो सकता है; परन्तु द्रष्टाके अद्वितीयपनेका, ब्रह्मपनेका बोध नहीं हो सकता इसके लिए तो वेदान्तके महावाक्यकी आवश्यकता है–'वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तः'=सदा वेदान्त वाक्योंमें ही रमण करना होता है। वेदान्त विद्या है। वेदान्त-ज्ञान कर्म नहीं है, वेदान्त-ज्ञान उपासना नहीं है, वेदान्त ज्ञान योगाभ्यास नहीं है, क्योंकि इन तीनोंमें अपने कर्त्तापनको मिटानेके लिए कोई युक्ति नहीं है। याद कर लो, धर्मका कर्त्ता होता है, उपासनाका कर्त्ता होता है, योगका कर्त्ता होता है; धर्ममें धर्मका फल परोक्ष होता है, धर्मकी क्रिया होती है और कर्त्ता होता है; उपासनामें उपासनाका विषय परोक्ष होता है, उपासनाकी क्रिया होती है और कर्त्ता होता है; और योगाभ्यासमें फल जो है, समाधि रूप फल वह लोकान्तरमें तो नहीं होता; लेकिन कालान्तरमें होता है,

लेकिन कालान्तरमें होता है, समाधि-रूपमें फल देशान्तरमें नहीं होता, समाधि स्वर्गमें नहीं लगती, यहीं लगती है लेकिन जिस समय अभ्यास किया जाता है उस समय नहीं लगती, बादमें लगती है, इसलिए कर्त्तापनको मिटानेका सामर्थ्य समाधिमें नहीं है। यह वेदान्त तो विद्या है–विद्या है माने जो चीज जैसी है उसको वैसी लखानेवाली है; विद्याका मतलब यह है कि समझ जाओ इस बातको कि सूर्य एक सेकेण्डमें कितना चलता है, लगा लो हिसाब गणितसे, चट निकल आवेगा कि कब ग्रहण लगेगा, पृथिवी और सूर्यके बीच कब चन्द्रमण्डल निकल आयेगा और कब ग्रहण लगेगा-चन्द्रमापर पृथिवीकी छाया कब पड़ जायेगी, कब ग्रहण लग जायेगा–यह बात गणितसे निकाल सकते हैं। तो, विद्या जो होती है वह धर्मानुष्ठान करनेसे नहीं आती है; उपासना करनेका नाम, वृत्तिकी आवृत्तिका नाम विद्या नहीं है, उसमें तो जितना मालूम रहेगा वही गाढ़ा होगा; योगकी तरह सबको छोड़कर लौटनेका नाम विद्या नहीं है, विद्या तो ज्यों-की-त्यों वस्तुको समझनेका नाम है, जाननेका नाम है। इसका ब्राह्मण-आचार और वैष्णव-आचारके साथ सम्बन्ध नहीं है, स्मार्त-आचारके साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। किसका ध्यान करते हो-कृष्णका कि रामका, कि शिवका कि देवीका-कि इसके साथ भी इसका सम्बन्ध नहीं है; समाधि तुम्हारी सम्प्रज्ञात लगती है कि असम्प्रज्ञात-इस बातके साथ भी इसका सम्बन्ध नहीं है। 'प्रतिबोधविदितं मतं'का अर्थ है-बुद्धिमें जितने प्रत्यय होते हैं–देश-प्रत्यय, काल-प्रत्यय, वस्तु-प्रत्यय; देश-काल-वस्तु अवयव-प्रत्यय और अवयव-अवयवी-अभाव प्रत्यय-जितने भी प्रत्यय-अलग-अलग वृत्तियाँ होती हैं कि देश बड़ा भारी है, यह एक इञ्च देशका एक हिस्सा है; काल बड़ा भारी है अनादि-अनन्त और यह एक मिनट उसका हिस्सा है कि ये सारी-की-सारी कल्पनाएँ-जल्पनाएँ हैं-ये तो गाँवमें औरतें जैसे भीतपर तस्वीर बनाती हैं-अल्पना-ऐसे ही ये प्रत्ययके द्वारा तस्वीर बनायी हुई हैं। सब-के-सब आकार, सब-के-सब नाम और सब-के-सब रूप-इन भिन्न-भिन्न प्रत्ययोंका जो एक साक्षी है वह कौन है कि–प्रतिबोधविदित है-'प्रतिबोधविदितं मतम्'।

प्रत्यय शब्दका अर्थ फिरसे समझ लेना-यह बाहर जो तस्वीर दिखती

है, कैमरेमें जो उसका दिल लगा होता है न-अरे, दिल कहो फिल्म कहो-एक ही बात है। वह बाहरसे जो परछाईं पड़ती है उसको पकड़ लेता है, तो बाहर जो घट-पट-मठ आदि हैं, स्त्री-पुरुष आदि हैं-आँखके रास्ते इसकी परछाईं पड़ती है दिलमें और उस परछाईंको पकड़न वालेका जो ज्ञान है, जो वृत्ति है उसको प्रत्यय बोलते हैं–प्रत्यय-'प्रतीपं अयते'–'प्रत्ययनं प्रत्ययः–'प्रतीपम् अयनम् प्रत्ययः'–किसी भी वस्तुका बाहरसे भीतर आ जाना, बाहरकी वस्तुका भीतर दिखने लगना–इसका नाम प्रत्यय है-घट-प्रत्यय, मठ-प्रत्यय, स्त्री-प्रत्यय, पुरुष-प्रत्यय–'अयनं ज्ञानं'–यह 'य' धातु जो है यह ज्ञानार्थक है, अध्ययनमें जो अयन है प्रत्ययनमें भी वहीं अयन है, उपसर्गका फर्क है उसमें अधि है इसमें प्रति है। अच्छाजी, तो ये अलग-अलग चीजें आती रहती हैं-कभी कोई, कभी कोई, कभी एक मील आया तो कभी दस मीलकी कल्पना हुई, कभी हजार मीलकी कल्पना हुई; कभी एक मिनट आया, कभी घण्टे भरकी कल्पना हुई, कभी दिन-रात आ गया; कभी एक स्त्री-पुरुषकी कल्पना हुई और कभी हजारों की भीड़ मालूम पड़ गयी और कभी सब छूट गये-जाग्रत् प्रत्यय, स्वप्न प्रत्यय और सुषुप्ति प्रत्यय-यह सब प्रत्यय हैं।

अब यह बताओ कि इन प्रत्ययोंको जानता कौन है? तो कोई कहते हैं कि प्रत्ययको प्रत्यय ही जानते हैं माने वृत्तिको वृत्ति ही जानती है। इस सब बातोंपर शास्त्रार्थ बहुत हैं-अच्छा, तो वृत्तिको वही वृत्ति जानती है यह बात मानी जाये तो सवाल है कि उस वृत्तिको वही वृत्ति जानती है या कोई दूसरी वृत्ति जानती है? यदि कहो कि वृत्तिको वही वृत्ति जानती है तो अपने आपमें वृत्तिके दो खण्ड हो गये-एक जनाना-वृत्ति, एक मर्दाना-वृत्ति; एक मालूम करानेवाली वृत्ति और एक मालूम होनेवाली वृत्ति, दो वृत्ति। अब देखो, जब एक वृत्तिके दो-खण्ड हो गये तब सवाल उठा कि कालमें खण्ड हुए, कि देशमें खण्ड हुए, कि वस्तुमें खण्ड हुए? माने वस्तुको वही वृत्ति नहीं जान सकती। तो कहो कि दूसरी वृत्ति पहली वृत्तिको जानती है; तो पहली वृत्ति तो चली गयी, उसको यह बादवाली वृत्ति कैसे जानती है? 'पिताको जनम कि जाने पूत?' पहली वृत्ति तो पैदा हुई और मर गयी, दूसरी वृत्ति पैदा हुई है

और यह भी मरेगी; तो यह मरी हुई वृत्तिको कैसे जानेगी? मतलब यह है कि कोई चीज ऐसी है जो दोनों वृत्तियोंमें एक रहती है, तीनों वृत्तियोंमें एक रहती है, वही सब वृत्तियोंको तत्काल जानती है। जाग्रत आया गया, स्वप्न आया गया, सुषुप्ति आयी गयी, स्त्री आयी गयी, पुरुष आया गया, रात आयी गयी, दिन आया गया, पूरब आया गया–जो पूरब है सो पश्चिम होता जाता है–पूरब चलते जाओ तो जो तुम्हारे पूरब है एक मिनटमें वह तुम्हारे पश्चिम हो जायेगा, चलते जाओ; पश्चिम चलते जाओ, तो जो एक मिनटमें पश्चिम है दूसरे मिनटमें पूरब हो जायेगा, तो ये सारे कुछ है नहीं-न पूरब है, न पश्चिम है-पूरब चलो तो पश्चिम होता जायेगा और पश्चिम चलो तो पूरब होता जायेगा, ऊपर चलो तो ऊपर नीचे होता जायेगा और नीचे जाओ तो नीचे ऊपर होता जायेगा--अरे भाई, इसमें कुछ तत्त्व नहीं है, कुछ स्थिरता नहीं है! स्थिर तत्त्व क्या है कि ये जो बदलती हुए चीजें हैं, बदलते हुए शरीर हैं उनमें जो एक अशरीरी है वह है--

अशरीरं शरीरेषु अन्वस्थेषु अवस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

(कठ. 1.2.22)

यह शरीर भी क्या बदल रहा है! पहले यह चाह थी कि मूँछ जल्दी निकल आये-हमारे पास कई बच्चे ऐसे आये जिन्होंने उस्तरा लेकरके अपनी मूँछपर फिराया ताकि मूँछ जल्दी निकल आये और जब निकल आयी तब रोज सफाचट करने लगे कि मूँछ रहे नहीं। फिर यह हुआ बाबा कि कोई सफेद बाल न आ जाये, लेकिन, इस बदलती हुई दुनियामें कुछ स्थिर रहा है? इनका कोई स्वरूप नहीं है, इनका कोई स्वभाव नहीं है, इनमें कोई आकृति नहीं है, इनमें कोई गुण नहीं है, इनमें कोई नाम नहीं है-आप किसी भी चीजकी आकृति, गुण, उसका नाम, उसका रूप, उसका स्वभाव स्थिर करके बतलाइये। तो, इसमें केवल अपना आपा स्थिर है—'प्रतिबोधविदितं मतम्'—बोले कि अच्छा इसका ब्रह्मत्व ज्ञात होवे, परन्तु, इसका अब्रह्मत्व भी तो सिद्ध नहीं होता! अब्रह्मत्व माने परिच्छिन्नत्व यह आप 'ब्रह्म' शब्दके चक्करमें नहीं पड़ना-ब्रह्म माने अपने बारेमें एक ऐसी चीज जिसको आप नहीं

जानते हैं, एक ऐसी बात बतायी जाती है जिसको अपने बारेमें आप अभी तक नहीं जानते थे, अब उसका नाम ब्रह्म रखकर हम बता रहे हैं। क्या बता रहे हैं? यही कि जो आप अपनेको देहसे, इन्द्रियसे; प्राणसे, मनसे, बुद्धिसे, जाग्रतसे, स्वप्नसे, सुषुप्तिसे, समाधिसे, सम्प्रज्ञातसे, असम्प्रज्ञातसे, मर्त्य-लोकसे, वैकुण्ठसे परिच्छिन्न समझते थे सो आप नहीं हैं; आप अपनेको जैसा जानते हैं वैसे नहीं हैं, जैसा मैं बताता हूँ वैसे हैं, और मुझे जैसा आप देखते हैं वैसा मैं नहीं हूँ, मैं अपनेको जैसा जानता हूँ वैसा हूँ। जैसा आप देखते हैं वैसा नहीं और जैसा मैं आपको देखता हूँ, व्यक्तिके रूपमें, वैसे आप नहीं हैं, जैसा बता रहा हूँ वैसे है आप। 'प्रतिबोधविदितं मतम्'।

हम बताना यह चाहते हैं कि आपमें परिच्छिन्नता नहीं है-परिच्छिन्नता माने टुकड़ा-आप देशके टुकड़ा नहीं हैं-एक इञ्चके नहीं हैं, आप वस्तुके टुकड़ा नहीं हैं-एक कण आप नहीं हैं, आप कालके टुकड़ा नहीं हैं-कोई सेकेण्ड-मिनट आप नहीं हैं; न आप देशके टुकड़े हैं, न कालके टुकड़े हैं, न वस्तुके टुकड़े हैं, न आप प्रति प्रकृति और प्राकृतके टुकड़े हैं, न आप मायाके टुकड़े हैं और न आप अज्ञानके टुकड़े हैं, न आप ईश्वरके टुकड़े हैं, न जीवके टुकड़े हैं; आप ऐसी वस्तु हैं कि आप तो टुकड़े हैं ही नहीं, आपके बाहर या भीतर कहीं कोई दूसरा टुकड़ा भी नहीं हैं! आपको ब्रह्म बतानेका अभिप्राय यही होता है—यह नहीं कि आप अपना नाम ब्रह्म रख लें और बोलें कि हम तो अब ब्रह्म हैं! हम राधा स्वामी दयालके यहाँ गये थे तो उन्होंने बताया कि ब्रह्म तो सिर्फ यहीं (अनाहत चक्रमें) रहता है, इसके ऊपर ब्रह्मकी गति नहीं है, बोले कि तुम ब्रह्म तक पहुँच गये जरूर; लेकिन ब्रह्म तो बस यही (हृदयस्थ अनाहत चक्रमें) रहता है। मैंने कहा कि आपने अपने बेटेका नाम ब्रह्म रखा होगा, हम उसकी नहीं बोलते हैं जो यहाँ फँसा हुआ रहता है।

विद्यासे जो वस्तु प्राप्त होती है उसको निरन्तर याद रखनेकी भी जरूरत नहीं होती है, जैसे यदि आप अपनेको मनुष्य जानते हैं, तो मैं मनुष्य हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं मनुष्य हूँ—यह रटनेकी जरूरत क्या आपको रहती है? कि अच्छा, अब हम प्रमाणसे सिद्ध करें कि आप मनुष्य हैं! अरे भाई, यदि

आप कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करें कि आप पशु हैं तो हमें यह प्रमाण देना पड़ेगा कि आप पशु नहीं हैं मनुष्य हैं; लेकिन यदि आपको कभी यह अज्ञान नहीं है कि मैं मनुष्य नहीं हूँ और यदि यह भ्रान्ति नहीं है कि मैं पशु हूँ तो न तो हमें आपको मनुष्यपनेका कोई प्रमाण देना जरूरी है और न आपको यह रटना पड़ेगा कि मैं मनुष्य हूँ। उसी प्रकार यदि आपको यह विद्या प्राप्त हो जाये कि आप देश, काल, वस्तु कल्पनाके प्रकाशक, देश, काल, वस्तु और परिच्छिन्न नहीं हैं, आप अपरिच्छिन्न ब्रह्म हैं। न तो आपको अपना ब्रह्मपना निरन्तर याद रखना पड़ेगा और न ब्रह्मत्वके लिए कोई प्रमाण ढूँढ़ना पड़ेगा। एक बात आप ध्यानमें रखना-ब्रह्मको हम नित्य तो बोलते हैं; परन्तु वह काल जैसा नित्य नहीं है; काल भी नित्य है और ब्रह्म भी नित्य है परन्तु दोनोंकी नित्यतामें फर्क है-जितनी देरमें काल है उतनी ही देरमें ब्रह्म नहीं होता-कालविशिष्ट, कालोपाधिक या कालावच्छिन्नको हम ब्रह्म नहीं बोलते-काल तो सीमित है; जितनी दूरमें देश है उतनी ही दूरमें ब्रह्म नहीं है-देशविशिष्ट, देशोपाधिक, देशावच्छिन्नको हम ब्रह्म नहीं बोलते; देश और काल जिसमें मिथ्या हैं उस अखण्डको ब्रह्म बोलते हैं। कालविशिष्ट, कालोपाधिक, कालावच्छिन्नको ब्रह्म नहीं बोलते-विशेषण रूपकाल, उपाधि-रूपकाल, अवच्छेक-रूपकालका जिसमें कोई अस्तित्व ही नहीं है उसको ब्रह्म बोलते हैं। केवल जितनी दूरमें जगत् है उतनी दूरमें जो चेतन है या जितनी देर जगत् है उतनी देर जो चेतन है उसको ब्रह्म नहीं बोलते–यह ऐसी ही विद्या है! ब्रह्म माने मैं, ब्रह्म माने आत्मा-यह जो तुम अपनेको देहमें फँसाये पड़े हो-घड़ा फूटता है, मिट्टी नहीं फूटती; घड़ा पैदा होता है और मरता है, मिट्टी नहीं पैदा होती नहीं मरती; तुम ब्रह्म हो, तुम्हारे अन्दर जन्म-मरण नहीं है; स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, आना-जाना तुम्हारे स्वरूपमें बिलकुल नहीं है, तुम्हारे स्वरूपमें समाधि-विक्षेपका भेद बिलकुल नहीं है सुषुप्ति और परमात्म-चिन्तन एक हैं–

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथा सुखम्॥

(अष्टावक्र.13.6)

यदि मैं सोता हूँ तो मेरी हानि नहीं है, प्रयत्न करूँ तो कोई सिद्धि नहीं है, न नाश है न उल्लास है, न ह्रास है न विकास है-इसलिए हानिलाभकी बुद्धियोंको त्याग करके मैं मौजसे रहता हूँ।

अच्छा! बोले कि अब जरा बताओ कि इतनी अक्ल लगा करके और गुरुके पास जाकरके ब्रह्म-विद्या प्राप्त करनेकी क्या जरूरत है? आजकल ब्रह्म-विद्या भी तो गली-गली डोलने लगी है न-पर ऐसे मिलती नहीं है–इस मैंको छोड़नेके लिए जो राजी होता है उसको ब्रह्म-विद्या मिलती है और जौ मैं-में विशेषता उत्पन्न करना चाहता है कि हम तो मैंके लिए ब्रह्मविद्या चाहते हैं–उनको ब्रह्मविद्या नहीं मिलती। यह जो प्रत्येक और सब प्रत्ययोंको, वृत्तियोंको जाननेवाला साक्षी है इसको जब तुम ब्रह्म जानोगे तब तुमको अमृतत्वकी प्राप्ति होगी–'प्रतिबोधविदितं मतं अमृतत्वं हि विन्दते।' परन्तु इसमें भी फरक पड़ जाता है। हम बहुत सारे लोगोंको जानते हैं कि वे आकर बोलते हैं कि हम साक्षीकी बात बोल रहे हैं, हमारा ब्रह्म बोल रहा है-ऐसे बोलते हैं। अब देखो, यह वाक्य-यह साक्षी ही ब्रह्म है न! साधारण बुद्धिसे इस वाक्यसे उनके मुँहसे सुननेपर भी काटनेकी जरूरत नहीं मालूम पड़ती, 'साक्षी ब्रह्म है' यह बात उपनिषद्में दूसरी रीतिसे बोली जाती है, ऐसे नहीं कि यह साक्षी ही ब्रह्म हैं। जैसे देखो, कोई कहे कि महाराज, यह ब्राह्मण ही विद्वान् है न? तो क्या दूसरे ब्राह्मण विद्वान् नहीं हैं? बोले कि यही ब्राह्मण तो विद्वान् है न महाराज? अरे, विद्वत्ताका तो चकनाचूर ही हो गया! इसी प्रकार जो कहता है कि यही साक्षी तो ब्रह्म है न? ऐसे लोग तो ब्रह्मपनेको चूर-चूर करते रहते हैं-यह ब्रह्मपनेका सत्यानाश है, यह ब्रह्मपनेका बोध नहीं है! बताया यों जाता है कि जैसे कोई स्त्री है तो सब यही समझते हैं कि जैसे और सब स्त्रियाँ हैं वैसी ही यह स्त्री है-उस स्त्रीको देखकरके यह बात मालूम नहीं पड़ी कि वह गायिका है कि फिल्म-अभिनेत्री है, कि प्रोफेसर है, कि योगिनी है! तो उस व्यक्तिको देख करके उसकी जो विशेषता मालूम नहीं पड़ी थी वह बतानेके लिए हमने वाक्यका प्रयोग किया कि ये श्रीमतीजी अुमक फिल्म-अभिनेत्री हैं-माने वह केवल श्रीमतीजी नहीं हैं-उनके बारेमें अज्ञात-ज्ञापन

किया-जो बात नहीं मालूम थी सो बतायी कि ये विदुषी हैं, डॉक्टर हैं, प्रोफेसर हैं, अभिनेत्री हैं, तो स्त्री देखकरके जैसे उनके डॉक्टर-प्रोफेसर होनेका पता नहीं चला था, और डॉक्टर आदिका पता देनेके लिए हमने उनको बताया कि यह श्रीमतीजी डॉक्टर हैं-उसी प्रकार यह जो अपनेको हम साक्षी अनुभव करते हैं-देहके साक्षी, इन्द्रियके साक्षी, प्राणके साक्षी, मनके साक्षी, बुद्धिके साक्षी, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके साक्षी, ये साक्षी-साक्षी करते हैं, ये साक्षी तो ऐसे हैं कि जैसे श्रीमतीजी हैं, परन्तु इनका जो ब्रह्मत्व है वह साक्षी होनेपर भी अज्ञात ही रह गया, डाक्टर गायिकाकी तरह। परिच्छिन्नताकी उपाधिसे जब अपनेको साक्षी जाना तो परिच्छिन्नताका निषेध होनेपर भी परिच्छेदनिषेधावच्छिन्नतया जिस साक्षीका ज्ञान हुआ– देहेन्द्रियादि निषेधावच्छिन्नतया जिस साक्षीका ज्ञान हुआ उस साक्षीमें परिच्छिन्नताका जो भ्रम है वह मिटा नहीं; उसको यह बतानेके लिए कि यह अविनाशी है, यह परिपूर्ण है, यह अद्वितीय है उसको ब्रह्म कहा जाता है, उसको ब्रह्म कहनेका मतलब होता है कि साक्षीके बारेमें जो अज्ञात शेष रह गया है उसका ज्ञापन करना, उसको बोधित कराना। साक्षी तो सभीका आत्मा है। चींटीकी आत्मा भी साक्षी है और मच्छरकी आत्मा भी साक्षी है, परन्तु, यह साक्षी सम्पूर्ण जगतका साक्षी है और जगतके अभावका साक्षी है और भावाभाव इसमें कल्पित हैं, भावाभाव इसमें है ही नहीं ऐसा यह ब्रह्म-साक्षी है इसके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति होती है। यह तुमने अपनेको साक्षी समझकर छोड़ दिया, अपनेको ब्रह्म नहीं जाना तो अभी तो वेदान्तका प्रारम्भ ही नहीं हुआ।

तो बोले कि अच्छा, हम अमृतत्व ब्रह्म ज्ञानसे नहीं और किसी उपायसे प्राप्त कर लेंगे। कि नहीं, अन्य किसी उपायसे अमृतत्व नहीं मिल सकता। उपनिषद्ने कहा-'अमृतत्वं विन्दते यस्मात् प्रतिबोधविदितात् मतात् अमृतत्वं विन्दते प्रतिबोधविदितं मतम्'-होनेसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। 'प्रतिबोधविदितं मतम्'—होनेसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। प्रतिबोधविदितं मतम्का प्रयोजन यही है कि यदि आप जान जाओ कि यह ब्रह्म मैं हूँ तो अमृतत्वकी प्राप्ति हो जायेगी। अपनेको साक्षी जानना वेदान्तका प्रतिपाद्य नहीं

है, साक्षीको ब्रह्म जानना वेदान्तका प्रतिपाद्य है; अपनेको साक्षी जानना यह योगका प्रतिपाद्य है; ईश्वरको साक्षी जानना यह भक्तिका प्रतिपाद्य है; अपनेको और ईश्वरको-दोनोंको कर्त्ता समझना यह धर्मका प्रतिपाद्य है, धर्मान्तमें कर्तृत्व अपनेमें है और फलान्तमें कर्तृत्व ईश्वरमें है; उपासनाके कर्तृत्वका आश्रयत्व अपनेमें है और उपासनाका विषयत्व ईश्वरमें है; और योगमें जीव और ईश्वर दोनों एकमें मिलकर बैठ गये, लेकिन, अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हुई और अज्ञानकी निवृत्ति हुए बिना अमृतत्वकी प्राप्ति नहीं होती-

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथाः विद्यतेऽयनाय।

केवल परमात्माके ज्ञानसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है-'तमेव विदित्वा अति मृत्युम् एति'-मृत्युम् अत्येति-मृत्युका अतिक्रमण करता है अर्थात् अमृतत्व प्राप्त करता है। आत्मा अजर है, आत्मा अमर है, आत्मा ब्रह्म है, आत्मा पूर्ण है–और यह रटनेकी बात नहीं है, और न तो यह उपासना-आवृत्ति करनेकी बात है और न तो यह समाधिमें जाकरके देखनेकी चीज है, क्योंकि वहाँ तो वृत्ति ही नहीं रहेगी देखोगे क्या? यह बिलकुल शुद्ध विद्या, शुद्ध ज्ञान है और नहीं तो बाबा, बारह वर्ष गोबर ही पाथनेका मन हो तो वैसा ही करो।

आपने सुना होगा कि एक जिज्ञासु किसी महात्माके पास गया तो उन्होंने झट बताया कि बाबा, तूँ तो ब्रह्म है 'तत्त्वमसि',। उसने कहा कि यह क्या बाबा, आपने जरा-सी बात बतायी, हम तो घर छोड़कर आये, पुत्र छोड़कर आये, अपना धन छोड़कर आये और आपने टप-से जरा-सी बात कह दी कि तूँ तो ब्रह्म है, हमको और कुछ बताइये। तो, महात्मा बोले कि अभी नहीं बतावेंगे, जाओ गोशालामें गोबर पाथो गायका गोबर उठाकरके उपले बनाओ। बारह वर्ष बाद फिर आया। फिर बोले-'तत्त्वमसि।' बोला-महाराज, बारह वर्ष बाद भी इतनी-सी बात? अभी हमको सन्तोष नहीं हुआ। महात्मा बोले-अच्छा जा किसी दूसरेके पास जा। तो गया दूसरेके पास। उसने भी कहा बारह वर्ष गोबर पाथो। बारह वर्ष गोबर पाथनेके बाद उसने भी यही कहा—तूँ ही ब्रह्म है। बोला—हे भगवान्, जो चीज हमको पहले दिन बिना किसी मेहनतके बता दी गयी थी चौबींस वर्ष गोबर पाथनेके बाद भी वही। कि

अरे बाबा, जो समझनेकी कोशिश नहीं करेगा, तो उसका यही करना पड़ेगा; जब समझेगा नहीं, अपनेको देह ही मानेगा, जिद्द ही करेगा तो यही करना पड़ेगा। कई लोग जिद्द करके बैठ जाते हैं-जिद्दका नाम वेदान्त नहीं है, जिद्द तो मूर्खोंकी चीज है-जिद्दी होना या तो मूर्खोंको शोभा देता है या तो नेताओंको शोभा देता है-क्यों? कि हमारे मुँहसे जो बात निकल गयी है उसपर अड़ जाना चाहिए चाहे गलत हो चाहे सही हो, हम लौटनेवाले नहीं हैं। जिद्दी आदमी नेता जल्दी बनता है क्योंकि बहुतसे मूर्ख उसके पीछे-पीछे चलने लगते हैं–'बुद्धेःफलं अनाग्रहः'–जिद्द करके मत बैठो कि हम तो देह ही हैं, हम तो इन्द्रिय ही हैं, हम तो प्राण ही हैं, हम तो शरीर ही हैं; ऐसे ही मैं ब्रह्म हूँ–यह जिद्द भी मत करो, समझकरके पकड़ो। ग्रन्थियाँ जो परिच्छिन्नके साथ पड़ गयी हैं–यद्यपि सब-की-सब झूठी हैं *'जदपि मृषा छूटत कठिनई'* लेकिन अब इनको समझकर खोलनेकी जरूरत है।

देखो, यह मृत होना माने तीन बात हैं-एक तो समझो रूपान्तर हो गया-इसका नाम मृत्यु है, जैसे शैशव मर गया, यौवन आया, यौवन मर गया, बुढ़ापा आया और बुढ़ापा मर गया, शवत्व आया और शवत्व मर गया तो पंचभूतत्व आ गया–शवमें भी आकृति तो होती है न; वह छूट गया तो पंचभूतत्व आ गया–इसीका नाम मरना है–यह आकृतिका बदलना ही मरना है-एक। कि अभी यह बात जरा हल्की रह गयी! कि अच्छा, यहाँसे ऊपरकी ओर स्वर्गमें जाना, नीचेकी ओर नरकमें जाना-वह दक्षिणकी ओर धरती और आकाशकी सन्धिमें एक नरक है–आपको मालूम है कि नहीं? और एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जाना–इसीका नाम मृत्यु है-दो। बोले-यह भी नहीं। मृत्यु यह नहीं है! देखो, हमने मृत्युके बारेमें ज्यादा खोज की है; क्योंकि हमको पहले मृत्युका बहुत डर लगा था, तो हमने कहा कि भय-निवृत्तिका उपाय यही है--'भयं तत्त्वविमर्शनात्'-जिस चीजसे डर मालूम पड़े उससे भागो मत, उसके साथ भिड़ जाओ, उसकी सच्चाईको जान लो-वह भूत सच्चा है कि झूठा है इसका पता लगाओ तो भय मिट जायेगा। भय रूपी रोगकी औषधि क्या है? सच्चाईका पता लगाना। एक आदमी हमको जँचाने लगा कि भूत है–बचपनकी बात है, हम अपने दरवाजेपर बैठते थे तो हमसे कहता-भैया

जी, हमको भूत सिद्ध है (हमको भैयाजी बोलते थे-हमारे गाँवमें भैया बड़े आदरका शब्द है-गाँवके जो लोग थे वे हमारा नाम नहीं लेते थे, भैयाजी बोलते थे और दूसरे गाँवके लोग बाबाजी बोलते थे और जब 'चक्रजी' आकर हमारे यहाँ रहने लगे तब लोग भैयाजी उनको कहने लगे-तो एक दिन उसने मुझसे कहा कि आज हम भूत जगायेंगे, तुमको भूत दिखेगा। हम दरवाजेपर बैठ गये। रातका समय था और हमारे दरवाजेसे थोड़ी दूरपर एक पेड़ था--थोड़ी ही देरमें मैंने देखा कि आगकी हजारों चिन्गारियाँ एक साथ पेड़परसे बरस पड़ी, पाँच मिनट बाद फिर बरसीं और फिर पाँच मिनट बाद बरसीं! वह बोला–देखो भैयाजी, यह भूत है। तो हमारी उम्र बहुत छोटी थी, हम सचमुच डर गये कि यह पेड़ परसे बारम्बार चिन्गारियोंकी वर्षा कैसे हो रही है? इतनेमें हमारे चाचा आगये, वे बड़े-बूढ़े वृद्ध थे, उन्होंने उसको डाँटा-बच्चेको डराते हो? उसने क्या किया था कि यह जो बन्दूकमें बारूद भरते हैं उसकी कपड़ेमें दस-बीस गाँठे बनाकर पेड़पर लटका दीं और नीचेसे कपड़ेमें आग लगा दी, तो जब वह जलता हुआ कपड़ा गाँठके पास पहुँचता तो फकसे उसमें-से आग निकल आती, फिर दूसरी गाँठ तक आग पहुँचती तो फिर उससे आग निकल आती–ऐसे ही होता था। अब हमको पता लग गया, हमारे चाचाने हमको बता दिया कि यह बारूद है, यह भूत-ऊत नहीं है। तो दुनियामें जहाँ आपको भी डर लगे उसकी असलियतको आप समझें-खोज करें। मुझको मृत्युसे डर लगता था तो मैं मृत्युकी खोज करता था कि कहाँ है मृत्यु? देखो, नचिकेता मौतके दरवाजेपर पहुँच गया और उसको तत्त्वज्ञान हो गया-मृत्यु नामकी कोई वस्तु नहीं है–मृत्यु होती नहीं हैं। जब इस नाक, कान, आँख, मुँहवाले शरीरको हम मैं मानते हैं तब मौतका डर लगता है, यह शरीरको मैं मानना ही मृत्युका डर है! बोले कि देखो भाई, एक कालसे दूसरे कालमें जानेका नाम मौत नहीं है, एक देशसे दूसरे देशमें जानेका नाम भी मौत नहीं है, एक रूपसे दूसरा रूप बननेका नाम भी मौत नहीं है, मौतमें भी दुःख नहीं है–आप लोग जो पुराणोंमें सुनते हैं उसका अभिप्राय बादमें समझना, पुराणोंमें लिखा है कि सौ बिच्छू एक साथ डंक मारें तो जितनी तकलीफ होती है उतनी तकलीफ मृत्युके समय होती है। मैंने मौत देखी है,

मैंने मृत्युका दर्शन किया है भला-तकलीफ उन लोगोंको होती है जो देहात्म-बुद्धिके पक्के दास हैं–उनको डर लगता है कि हमारी कमाई छूट जायेगी, हमारे पति-पुत्र छूट जायेंगे, हमारी पत्नी, हमारी बेटी छूट जायेगी, हमारा मकान छूट जायेगा, हमारा बनाया हुआ सब छूट जायेगा-न जाने क्या होगा, न जाने किस अन्धकारमें जायेंगे–इस कल्पनासे दुःख होता है, असलमें दुःख कल्पनासे ही होता है, और जो मौतसे हाथ मिलानेको तैयार है उसको मौतसे कोई दुःख नहीं होता। खुदीराम बोसका एक साथी था जिसको फाँसीकी सजा हुई थी और फाँसीकी सजा होनेके बाद उसका वजन बढ़ गया। लोगोंने पूछा क्यों भाई, तुम्हारा वजन कैसे बढ़ा? बोला–अच्छा हुआ कि फाँसीकी सजा हुई–हम मरेंगे और जल्दीसे देशमें पैदा होकरके जवान होंगे और फिर अंग्रेजोंको देशसे बाहर निकालेंगे–उसके मनमें उत्साह था मौतसे क्यों डरना। तो मृत्यु असलमें है क्या? केवल विस्मति ही मृत्यु है, सुषुप्तिमें जैसी मृत्यु होती है, सुषुप्तिमें जैसे हम दुनियाको भूल जाते हैं ऐसे दुनियाको ऐसा भूल जाना कि फिर याद न आवे–इसका नाम मौत है और नयी स्मृतिका पैदा हो जाना–जैसे सपना आ जाता है ऐसे नयी स्मृतिमें डूब जाना-इसका नाम जन्म है; असलमें आत्माका न जन्म है न मृत्यु-अपने स्वरूपको आप जानिये, उसमें न जन्म है न मृत्यु है–'अमृतत्वं हि विन्दते'–आप स्वयं अमृत हैं, स्वयं रस हैं! न कालमें आपकी मृत्यु है, क्योंकि आप बदलते नहीं हैं और न देशमें आपकी मृत्यु है क्योंकि कहीं जाना नहीं पड़ता है और स्वयं आप न कोई आकृतिवाले तत्त्व हैं कि आकृति बदल जाय–यह आकृतिवाला तत्त्व, शरीर, आप नहीं है; आपको जवानीसे बुढ़ापेमें नहीं जाना हैं; जिन्दासे मुर्दा नहीं होना है और आपको नरक-स्वर्गमें नहीं जाना है, आपको जन्म-पुनर्जन्ममें नहीं जाना है! आप ये जितने बोध होते हैं, जितने प्रत्यय होते हैं इनके साक्षी ब्रह्म हैं, इस ज्ञानसे आपको अमृतत्वकी प्राप्त होगी। धर्मसे, उपासनासे, योगसे इस ज्ञानको समझनेकी योग्यता मिलती है परन्तु, अमृतत्व तो विद्यासे प्राप्त होता है विद्यासे–

प्रतिबोधविदितं मतं अमृतत्वं हि विन्दते।

●

प्रवचन : 12.3

स्वयंसे ही सामर्थ्य आता है : 'आत्मना विन्दते वीर्यम्'

सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्ति स्वरूपमात्रः।

आत्मा कैसा है कि वह देखा जानेवाला नहीं है; जैसे कोई चीज संडासीसे पकड़ ली जाय या चमचेमें उठा ली जाय या हाथमें उठा ली जाय ऐसी कोई चीज आत्मा नहीं है! आत्मा कौन है कि जो सबको प्रकाश रहा है, प्रकाशते सविताः-जैसे सूर्य प्रकाश रहा है वैसे ही देह इन्द्रिय-प्राण-मन-बुद्धि-जाग्रत्-स्वप्न, सुषुप्ति सबको प्रकाशित करनेवाला विज्ञान मात्र, सब प्रत्ययोंको देखनेवाला अपना आत्मा साक्षी है, वही ब्रह्म है। वही ब्रह्म है का मतलब बस उतना ही ब्रह्म है ऐसा नहीं समझना, वह देहमें होनेपर भी देहसे घिरा हुआ नहीं है, इन्द्रियोंमें होनेपर भी इन्द्रियोंसे घिरा हुआ नहीं है, प्राण-मन और बुद्धिमें होनेपर भी उनसे घिरा हुआ नहीं है पञ्चभूतोंमें होनेपर भी उनसे घिरा हुआ नहीं है और अहंकार-महतत्त्व-प्रकृतिमें होनेपर भी उनसे घिरा हुआ नहीं है और ईश्वरत्व-जीवत्वमें होनेपर भी वह ईश्वरत्व और जीवत्वसे घिरा हुआ नहीं है; और घिरा हुआ प्रदेश, घिरा हुआ काल और घिरा हुआ बीज-रूप-ये सब उसमें कल्पित हैं। ईश्वर तो वहीं तक अपना ऐश्वर्य दिखावेगा जहाँतक जीव और जगत् होगा—अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका जो बीज हैं-जिसमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड पैदा हुए, रह रहे हैं और मिट जायेंगे-उतने ही अंशमें ईश्वरका ऐश्वर्य काम करता है और उसके बाहर-जिस प्रदेशमें प्रपञ्च नहीं है और प्रपञ्चकी कल्पना नहीं है; जिस अविनाशीमें प्रपञ्च नहीं है प्रपञ्चकी कल्पना नहीं है; जिस सत्तामें प्रपञ्च नहीं है प्रपञ्चकी कल्पना नहीं है; जिस ज्ञान स्वरूपमें ज्ञाता नहीं है ज्ञेय नहीं है, जिसमें भोक्ता नहीं है भोग्य नहीं है; जिसमें समष्टि नहीं है व्यष्टि नहीं है; जिसमें 'नहीं' ही नहीं है-ऐसा जो अखण्ड ब्रह्म-तत्त्व है यह आत्मा वही अखण्ड-ब्रह्म-तत्त्व है—'प्रतिबोधविदितं मतम्'—यह सर्वप्रत्ययदर्शी जो चिन्मात्र है यही अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय भेद-गन्धसे रहित परब्रह्म परमात्मा है; यदि इस रूपमें कोई ब्रह्मको जान ले तो कहेंगे आ हा हा—'अमृतत्वं हि विन्दते'—अब मृत्युका प्रश्न कहाँ है, उसका तो अब अतिक्रमण हो गया!

अब आपको वैदिक-धर्मका एक सार रहस्य जो है, वह सुनाते हैं-सब कुछ बात शान्तिकी ही नहीं है, विश्राम करना हो तो दवा खाकर भी विश्राम कर सकते हैं समाधि लगाकर भी शान्ति कर सकते हैं-असलमें शान्तिमें सब कुछ नहीं है; तब बोले कि ईश्वरसे तादात्म्यापन्न हो करके रहना ही सब कुछ है, कि नहीं यह भी वेदान्त सिद्धान्त नहीं है; जीव जगत्की सेवामें ही लगा रहे यह भी वेदान्तका सिद्धान्त नहीं है; जीव अपने स्वरूपमें ही बैठा रहे यह भी वेदान्त-सिद्धान्त नहीं है और जीव ईश्वर-स्वरूपमें बैठे यह भी वेदान्त-सिद्धान्त नहीं है; जीव समाधिमें बैठे यह भी वेदान्त-सिद्धान्त नहीं है कि जीव लोक-लोकान्तरमें जाये कि यह भी वेदान्त-सिद्धान्त नहीं है; तत्त्वकी दृष्टिसे-सर्वथा निश्चिन्त कर देनेवाला यह वेदान्त-सिद्धान्त है। निश्चिन्त माने कि न तो इसमें क्रिया करनेकी अपेक्षा है-अनिवार्यता नहीं है–करे तो करे, न करे तो न करे; न इसमें आवृत्ति करनेकी अनिवार्यता है, न इसमें समाधिमें बैठनेकी अनिवार्यता है; सारा भार जो है झोंक दिया भाड़में!

अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहीम' छिपकर भड़भूँजेके यहाँ भाड़ झोंक रहे थे, अपनी नवाबी छोड़ दी थी और मजदूरके वेषमें एक भड़भूँजेके पास भाड़ झोंकनेका काम कर रहे थे। गोस्वामीजीने पूछा–

सो कस झोंकते भाड़ जाके सिरपर भार सब।

जिसके सिरपर नवाबीका भार है वह भड़भूँजेके घरमें बैठकर भाड़ झोंक रहा है? रहीमजी बोल पड़े–

रहिमन उतर्यो पार झोंकि भाड़में भार सब ॥

रहीम इस भाड़में अपने सिरका सारा भार झोंकके पार उतर गया! सिरका भार उतार देना–वाह–

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः ।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम् ॥ (अष्टा. 18.3)

यह कर्त्तव्य है, यह कर्त्तव्य है, यह कर्त्तव्य है–ऐसा करो, यह चीज इकट्ठी करो, यह चीज इकट्ठी करो, यह काम करो, ऐसा मन बनाओ, ऐसी जगहपर बैठो–यह जो कर्त्तव्यका भार है इसीके दुःखसे तो मनुष्यका कलेजा जल रहा है। मगर इस बोधवान्ने तो कर्त्तापनको ही फूँक दिया, आग लगा

दी कर्त्तापनमें, राख हो गया कर्त्तापन-जहाँ कर्त्तापन नहीं है वहाँ कर्त्तव्य कैसे प्राप्त होगा? पहले जब बचपनमें हम सत्सङ्ग करते थे और कोई बात समझमें आती थी तो उस समय कोई ढाई सौके लगभग सूत्र मैंने लिखे थे–उनका नाम ही विज्ञान-सूत्र रखा था।

तो उसमें एक सूत्र था–

अचिन्तनम् चिन्तनम्-

कोई चिन्तन न करना ही वेदान्तका चिन्तन है। न करनेमें क्या कर्तृत्व नहीं है? बाँधके हाथ और पाँव सीधे होकर बैठ गये और बोले कि हम अब कुछ नहीं करते है। कि तुम कुछ क्यों नहीं करते? पाँव बाँधा तुमने, हाथ बाँधा तुमने, शरीर सीधा किया तुमने, आँख चढ़ायी तुमने-कुछ क्यों नहीं करते? कर्तृत्व भ्रान्तिसे होता है और जब तक भ्रान्ति नहीं मिटता। बेवकूफी मिटना जरूरी है।

अच्छा भाई, हिन्दू-धर्मका, वैदिका धर्मका, वेदान्त-धर्मका सार निकम्मापन नहीं है–यह बात हम इस प्रसंगमें आपको क्यों कह रहे हैं कि श्रुति कह रही है–

आत्मना विन्दते वीर्यम् विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।

अभी इस श्रुतिका भाष्य मत देखो, अभी श्रुतिका अर्थ सुनो-भाष्यमें जो है वह तो फैसला है, वह तो निर्णय है उसके आगे तो कुछ है ही नहीं। यहाँ विभाग करके बताते हैं कि प्रयत्नसे क्या मिलता है और ज्ञानसे क्या मिलता है। अच्छाजी 'प्रतिबोधविदितं मतम्'में तुम बताते हो-ब्रह्म कैसा है? कि अरे ब्रह्म वही है जो अन्तःकरणमें उठनेवाली सम्पूर्ण वृत्तियोंको, प्रत्ययोंको जो देख रहा है; प्रत्ययोंके पृथक्-पृथक् होनेपर भी जो स्वयं एक है, अद्वितीय है; देश-काल-वस्तुकी वृत्तियाँ उठ रही हैं वह सबसे न्यारा है। अपनेको तुम ऐसा जान जाओ कि 'देश-काल-वस्तुसे अछूता मैं हूँ मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं है, न मेरा कोई दुश्मन है, न मेरा कोई दोस्त है और न मुझमें जन्म-मरण है–परिवर्तन है–माने मै चेतन हूँ तो दूसरा कोई जड़ पदार्थ देश-काल-द्रव्य नहीं है और दूसरा कोई जीव-ईश्वर-चेतन नहीं है। मैं बदलता हुआ नहीं हूँ, मैं अपनेमें ही बदलता हुआ क्षणिक विज्ञान रूप भी नहीं हूँ, अखण्ड हूँ। कि

बहुत-बढ़िया। अब अमृतत्वकी प्राप्ति हो गयी, न तुम जन्मोगे न मरोगे, असलमें तुम अमृत पहलेसे ही थे।

वेदान्तकी बात सुनते-सुनते लोग बुड्ढे हो जाते हैं। बात तो है एक सेकेण्डकी-एक सेकेण्डसे ज्यादाकी यह है ही नहीं, सिर्फ एक बार सुननेकी है, पर इसको समझने और पकड़नेका सामर्थ्य जो है वह लोगोंमें नहीं होता है। सामर्थ्यकी कमी क्या है यह भी आपको बता देते हैं कि यह जो मनमें भोग-वासना है, इसीके कारण असामर्थ्य है। असलमें तीन इच्छा बाधक है–

1. जीते रहनेकी इच्छा-जिजीविषा बोलते हैं इसको!
2. भोगनेकी इच्छा-बुभुत्सा; और
3. जाननेकी इच्छा-जिज्ञासा।

कस्यापि तात धन्यास्य लोकचेष्टावलोकनात्।
जीवितुमिच्छा बुभुत्सा च ज्ञातुमिच्छा यतो गताः॥

दुनियामें ऐसे पुरुष-स्त्री, ऐसा जीवात्मा धन्य है जो दुनियाके रहस्यको समझ कर संसारके रहस्यको समझ जाये और उसके मनमें जीनेकी वासना नहीं रहे। यह नहीं कि जीनेकी न रहे तो मरनेकी हो जाये–वह तो और डबल बेवकूफी हो गयी कि अब तो जीनेकी इच्छा नहीं रही तो आवो मर जायें-अभिप्राय यह है कि सहज भावसे जिसकी जीने मरनेकी वासना मिट गयी। दूसरी इनमें क्या बात नहीं रही कि बुभुत्सा-भोगकी वासना नहीं रही। तो बोले कि अच्छा भोगकी वासना तो छूट गयी अब अभोगकी वासना रखेंगे कि अब हम कुछ खायेंगे-पियेंगे नहीं, त्याग कर देंगे। बोले कि बेवकूफ हैं-खाना-पीना दूसरी चीज है और खाने-पीने-जीनेकी वासना दूसरी चीज है। तो, हमको दूसरी चीजसे मजा मिलेगा, यह ज्ञान और उस चीजको पानेकी इच्छा-यह वासना और दूसरे देशमें मिलेगा और दूसरे कालमें मिलेगा यह पराधीनता नहीं रही। हमको मजा यहाँ नहीं मिलेगाजी, जब पैरिस, स्विटजरलैण्डमें जायेंगे तब मिलेगा या कि स्वर्गमें जायेंगे तब मिलेगा-यह भी। यह लैण्ड शब्द संस्कृत-भाषामें दो तरहसे बनता है-एक तो यह जो पशुओंकी विष्ठा होती है उसके लिए बनता है–लेण्ड शब्द ही है संस्कृतका, और एक लडि विलासे धातुसे बनता है–उसका अर्थ होता है भोग-विलास-यह शब्द दोनों तरहसे

संस्कृत भाषामें बनता है। तो जब हम पेरिस जायेंगे तभी हमको सुख मिलेगा या स्विटजरलैण्ड जायेंगे तभी सुख मिलेगा या कश्मीर जायेंगे या बम्बई जायेंगे तभी सुख मिलेगा या स्वर्ग-वैकुण्ठ आदिमें जायेंगे तभी सुख मिलेगा-अपने सुखको उठाकर किसी खास जगहपर फेंक देना यह बेवकूफी है।

तो अब देखो भोग-वासना हुई कि वहाँ जायेंगे तो भोग मिलेगा, यहाँ तो वह है ही नहीं, तब यहाँ तो मर गये न! हीन-भावना आ गयी! अरे अभी नहीं मिलेगा, जब जवान होंगे तब सुख मिलेगा, बुड्ढे होंगे तब सुख मिलेगा। फिर बोले कि नहीं, जब समाधिमें जायेंगे तब सुख होगा। अपने सुखको काल-विशेषके लिए फेंक देना-यह अपनेको दुःखी बनाना है; यह ऐसा ही है कि हमको जब पावडर-लिपस्टिक मिलेगा तब हम सुखी होंगे और जबतक नहीं मिलता तबतक हम बड़े दुःखी हैं-माने अपनेमें हीन-भावनाका उदय हो जाता है। और नारायण, अमुक वस्तु मिलेगी तब हम सुखी होंगे, तो यह सब भोग-वासना है-जीने-मरनेकी इच्छा दुःख है, भोग और परहेजकी इच्छा दुःख है और यह जानें, यह जानें, यह जानें, दुनियामें भटकते रहना और उनकी बहू कैसी और उनकी बेटी कैसी-खण्ड-खण्ड वस्तुओंके बारेमें जानकारी प्राप्त करनेकी इच्छा-यह मौत है।

बोले कि इस मौतसे बचें कैसे? इसका सामर्थ्य चाहिए; यह वासना जो है ना वह ज्ञानमें बाधक है-ऐसा नहीं ऐसा चाहिए, ऐसा नहीं वैसा चाहिए-अरे, शरीरपर कपड़ा है ठंड नहीं लग रही है, फिर भी रो रहे हैं। बोले-क्यों? कि हमारे पास पच्चीस रुपयेवाला कम्बल है, पाँच सौ रुपयेवाला नहीं है इसलिए रो रहे हैं। तो यह कम्बल दुःख दे रहा है कि तुम्हारा मन दुःख दे रहा है? यह कम्बल दुःख नहीं दे रहा है, मन दुःख दे रहा है। कि हमारे पास पहले दस-दस हजार, बीस-बीस हजारके कालीन होते थे और आज पाँच रुपयेकी चटाई है, तो तुमको कालीन दुःख नहीं दे रहा है तुमको तुम्हारा मन दुःख दे रहा है-यह पीछेकी बात सोचकर, आगेकी बात सोचकर, यहाँकी सोचकर, वहाँकी बात सोचकर, इसकी बात सोचकर, उसकी बात सोचकर हम दुःख ही तो मोले लेते हैं भाई : दुःखके सिवाय इसमें और क्या मिलता है? तो अपने आपको दुःखी करनेका तरीका है अपने दिलमें वासनाओंको पालना-वासनाके

सिवाय और कोई दुःख नहीं देता है। और जब किसी चीजकी वासना हो जाती है तो यथार्थका ज्ञान नहीं होता है, वह असलियत परदा डाल देती है–जिससे प्यार हो गया उसीमें मजा आवेगा, बाकी सब बेमजा। यह वासना एक जगह तो सुख देगी और निन्यानबे जगह दुःख देगी-आप इस वासना पिशाची, वासना डाकिनीका स्वरूप समझ लो–यदि आपको पहले सौ जगह सुख मिल रहा था तो वासना हो जानेपर एक जगह सुख मिलेगा और निन्यानबे जगह दुःख मिलेगा–एकसे मीठा बोलेंगे और निन्यानबेसे कडुआ बोलेंगे-एकको देवता समझेंगे, निन्यानबेको दैत्य समझेंगे, दानव समझेंगे-बिगड़ गया ना, अपनी जिन्दगी नष्ट हो गयी-वासनाने अपना जीवन बिगाड़ दिया, नष्ट कर दिया–सबसे हँसते थे, सबसे बोलते थे, सबसे समानताका बर्ताव करते थे; अपनाके चक्करमें पड़कर सब छूट गया, अब लो निन्यानबे जगह जो सुख था वह छूट गया, भोगो अब एक जगहके सुखके लिए! तो, सब देशमें सुख था, सब कालमें सुख था, सब व्यक्तिसे सुख था, अपने हृदयमें सुख था-उसको निकाल करके वासनाके वशवर्ती होकर बाहर फेंक दिया और यथार्थके ज्ञानसे वंचित हो गये, क्योंकि यहाँ न माननेपर ही वहाँ गये, अब न माननेपर ही वासनाको तब फेंका और यह न माननेपर ही वहको चाहते हैं! इस वासनाने तुमको क्या बनाया? इसने तुमको कंगाल बनाकर छोड़ दिया, क्योंकि अब जो तुम हो, यहाँ जो तुम हो, यह जो तुम हो-तुम्हारे अन्दर तो कुछ है ही नहीं, उसी-उसीके चक्करमें फँस गये। तो नारायण, सारे दुःखकी जड़ वासना है और इस जड़को मिटानेके लिए सारे साधन हैं। हे भगवान्-वहाँ जाना रोकनेके लिए उपासना है–यहीं देखो ना, वहाँ क्यों जाते हो, इसका नाम भक्ति हो गया। तब देखनेकी बजाय अभी देख लो ना-यह वृत्तिका निरोध हो गया–योग हो गया। और इधर-उधर भागते-फिरनेकी जगह एक जगह बँध जाओ ना–यह धर्म हो गया-ये सब साधन हुए। और यदि अपने आपको जान लो तो फिर तो पूछना ही क्या, फिर तो कुछ करना ही न पड़े। हाथ-कंगनको आरसी क्या? जिसके हाथमें कंगन है उसको शीशेमें देखनेकी थोड़े ही जरूरत है।

तो हिन्दू-धर्मका, वैदिक-धर्मका तात्पर्य यह है कि 'आत्मना विन्दते वीर्यम्'-'आत्मना प्रयत्नेन वीर्यं विन्दते लभते'-प्रयत्न-पूर्वक अपने अन्दर

शक्ति उत्पन्न करो, यदि तुम्हें शक्ति चाहिए तो प्रयास करो! धनके लिए प्रयास करते हो, कितने घण्टे धन-कमानेमें खर्च होता है! भोग पानेके लिए प्रयास करते हो, कल-कारखाना चलानेके लिए प्रयास करते हो और अपने आपको जाननेके लिए, जिसको जान लेनेसे सारे दुःख मिट जायें, सारी वासनाएँ क्षीण हो जायें, परमानन्दकी प्राप्ति हो जाये-उसके लिए प्रयास नहीं करते हो?

'आत्मना-विन्दते वीर्यम्'–बोले, महाराज कि हमने तो सब ईश्वरपर छोड़ दिया। बोले–ठीक है इससे बढ़िया और कोई बात नहीं हो सकती! देखो हम आपको ईमानदारीकी बात बताते हैं, लेकिन क्या आपने सचमुच ईमानदारीसे सब कुछ ईश्वरपर छोड़ दिया? यह तो बड़ा भारी पौरुष है, बड़ा भारी प्रयत्न है–ईश्वरके विश्वासको अपने हृदयमें टिकाये रखना, ईश्वरपर सब छोड़ करके रखना–यह टें-टें, मे-मे करनेवालोंका काम नहीं है, यह तो बड़ा भारी वीर्य है, बड़ा भारी पराक्रम है कि मनुष्यका हृदय ईश्वरके विश्वासपर टिक जाये और ईश्वरपर सब छोड़ दे। अच्छा, भूख जब लगती है तब भोजन ईश्वर दे देगा इसपर आप छोड़ देते हैं? क्योंजी, हर महीनेके अन्तमें ईश्वर ही तन्ख्वाह भेज दिया करेगा आप काम मत किया करें, काम छोड़ देते हैं क्या? कि नहीं महाराज, तन्ख्वाहके बगैर तो कैसे चलेगा? कि बहुत बढ़िया! कि अच्छा थालीमें रोटी रखी है तो क्या ईश्वरपर छोड़ देते हैं कि वह मुँहमें डाल देगा? अपने हाथसे उठाकर खाते हैं! खेती ईश्वरपर नहीं छोड़ते हैं, नौकरी ईश्वरपर नहीं छोड़ते हैं, दुकान ईश्वरपर नहीं छोड़ते हैं, मकान ईश्वरपर नहीं छोड़ते हैं, रोटी ईश्वरपर नहीं छोड़ते हैं और बोलते हैं कि हमने सब कुछ ईश्वरपर छोड़ दिया है। बोले–सब कुछ ईश्वरपर नहीं छोड़ दिया है-यह तो बड़ी चीज है, परन्तु असलमें तुमने साधन-भजन ईश्वरपर छोड़ दिया है और कुछ ईश्वरपर नहीं छोड़ा है–भोजन ईश्वरपर नहीं छोड़ा, दवा ईश्वरपर नहीं छोड़ी, अपने कल-कारखाने ईश्वरपर नहीं छोड़े! बस साधन-भजन ईश्वरपर छोड़ दिया क्योंकि असलमें साधन भजनसे जो मिलता है उसकी इच्छा आपको नहीं है। बोलते हैं कि हमको महाराज, नरकका डर नहीं लगता है; चोरका डर लगता है कि नहीं? बोले-चोरका तो लगता है महाराज–देखो, आपको बतलाते हैं इसका मानसिक विश्लेषण क्या है? इसका विश्लेषण यह

है कि नरकके लिए तो तुम नास्तिक हो–कहते हो–कहीं नरक-वरक नहीं है, उससे डरनेकी क्या जरूरत है? और बोले-चोर तो सच्चा है उससे तो डरना पड़ेगा। असलमें जो तुम नरकसे निडर हो गये हो वह यह नहीं कि तुमको ब्रह्मज्ञान हो गया है और तुम नरकसे निडर हो गये हो, तुम नरकसे निडर हो गये हो नास्तिकताके कारण और चोरसे निडर नहीं हो क्योंकि चोरके प्रति तुम आस्तिक हो, चोरके प्रति ईमानदार हो–अपनी ईमानदारीकी परीक्षा यदि आप स्वयं नहीं करोगे तो आपके लिए दूसरा कोई नहीं कर सकता।

तो देखो तत्त्वज्ञान होता है यह बात सच्ची है और तत्त्वज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है यह बात भी सच्ची है और चूँकि अमृतत्वकी प्राप्ति ज्ञानसे होती है-जानने भरसे होती है तो यदि अमृतत्व नित्य प्राप्त न होता तो जानने भरसे नहीं मिलता-अमृतत्व तो नित्य प्राप्त ही है और केवल जाननेसे मिलता है। इसका मतलब है कि अज्ञानसे ही अनमिला है; अज्ञानसे जो चीज अनमिली होती है वह भी नित्यप्राप्त होती है और ज्ञानसे जो चीज मिल जाती है वह भी नित्य प्राप्त होती है। तो आप स्वयं अमृत-स्वरूप हो, आपमें न जन्म है–न मृत्यु है; न आपमें आना है न जाना है; न जवानी है न बुढ़ापा है; न आपमें नरक है न स्वर्ग है, न कालके द्वारा आपका विनाश है, न देशके द्वारा आपका संकोच है और न द्रव्यके द्वारा आपका भेद है–ऐसे हैं आप!

आप अब ऐसे हैं तो अपना यह ज्ञान क्यों नहीं मिलता? बोले-बाबा, इसके लिए थोड़ा वीर्य चाहिए। वीर्य क्या है कि अन्तःकरणकी शुद्धि, पराक्रम, बल, पौरुष।

श्रीयोगवासिष्ठमें आता है–

हस्तैर्हस्तान् समापीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च ॥
शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥

हाथ-से-हाथ दबाकर दाँत-से-दाँत पीसकर यह अशुभ मार्गमें जो वासना जा रही है, अनियन्त्रित बह रही है, अवचेतन-मन सपना देखता जा रहा है–यह जो तुम वासनाके वशीभूत हो गये हो, इसका जब निरोध करोगे रोकोगे तब वीर्यकी प्राप्ति होगी।

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गतिरेव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्तः युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तज ये किल॥

अध्यात्म विद्या-भीतरका ज्ञान प्राप्त करो-*'मैं बौरी ढूँढ़न चली रही किनारे बैठ'*। अध्यात्म माने शरीरके भीतर, जैसे बोलते हैं अधिकाशी=माने काशीमें, वैसे ही अध्यात्मम् माने अपनेमें 'अध्यात्मविद्याधिगमः'=शरीरमें जो वस्तु है उसको जानो, भीतर ढूँढ़ो, शरीरके भीतर देखो; और 'साधु-संगति'=सत्सङ्ग करो, मगर सत्सङ्ग ऐसा मत करो जो तुमको तुम्हारी निष्ठासे च्युत कर दे, जो तुमको पथसे च्युत कर दे; 'वासना-सम्परित्यागः'=और अपनी वासनाओंको घटाओ।

'आत्मना विन्दते वीर्यम्'में 'आत्मना'का अर्थ क्या? आत्मा=यत्नै धृतो देहे स्वभावे परमात्मने। 'आत्मा' शब्दके बहुत सारे अर्थ होते हैं, आप पहला ही अर्थ लो 'आत्मना यत्नेन वीर्यम् विन्दते'; विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा-ये यत्न हैं आत्मज्ञानके। इनसे ही वीरता आवेगी। वीरता आवेगी माने अज्ञानरूपी पिशाचको नष्ट करनेकी योग्यता आवेगी। वीर्य माने वीरता, पराक्रम-वीरत्वं वीर्यम् -वीरताका नाम वीर्य है, तुमको बहादुरी मिलेगी जिससे कि अज्ञानान्धकारको फाड़ सको। जब रोग होनेपर दवा करते हो, तो अज्ञानका रोग होनेपर इसको मिटानेके लिए दवा क्यों नहीं करते? अहंकारका रोग है तो इसको मिटानेके लिए दवा क्यों नहीं करते? वासनाका रोग है तो इसको मिटानेकी दवा क्यों नहीं करते। क्या वासना तुमको दुःख नहीं देती है? क्या अहंकार तुमको दुःख नहीं देता है। कोई टेढ़ी नजर करके देख ले तो तुमको तकलीफ हो जाती है। कोई बुरी नजरसे देख ले तो तकलीफ हो जाती है और कोई प्यारकी नजरसे देख ले तब भी तकलीफ हो जाती है, कोई तुम्हें छू दे तो तकलीफ हो जाती है—ऐसा आपने अपनेको छुई-मुई बना लिया है।

आत्मना विन्दते वीर्यम् विद्यया विन्दतेऽमृतम्।

जब अन्तःकरण शुद्ध होता है तब वीर्य आता है। शुद्ध होनेका मतलब आप यह समझो कि जब किसी अन्तःकरणकी वृत्ति औरको न चाहकर अपनी जगहपर बैठ जाती है तब अन्तःकरण शुद्ध होता है। जैसे देखो स्त्रीका असली

पति कौन है कि जिसके साथ वह सोती है-है कि नहीं? कानूनसे जो पति है वही पति नहीं होता और जिसके साथ धर्मानुसार विवाह हुआ उसको, ठीक है, कानून कहेगा कि यह पति है, समाज कहेगा कि यह पति है, पर असलमें तो स्त्रीका पति वही है जिसके साथ वह सोती है-इसी प्रकार यह जो आपका मन है–मनोवृत्ति-यह जाग्रत्में तो तमाशा देखती है वे इसके प्यारे नहीं हैं, वे तो जैसे पर्स लेकरके बाजारमें घूमने जाते हैं वैसे हैं–हमको महाराज एकने बताया कि एक श्रीमतीजी जब दुकानमें गयीं तब दुकानदारने पूछा कि आपके लिए कोकोकोला मँगवा दें? दुकानदार लोग पूछते होंगे–हमको तो मालूम नहीं है–तो उसने कहा–नहीं। बोला कि अच्छा शर्बत मँगा दें? कि नहीं। फिर आँरेज-फॉरेज जो-जो वह पूछा–वह मना करती गयी। अन्तमें उसने पूछा कि फिर ह्विस्की मँगा दें आपके लिए? तो–ये महाराज जो घूमनेवाले हैं दिनभर इनको तो चैन नहीं है, यह मनोवृत्तिका जो घूमना है वह भी ऐसा ही है। यह बैचेनी काहेको है? आप बुरा नहीं मानना-मनमें जिसके बारेमें बैठकर सोचते हैं वह तो जैसे सिनेमा देख रहें हों ऐसा है–यह जो बाहर व्यवहार है यह दुकानदारी है और भीतर जिसके बारेमें सोचते रहते हैं वह मनका सिनेमा है। असलमें तुम्हारी मनोवृत्तिका पति कौन है? कि सुषुप्ति कालमें तुम्हारी वृत्ति जिसमें लीन हो जाती है, समाधि-कालमें जिसमें तुम्हारी वृत्ति लीन हो जाती है–वह है आपका पति। तो बोले कि जो होगा महाराज, उसको तो हम जानते नहीं हैं! लो! जो असली है उसको तो जानते नहीं और जो नकली है उसके पीछे घूमती है–असली विश्रामका स्थान वही है जिसमें सुषुप्तिकालमें, समाधिकालमें वृत्तिलीन हो जाती है। माने वृत्तिका भी जो प्रत्यक् है, वृत्तिका भी जो सार है–माण्डूक्योपनिषद्में जिसको प्रत्यय-सार कहा गया है–वह है। 'आत्मना विन्दते वीर्यम्'–उसके पास सो जाओ थोड़ी देर, उसमें लीन हो जाओ ज्ञानपूर्वक–समझकर और समझकर देखोगे तो वह तुम्हारे साथ ही रहता है! यह बहुत मजेदार बात है कि श्रीमतीजी जब बाजारमें जाती हैं तब समझती हैं कि हमारे पति थोड़े ही देख रहे हैं! एकने हमको सुनाया– *'मेरे पिया घर नहीं, मुझे किसीका डर नहीं'*–तो वे समझते हैं कि मुझे कोई देखनेवाला नहीं है, लेकिन यह जो तुम्हारी मनोवृत्तिका असली पति है ना, जिसके साथ सुषुप्तिमें तुम रहते हो वह जहाँ-जहाँ तुम जाते हो वहाँ-

वहाँ वे रहते हैं; जब तुम दूसरेसे प्रेम करते हो तब ये देखते हैं, जब दूसरेसे मिलते हो तब ये देखते हैं, और देखते हैं कि यह हमारी श्रीमतीजी वृत्ति महारानी– जो रातको समाधिमें, सुषुप्तिमें हमारे साथ सोती है, उनकी यह दशा है कि यह गली-गली घूम रही हैं, दुकान-दुकान घूम रही हैं। सो नारायण, आवो, आप वह शक्ति प्राप्त करो, वह सामर्थ्य प्राप्त करो जिससे तुम अपने स्वरूपको, अपने आत्माको, अपने प्रेमास्पदको पहचान सको--यह कोई ढोंग नहीं है–जो ढोंग-धतूरा दुनियामें आत्मज्ञानके नामपर चलता है वह यह नहीं है।

'विद्यया विन्दतेऽमृतम्'–देखो, सम्पूर्ण-प्रत्यय, प्रत्यय शब्दका अर्थ आपको कई बार सुना चुका हूँ–प्रत्यय माने समझो मनमें जितनी स्फुरणाएँ होती हैं सो, उन स्फुरणाओंको जो देखता है वह जन्म और मृत्युसे रहित दृक्-स्वरूप है और उसमें वृत्ति-फृत्तिका कोई मेल नहीं है, वह अपना आत्मा है, निर्विशेष है, एक है, सबमें रहता हुआ सबमें एक है जैसे सब घड़ोंमें एक ही आकाश, जैसे घड़ेमें, पहाड़में, गुहामें एक ही आकाश है–घड़ेका घेरा अलग, मकानका घेरा अलग, गुफाका घेरा अलग, लेकिन आकाश एक। अच्छा, घड़ेमें आकाश है कि आकाशमें घड़ा है? पहाड़में आकाश है कि आकाशमें पहाड़ है? गुफामें आकाश है कि आकाशमें गुफा है? तो, यह जो आत्मतत्त्व है यह अखण्ड है और सब प्रत्ययोंका साक्षी होकर सब प्रत्ययोंसे रहित एक अद्वितीय है; यह विदित और अविदित दोनोंसे न्यारा है-यह बात पहले कही जा चुकी है–ऐसा यह परिशुद्ध है आत्माका स्वरूप!

आप फिर देखना–धर्मसे पचास प्रतिशत अधर्मकी जो वासनाएँ हैं वे क्षीण होती है; उपासनासे निन्यावे प्रतिशत–जो ईश्वरातिरिक्त वासनाएँ हैं वे क्षीण होती हैं; योगसे शत-प्रतिशत वासनाएँ निरुद्ध हो जाती हैं। शान्त हो जाती हैं और ज्ञानसे वासना निरुद्ध नहीं होती बाधित हो जाती हैं, निर्वीर्य हो जाती हैं। धर्म वासनाका वर्गीकरण कर देता है-पचास धर्मकी और पचास अधर्मकी; उपासना वासनाको एकोन्मुख करती है-बस एक ईश्वरकी वासना; योग वासनाको निरुद्ध कर देता है, जहाँका-तहाँ रोक देता है कि हट, ठहरो; और ज्ञान या बोध वासनाका बाध कर देता है, जिससे वे निर्वीर्य हो जाती हैं। ज्ञान वासनाको मिटाता नहीं है, साँपको मारता नहीं है, साँपके विषैले दाँत तोड़ देता है-साँपके

अन्दर जो विषकी थैली है उसको निकाल देता है और साँप-साँप बना रहता है-वह चलता है, वह फुंफकारता है, वह साँपकी तरह फिरता है परन्तु, निर्वीर्य हो गया साँप, ऐसे ही अधिष्ठानके ज्ञानसे-माने अपने आत्माको सर्वाधिष्ठान-रूप जाननेपर, सर्वका बाध हो जाता है भले वासना, वासनाका विषय और वासना करनेवाले-ये तीनों साकार दिखते रहें! रामचन्द्र राज्य करते हैं, कृष्ण भोग करते हैं, जनक, अश्वपति आदि सम्राट्का काम करते हैं, वसिष्ठ पुरोहित होते हैं, दत्तात्रेय अवधूत होते हैं-यह सब क्या है? कि ये सब आकृति ही तो भास रही हैं ना:राम भी एक आकृति हैं, कृष्ण भी एक आकृत्ति हैं, वसिष्ठ भी एक आकृति हैं, जनक भी एक आकृति हैं, अश्वपति भी एक आकृति हैं-व्यक्ति ही तो हैं ना सब, लेकिन इनके अन्दर वह विषकी थैली नहीं है, इनके अन्दर वे विषके दाँत नहीं हैं। तो जो अवतार होते हैं, उनमें सहजस्वभावसे ही नहीं होते हैं और जो सिद्ध पुरुष होते हैं वे तत्त्वज्ञानके द्वारा उनको निकाल-कर फेंक देते हैं। अवतार-पुरूषमें और सिद्ध पुरूषमें थोड़ा अन्तर होता है; सिद्ध-पुरूषके ज्ञानके पहले अज्ञान था और जो अवतार पुरुष होते हैं उनमें पहलेसे अज्ञान होता ही नहीं तो निवृत्त कहाँसे होगा? लेकिन, दोनोंमें विषैले दाँत नहीं हैं; और वह कर्म भी करता है, वह उपासना भी करता है, वह योगाभ्यास भी करता है, वह तीनों नहीं करता है-'स्वपतो नास्ति मे हानिः'–सोता रहे कोई हर्ज नहीं है–

बाग्मिप्राज्ञ महोद्योगं जनं मूकजडालसम्।
करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः॥

(अष्टा० 15.3)

यह भोग चाहनेवालोंने तत्त्वज्ञान क्यों छोड़ दिया? कि तत्त्वज्ञान होनेपर वाग्मि (वक्ता)को बोलनेकी जरूरत नहीं रही, प्राज्ञको अपनी बुद्धिमत्ता दिखानेकी जरूरत नहीं रही, महान् उद्योगकी क्षमता रखनेवालेको करनेकी जरूरत नहीं रही। तब दुनियादारोंने कहा कि बाबा, यदि हम अकर्ता हो जायेंगे तो हमारे घरका काम-धन्धा कौन करेगा?

श्रीमद्भागवत मैंने बचपनमें ही पढ़ी थी–उसमें एक जगह आता है–मूलमें ही कि प्रह्लादजीने कहा कि हे भगवान्, मैं सब दुःखियोंको छोड़ करके अकेला मुक्त होना नहीं चाहता–

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः।

लोगोंको यह बात बड़ी प्यारी लगती है कि आ हा, देखो कितने दयालु हैं, कितने समाज-सेवी हैं, कितने परोपकारी हैं कि वे दूसरोंको बद्ध छोड़कर स्वयं मुक्त होना भी नहीं चाहते। तो, इसपर मैंने दृष्टान्त पढ़ा था बचपनमें कि भगवान्ने कहा कि प्रह्लाद, चलो तुम्हें मैं अपने लोकमें ले चलता हूँ, तुम मुक्ति लो। प्रह्लादने कहा-भगवन्, दुनियामें इतने दुःखी हैं, इनको छोड़कर मैं अकेला कैसे वैकुण्ठमें चलूँ? तो, भगवान्ने कहा कि अच्छा! प्रह्लाद, तुम अपने साथ जो चलना चाहे उसे ले चलो-सबको तो कैसे ले चलोगे-बिना इच्छाके चलोगे तो वह दुःखी होगा-नादिरशाही तो नहीं चलानी चाहिए न! प्रह्लाद गये पूछने! किसीने कहा कि अभी हमारे पोतेका ब्याह होनेवाला है, कर लें तब चलें, एकने कहा-अभी लड़की सिरपर सवार है हम कैसे जायें; एकने कहा-महाराज, अभी मुझे कर्ज चुकाना है; एकने कहा कि हमारा यह संकल्प है कि करोड़पति हो जायें तब कहीं आयें-जायें, अभी निन्यावे-लाख हो चुके हैं, एक लाख और हो जाये तब चलेंगे-अब जिसके पास जायें वही कोई-न-कोई रुकावट बता दे-एक भी मनुष्य उनको ऐसा नहीं मिला तो तुरन्त मुक्ति लेनेको भगवान्के धाममें जानेको तैयार हो—यह बात मैंने भागवतकी टीकामें पढ़ी थी-अन्तमें जब कोई नहीं मिला तब प्रह्लाद एक सूअरके पास गये कि चल भाई, तूँ चल भगवान्के धाममें, वैकुण्ठमें। तो उसने पूछा कि वैकुण्ठमें क्या है? प्रह्लाद बोले कि वैकुण्ठमें सुख-ही-सुख है, वहाँ भगवान्के दिव्य पार्षद रहते हैं और भगवान्का दर्शन होता रहता है और चिन्मयी भूमि है और सब आनन्द-ही-आनन्द है तूँ चल सूअर बोला कि हम ही चलेंगे कि हमारी पत्नी-बच्चे भी चलेंगे? प्रह्लादने कहा कि तूँ जिसको चाहे उसको ले चल, सब चल सकते हैं। अब वह सूअर घरमें गया महाराज, बीबी बच्चे सब इकट्ठे हुए—शूकरीजी आयीं और शूकर-नन्दन लोग इकट्ठे हुए, तो पंचायत हुई कि प्रह्लादजी आये हैं, बड़े भारी भक्त हैं। बोलते हैं कि सब लोग वैकुण्ठमें चलो। और किसीको तो कुछ नहीं सूझा पर उसकी जो श्रीमतीजी थी—शूकरी—उसने कहा कि कहीं जाना है तो पहले यह तो उनसे पूछो कि हमलोगोंका जो भोजन है, जो हम यहाँ खाते हैं, वह वहाँ मिलेगा कि नहीं मिलेगा? तो प्रह्लादजीसे पूछा।

प्रह्लादजीने कहा—ना बाबा, वहाँ यह चीज तो खानेको नहीं मिलती, वहाँ तो भूख-प्यास लगती ही नहीं है, वहाँ तो भगवान्का दर्शन कर-करके ही लोग तृप्त रहते हैं! तो श्रीमतीजीने अपने पतिसे कहा—देखो, तुमको यह बात नहीं सूझी थी, भला हम अपने भोजनके वगैर वहाँ कैसे रह सकते हैं? तब शूकरजीने मना कर दिया और प्रह्लाद अपना मुँह लटकाये-लटकाये भगवान्के पास आये! भगवान्ने पूछा—क्यों प्रह्लाद, क्या बात है? बोले कि लोग दुनियामें ऐसे फँसे हैं कि इन लोगोंको यहीं रहने दें और हम आपके साथ चलते हैं।

देखो यह आत्मा ऐसी वस्तु है कि केवल जानने भरसे ही प्राप्त हो जाती है। अगर अन्य वस्तुका ज्ञान हो—जैसे हम रूमालको जानें—तो रूमाल उठावेंगे, अपने साथ लेकर जावेंगे तब रूमाल मिलेगी—प्रयत्न करना पड़ेगा और दूसरेकी होगी तो मिलेगी भी नहीं परन्तु अपने आपको अगर जानेंगे तो क्या जाननेके बाद अपनेको साथ ले जानेके लिए कोई कोशिश करनी पड़ेगी, कोई प्रयत्न करना पड़ेगा? कहीं जाना पड़ेगा? तो केवल विद्यासे, माने केवल जानने मात्रसे, केवल ज्ञानमात्रसे इस वस्तुकी प्राप्ति होती है। प्रयत्न करके अपना अन्तःकरण शुद्ध करो और प्रयत्न करके श्रवण-मनन और निदिध्यासन करो। अगर तुम दुनिया ईश्वरपर नहीं छोड़ सकते तो अपने परम कल्याणको, अपने परमार्थको क्यों ईश्वरपर छोड़कर इससे वंचित होते हो? इसके लिए जिज्ञासा करो, इसके लिए प्रयत्न करो, इसके लिए सन्मार्गपर चलो, ईश्वर हमारे सामने लाखों रूपमें रोज दीखता है, हजारों रूपमें हमारी उससे जान पहचान है, सैकड़ों रूपमें उससे हमारी मित्रता है और वह बाहर नहीं हो सकता? जब सब वह हो सकता है तब मैं क्यों नहीं हो सकता? केवल जानने भरकी देर है, खुली आँखसे परमेश्वरको देखो, परमात्माको देखो। इसके लिए न समाधि लगानेकी जरूरत है, न आवृत्तिकी जरूरत है, न कोई गड़बड़ करनेकी जरूरत है, यह तो अपना-आपा है, जानो यह मिला-मिलाया है; उसके मिलनेमें कोई देर नहीं है, कोई दूरी नहीं है—श्रीभोलेबाबाजी बोलते थे—*'न निकट है न दूर है, हाजरा हजूर है।'*

यह तो खुला हुआ—*पिटारीमें रखा हुआ नहीं, खुला हुआ यह नूर है*—अपना आपा है, नारायण!

प्रवचन : 12.4

ब्रह्मविद्यासे अमृतत्वकी प्राप्ति

विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।

कल आपको मैंने यह सुनाया था कि यदि सामर्थ्य प्राप्त करना हो तो ज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। देखो, जो हमारे वकील हैं, वैरिस्टर हैं, जज हैं उनके पास बुद्धि तो बहुत होती है, लेकिन उनके मनमें तत्त्वज्ञानकी इच्छा नहीं होती है, वे काम-चलाऊ ज्ञान प्राप्त करना चाहत हैं जिससे अपना काम चल सके-डाक्टर चाहता है कि हम मरीजकी चिकित्सा कर सकें-रोगको समझें, दवाकी समझें-इतना ज्ञान हमको चाहिए; वकील-वैरिस्टर अपनी जीविका चलानेके लिए जितना कानूनका ज्ञान चाहिए; उनके अन्दर अर्थित्वका अभाव है, माने आकांक्षा नहीं है, जिज्ञासा नहीं है। और कई लोग जिज्ञासु तो बहुत होते हैं पर उनके पास बुद्धि नहीं होती है कि समझें। थोड़ा अन्तःकरण ऐसा चाहिए कि अर्थमें, कर्ममें, भोगमें आसक्त न हो और चित्तमें थोड़ी एकाग्रता हो-इसीको शम-दम-उपरति-तितिक्षा बोलते हैं। थोड़ा सह ले, थोड़ा शान्त रह ले तो वस्तुकी जानकारीमें इससे फायदा मिलता है। तो, इच्छा भी चाहिए कि हमको ब्रह्मज्ञान होवे और ब्रह्मज्ञानके लिए सामर्थ्य भी होवे, समझ सकें–इच्छा और समझ दोनों चाहिए–इच्छा और सामर्थ्य दोनों चाहिए। जब अयोग्य आदमीके चित्तमें इच्छाका उदय होता है तब वह दुःख भी देती है, जैसे कोई बौना आदमी है और वह ऊँचे पेड़परसे आम तोड़ना चाहे तो सामर्थ्य तो है नहीं, वह उछलेगा बारम्बार, लेकिन उसका हाथ वहाँतक पहुँचेगा नहीं! तो बोले कि हमारे जीवनमें ऐसी शक्ति,ऐसा सामर्थ्य आ जाये कि हम उसको पकड़ सकें 'आत्मना विन्दते वीर्यम्'-सामर्थ्य सम्पादन करना चाहिए-विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा-समाधान, मुमुक्षा–ये सब चाहिए।

दूसरा अभिप्राय इसका यह है कि यदि आप स्वयं अपने कल्याणके लिए चेष्टा नहीं करेंगे तो दूसरा कोई तो आपके लिए करेगा नहीं! आपको भोजन करना होता है तब तो यह नहीं कहते कि हमारे बदले तुम खाकर आवो और बाथरूममें जाना होता है, शौचालयमें जाना होता है तो तुम्हारे बदले दूसरा कोई जा नहीं सकता, उसके लिए तो तुम एक भी स्थानापन्न व्यक्तिकी नियुक्ति नहीं करते हो; फिर यदि त्याग-पूर्वक परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना हो तो क्या उसके लिए दूसरेकी नियुक्ति करोगे कि तुम हमारे लिए संसारकी आसक्ति छोड़ दो, ममता छोड़ दो और कि तुम हमारे लिए सुनकर आवो, तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आवो? यह पूरे परिवारका प्रतिनिधित्व तत्त्वज्ञानमें नहीं हो सकता कि पूरा-का-पूरा समाज ही तत्त्वज्ञानी हो जाये। लोग इस विषयको समझते नहीं हैं और आजकल ऐसी बात कहें तो कौन सुनेगा कि यह तत्त्वज्ञान सामूहिक वस्तु नहीं है कि पूरा-का-पूरा समाज ही तत्त्वज्ञानी हो जाये? बिरलाजीके यहाँसे, पिलानीसे एक बार प्रोफेसर आये, प्रतिनिधिके रूपमें आये कि हमलोग चाहते हैं कि हमारे यहाँ कालेजमें जितने विद्यार्थी पढ़ते हैं सबको हम ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा दें; तो असलमें ब्रह्मज्ञान देनेकी वासना ब्रह्मज्ञानीमें नहीं होती; ब्रह्मज्ञान लेनेकी वासना तो जिज्ञासुमें होती है और असलमें जिसके मनमें जिज्ञासा होती है उसीको ब्रह्मज्ञान प्राप्त भी होता है; ब्रह्मज्ञानीको यह ढिंढोरा पीटनेकी जरूरत नहीं रहती है कि आवो-आवो, हम तुमको ब्रह्मका साक्षात्कार कराते हैं। अब भाई, अन्धोंमें काना राजा-जहाँ लोग ब्रह्मज्ञानको वस्तुतः नहीं समझते हैं वहाँ जाकर तुम चाहे जिस बातको ब्रह्मज्ञान कह लो यह दूसरी बात है। तो यह तो जो स्वयं जिज्ञासु होता है और स्वयं शुद्धान्तःकरण होकरके प्रयास करता है उसके अन्तःकरणमें इस विद्याका उदय होता है। यह विद्या है यह भी ध्यानमें रखना चाहिए। तपका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है, तप हो कि न हो, ब्रह्मज्ञान हो सकता है-भला; त्यागका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है-त्याग हो कि नहीं हो ब्रह्मज्ञान हो सकता है; चन्दन लगानेका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है; आँख बन्द करके बैठनेका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है, वृत्तिकी आवृत्ति करनेका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है; समाधि लगानेका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है—यह तो जैसे आप हीरेको पहचानते हैं-हीरेको पहचाननेकी एक विद्या होती है ऐसी बात है। हीरेको पहचाननेमें समाधि

लगानेकी जरूरत नहीं पड़ती हैं, केवल उसको पहचाननेके लिए उपयोगी एकाग्रताकी जितनी जरूरत है–कि हीरेको देखनेके लिए उसमें चिलक कैसी है, उसमें कोई रंग नहीं है और बिलकुल शुद्ध है, उतना ही देखने भरकी उसमें जरूरत होती है। तो लोग कहते हैं कि अरे अभी समाधि तो लगी ही नहीं, ब्रह्मज्ञान कैसे होगा? कोई कहते हैं कि घर-द्वार छोड़कर अभी हिमालयमें तो गये ही नहीं ब्रह्मज्ञान कहाँसे होगा? बोले–चौरासी धूनी तापी नहीं तो ब्रह्मज्ञान कहाँसे होगा? और देवताके लिए यज्ञ-यागदि, होम-हवन किया नहीं तो तत्त्व-ज्ञान कहाँसे होगा? कि ये सब बातें फालतू हैं। जो लोग ब्रह्मविद्याको ब्रह्मविद्याके रूपमें नहीं जानते हैं, वे ऐसी आल्तू-फाल्तू बात करते हैं। यह तो हीरेको समझना है, सोनेको समझना है, चाँदीको समझना है, माटीको समझना है, अपने आपको समझना है-इसमें भाषाका सवाल नहीं है, कि एक-दूसरेका सिर फोड़ दें-किसी भी भाषामें यह ब्रह्मविद्या मिले तो वहाँसे यह ग्रहण करनेकी वस्तु है, क्योंकि जो भाषाका पक्षपात करके विद्याको छोड़ देता है वह मूर्ख है, यह जानकारीका प्रश्न है और इसके लिए आपको स्वयं प्रयत्न करना चाहिए।

ध्यान दो–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(गीता 6.5-6)

एकने कहा कि भाई, हमको और हमारे बेटेको-दोनोंको साथ-साथ ब्रह्मज्ञान होना चाहिए, बल्कि हमारे बेटेको पहले होना चाहिए हमको बादमें होगा तो चलेगा। तो यह बच्चेके प्रति जो तुम्हारे मनमें स्नेह है, मोह है उसकी दृष्टिसे तुम बहुत बढ़िया कह रहे हो, बच्चेपर इसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ेगा कि हमारे पिताजी हमसे कितना प्रेम करते हैं और समाजके लोग कहेंगे कि वाह-वाह-वाह-पिता हो तो ऐसा–पुत्र-प्रेमी, जो पहले पुत्रको ब्रह्मज्ञान कराना चाहता है। कि यह सब ठीक है लेकिन पुत्रके प्रति जो तुम्हारा मोह है, जो तुम्हारी आसक्ति है वही तो ब्रह्मज्ञानमें बाधा डालनेवाली है। तो नारायण!

उद्धरेदात्मनात्मानम्–अब तुम्हें तुम्हारे मोहसे कौन बचावे, तुम्हारे लिए शौच कौन जाये, तुम्हारे लिए भोजन कौन करे–तो स्वयं जो काम करना चाहिए– उद्धरेदात्मनात्मान् नात्मानं अवसादयेत्–अपनेको अवसन्न नहीं बनाना चाहिए उदास नहीं बनाना चाहिए निराश नहीं होना चाहिए–अपनेमें हीन-वृत्ति नहीं आने देनी चाहिए। (अवसन्न कहते हैं उसको कि पड़ गये कि हमारेसे अब क्या होगा।) बोले क्योंकि आत्मा ही अपना मित्र है और आत्मा ही अपना शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

जिसने अपनी इन्द्रियोंपर, अपने प्राणोंपर, अपने मनपर विजय प्राप्त कर ली है उसका आत्मा अपना मित्र है–जरा बच्चोंके विज्ञानसे गीताका यह विज्ञान ऊपर उठ गया है–बच्चोंका विज्ञान तो यह है ना कि भाई, उनके मनको सम्हालते हुए आगे बढ़ो नहीं तो प्रतिक्रिया हो जायेगी वे दूध पीना न चाहें तो कै हो जायेगी–और वे दूध पीना चाहें तो उनको मना मत करो थोड़ा दूध दे दो। अब जरा जवानीकी ओर चलो–जवानीका मनोविज्ञान जो है वह जरा दूसरा है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

जिसने अपने आपसे अपने आपको जीत लिया है, वशमें कर लिया है उसका आत्मा मित्र है और 'अनात्मनस्तु शत्रुत्वे'–जिसने अपने आपपर विजय नहीं प्राप्त की तो 'वर्तेत आत्मैव शत्रुवत्'–वह अपने आपके विरुद्ध स्वयं ही शत्रुताका बर्ताव कर रहा है-कि अपनेको भोगासक्त कर रहा है, धनासक्त कर रहा है कि अपनेको कर्मासक्त कर रहा है कि कुटुम्बासक्त कर रहा है–वह तो स्वयं अपने आपको बिखेर रहा है जैसे चूर-चूर करके किसी चीजको फैला दिया जाये वैसे ही अपने मनको चकनाचूर करके वह संसारमें फैला रहा है। इसलिए भाई यह जो मार्ग है न–

आत्मन्येव आत्मना एव आत्मानं एव पश्येत्।

अपने आपसे, अपने आपमें, अपने आपको देखे! 'आत्मना विन्दते वीर्यम्।

तो बोले कि भाई, इसका मतलब यह है कि धन, सहायक, मन्त्र,

औषधि, तपस्या और योग-इनसे जो सामर्थ्य मिलता है वह मृत्युपर विजय प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं है–यह शंकर-भाष्यका वचन है। आत्मना विन्दते वीर्यम्'-स्वयमेव सामर्थ्यकी प्राप्ति की जाती है। कहो कि हम पैसेसे खरीद लेंगे, बोले कि महाराज, हमारे यहाँ तीन वेदान्ती रोज आते हैं-वेदान्ताचार्य, पचास-पचास रुपये महीना उनको देते हैं और वे घण्टे-घण्टे भर रोज हमको अद्वैत-सिद्धि और ब्रह्म-सिद्धि और स्वराज्य-सिद्धि और नैष्कर्म्य-सिद्धि-सुना करके जाते हैं। तो बोले कि इसमें तुम्हारे पैसेका बल है और वे जो पचास रुपये महीनेपर तुमको वेदान्त सुनाने आते हैं उनको स्वयं वेदान्तका बोध नहीं है, वे तुम्हारे अन्दर बोधका संचार करेंगे कहाँसे? तो जिसका ख्याल है कि हम धनसे ज्ञान प्राप्त कर लेंगे, उनकी महत्त्व-बुद्धि तो धनमें है, आत्मामें है ही नहीं। फिर बोले कि हमारे मददगार हैं ना-सहायक-उनसे ज्ञान हो जायेगा। कहते हैं कि हमारे घरके अमुक व्यक्ति वेदान्तका प्रवचन सुनने जाते हैं और वे आकर रोज हमको वह सुना देते हैं–कई लोग तो ऐसी-ऐसी मजेदार बात सुनाते हैं कि-एक कहते हैं कि हमारे एक मित्र कथामें जाते हैं और अक्षर-अक्षर कथाका लिखकर लाते हैं और सुनाते हैं। मैं चाहता हूँ कि मैं खुद ही यदि अक्षर-अक्षर लिखना चाहूँ तो नहीं लिख सकता हूँ और दुबारा बोलना चाहूँ तो नहीं बोल सकता हूँ, दूसरा ही कुछ बोल जाऊँगा और दूसरे आदमीने सुना और स्वयं उसको न आत्माका ज्ञान, न ब्रह्मका ज्ञान, न अन्तःकरणकी शुद्धिका ज्ञान–वह तुम्हारी क्या मदद करेगा भाई! मदद करता है, ठीक है लेकिन ज्ञानके लिए केवल मददगारसे काम नहीं चलता-मेहमानोंसे चोर नहीं पकड़े जाते-भला-घरमें मेहमान आये हों और चोर घुस आवें और कोई बोले कि इतने मेहमान हो तुम लोग, रातमें खाया भी है पकड़ो चोरको, तो वे बोलेंगे कि भाई, चाहे तुम्हारा सब चला जाये, हम कोई अपना हाथ-पाँव तुम्हारे लिए थोड़े ही तुड़वायेंगे। मेहमानोंके हाथसे चोर नहीं पकड़े जाते-यह खुद करनेका है, सहायकसे काम नहीं चलता! बोले कि अच्छा स्वामीजी हमको एक ऐसा मन्त्र बता दो कि हमको ज्ञान हो जाये! अरे भाई! हम मन्त्र तो बीस बता दें–'सप्तकोटि महामन्त्राः'–सात करोड़ महामन्त्र हैं-उनसे चित्तमें भ्रान्ति और बढ़ती ही है-कि रामका मन्त्र जपें कि नारायणका मन्त्र जपें, कि

देवीका मन्त्र जपें कि गणेशका मन्त्र जपें कि अल्लाह-अल्लाह करें कि खुदा-खुदा करें कि गॉड-गॉड करें–

सप्तकोटि महामन्त्राः अहं-ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वमन्त्रविनाशकः।

यह तेजोबिन्दु उपनिषद्का वचन है। तो बोले कि हमारे लिए भसी अहं ब्रह्मास्मि ठीक पड़ेगा महाराज कि तत्त्वमसि ठीक पड़ेगा? अब वह मन्त्रमें तत्त्वज्ञान होता तो ये जितने कम्पोजीटर प्रेसमें रहते हैं ये सब तत्त्वज्ञानी हो जाते-जितने प्रूफ-रीडर रहते हैं वे सब तत्त्वज्ञानी हो जाते–ये प्रेसके मालिक-कोई अज्ञानी नहीं रहते! तो मन्तर-जन्तर-तन्तरका काम यह ब्रह्मज्ञान नहीं है। बोले, महाराज हमको कोई ऐसी दवा ही बता दो! कि अच्छा भाई, ब्राह्मी पीओ। कि महाराज, ब्राह्मी पीनेसे क्या हमको तत्त्वज्ञान हो जायेगा? तो बोले कि यदि ब्राह्मी पीनेसे तत्त्वज्ञान हो जाता तो जो पशु जंगलमें घास चरते हैं और ब्राह्मी चरते हैं तो क्या उनको तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता? बोले कि वह अमेरिकामें एक दवा बिकती है जिससे लोग बेहोश हो जाते हैं और बेहोश होकरके स्वर्गकी यात्रा कर आते हैं–(उसका कुछ नाम है, हमने पेपरमें पढ़ा था)! तो आवो, तुमको भी ब्रह्मज्ञानीकी यात्रा करावें। लेकिन, यह ब्रह्मज्ञान दवासे मिलानेवाला नहीं है। यह तपस्यासे मिलनेवाला नहीं है–पञ्चाग्नि ताप लो, भूखे रहो, व्रत करो, उपवास करो और पाँच आग ही नहीं चौरासी आग तापो लेकिन यह तपस्यासे होनेवाला नहीं है। बोले कि अच्छा योग करके हम बिलकुल शान्त बैठ जाते हैं! तो समाधिकालमें कोई भी वस्तु पहचानी नहीं जाती, पहचाननेके लिए तो वृत्तिका वस्तुके साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध होना चाहिए, वृत्ति शान्त नहीं होनी चाहिए, वृत्तिका वस्तुके साथ सम्बन्ध होना चाहिए!

हमको एक सज्जन बताते थे--वह योगकी ट्रेनिंग देते हैं और कभी-कभी हमारे पास आते हैं–वह बताते थे कि कोई आता है महाराज तो किसीको कहते हैं जप करो, किसीको कहते हैं तप करो, किसीको कहते हैं पूजा करो, और लोग करते-करते परेशान हो जाते हैं और आकर पूछते हैं कि हमने इतने दिन किया और कुछ नहीं हुआ, तो हम उनको कहते हैं कि अब कुछ मत करो, शान्त बैठ जाओ; तो उनको खूब आराम मिलता है–समझते हैं कि हाँ-हाँ अब हमारी उन्नति हो गयी। तो, बड़ा भारी आराम मिला, समझलो सो गये, दिन

भरके थके थे और नींद आयी सो गये और उठे तो बोले कि आज बड़ा मजा आया। लेकिन, नींदका नाम मजा नहीं है, नींदका नाम दुःखका अभाव है; उस समय जो तुम थके-माँदे रहते हो सोनेसे वह थकान दूर हो जाती है, आराम मिल जाता है। यह योगाभ्यास जो है यह शान्ति है, यह विश्राम है। इसमें एक बहुत बड़ा फायदा भी है—वह मैं आपको बताता हूँ, यह नहीं समझना कि मैं दोष-ही-दोष बताता हूँ—जरा गुणकी बात भी बताता हूँ। धर्म करनेसे चित्तमें जो ग्लानि है, हीनताका बोध है वह मिट जाता है, वह कैसे कि हमने यह पाप किया तो हम ईश्वरकी ओर कैसे चलेंगे, जरा पश्चाताप करो, धर्म करो, व्रत करो तो वह हीनताका भाव मिट जाता है। उपासना करनेसे ईश्वरका स्वरूप कैसा होना चाहिए इसका ठीक-ठीक भाव बन जाता है। योगाभ्यास करनेसे एक बात बिल्कुल प्रत्यक्ष हो जाती है कि देखो, यह दुनियामें यह माँ है यह हमारा बाप है, यह भाई है, यह पुत्र है, यह धन है, यह मकान है—यह सब कब तक भासता है कि जब तक मन रहता है और—

'मनसो ह्यमनी भावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।'

जब मन शान्त हो जाता है तब द्वैतका साक्षात्कार नहीं होता। कोई दुनियामें ऐसा माईका लाल नहीं है जो मनके विक्षिप्त हुए बिना संसारके अस्तित्वको देख सके या दिखा सके। तो यह जो दुनियाका जितना मोहजाल है वह विक्षिप्त मनका विलास है—भागवतमें यह बात बहुत बढ़िया कही गयी है कि जब मन चंचल होता है तब नाना वस्तुओंका दर्शन होता है और जब मन शान्त होता है तब नाना वस्तुओंका दर्शन नहीं होता—इसका अर्थ है कि यह जो भेद है, यह नानात्व है, यह मनकी चंचलतामें है; और मनकी चञ्चलतासे दीखनेवाली चीजोंको जब हम सच्ची समझ लेते हैं तब उनमें सत्यत्वका भ्रम हो जाता है और जब सच्ची समझ लेते हैं तब इनमें गुण-दोष समझने लगते हैं; और जब गुण-दोषका ख्याल हो जाता है तब यह करना और यह नहीं करना—यह विधि-निषेध प्राप्त होता है। तो विधि-निषेध प्राप्त होता है—गुण-बुद्धि और दोष-बुद्धिसे, गुण-बुद्धि और दोष-बुद्धि होती है सत्यत्व भ्रमसे और भ्रम होता है नानात्वकी प्रतीतिसे और नानात्वकी प्रतीति होती है मनकी चंचलतासे, इसलिए एकबार यदि कोई अपने मनकी

चंचलताको देख ले तो उसको यह प्रत्यक्ष हो जायेगा, कि यह जो नानात्व दिखलायी पड़ रहा है यह केवल मनकी चंचलता है, केवल मनकी स्फुरणा है। तो, यह नमूना देख आवो समाधि में और न लगे समाधि तो समाधिकी जरूरत नहीं है, सुषुप्तिमें नमूना देख लिया करो कि जब मन चंचल नहीं रहता है तो दुनियाकी कोई चीज नहीं भासती है, इसका अर्थ ही है कि मनके जागनेपर ही दुनिया भासती है और मनके सो जानेपर नहीं भासती है, इसलिए जितना नानात्व है वह मनोमूलक है।

तो कहो कि नानात्वको मनोमूलक जान लेनेपर फिर तो हमको तत्त्वज्ञान हो जायेगा कि नहीं! बोले—भाई यह प्रतीयमान जो मिथ्या सर्प है वह भी रस्सीको काटता है—साँप देखनेवालेको डर होता ही है। भले ही वह सर्प झूठ होवे, जब अधिष्ठान-ज्ञान-पूर्वक माने रज्जुका साक्षात्कार हो जायेगा तभी सर्प होनेकी भ्रान्ति और उसका भय दोनों भागेंगे। इसी प्रकार जिस अनन्त अधिष्ठान तत्त्वमें मायाके वेशमें ईश्वर, अविद्याके वेशमें जीव, कारणके वेशमें ईश्वर, कार्यके वेशमें जीव दिख रहे हैं उस कार्य-कारणके वेशके बिना जो उनका अधिष्ठान अनन्त, अखण्ड, अविनाशी है उसका जबतक साक्षात्कार नहीं होगा तबतक माया और मायोपाधिक, अविद्या और अविद्योपाधिक और इनके उपहितत्वका बाध नहीं होगा। इसलिए अधिष्ठानके साक्षात्कारके लिए प्रयत्न आवश्यक है। अब देखो ये कहते हैं कि यदि तुम धनसे, मददगारसे, मन्त्रसे, औषधिसे, तपस्यासे, योगसे कोई सामर्थ्य प्राप्त करोगे तो तुम मृत्युपर विजय नहीं प्राप्त कर सकते। क्योंकि सबमें कर्तृत्व विद्यमान है। तो आत्मना माने—'अनात्म सहाय्यं विनैव'—'आत्मना विन्दते वीर्यम्'—केवल निषेध करनेमें इसका तात्पर्य है—अनात्माकी मदद लिये बिना ही तुम स्वयं सामर्थ्य अर्जित करो। जितनी-जितनी तुम्हारी स्वयंता शुद्ध होगी, अन्यके संस्पर्श और सम्पर्कसे मुक्त होगी, त्यों-त्यों तुम्हारे अन्दर ब्रह्मके एकत्व-बोधकी योग्यता आती जायेगी।

बोले—हम चलकर जायेंगे, तो चलकर कबतक जायेंगे? रामेश्वरजी जाना हो तो पाँवसे चलकर भी पहुँच सकते हैं, मोटरसे भी पहुँच सकते हैं, ट्रेनसे या विमानसे भी पहुँच सकते हैं। परन्तु ब्रह्म यदि गतिका विषय हो, माने वहाँ हो और यहाँ न हो तब तो हम किसी-न-किसी सवारीसे जा सकते

हैं और अब न हो तब हो तो इन्तजार कर सकते हैं! तो, क्या यह जो अधिष्ठान तत्त्व है सृष्टिका, वह यहाँ नहीं रहता है, कहीं वहाँ चला गया है कि गति चाहिए? माने इसके लिए न अलोकाकाश जानेकी जरूरत है और न हृदयाकाशमें जानेकी जरूरत है और न तो इसको प्रकृतिसे अतीत चिदाकाशमें ले जानेकी जरूरत है, न मायाकाशसे परे जानेकी जरूरत है; और न तो यह पहले पैदा होकर मर गया है और न आगे पैदा होनेवाला है। यह तो है न भाई! है और यही है और इसी समय है! बोले–समाधि लगेगी तब मिलेगी; तो यदि स्थूलमें न होता, सूक्ष्ममें होता तो समाधि लगनेपर मिलता-विक्षेप कालमें न होता तो समाधिकालमें मिलता! काल दोनोंका परिच्छेदक है आप देख लो–जिस कालमें समाधि होगी उस कालमें समाधि नहीं होगी, इसलिए कालके पेटमें विक्षेप भी होता है और कालके पेटमें ही समाधि भी होती है, इसलिए न तो विक्षेपसे आप कालके परे जा सकते हैं और न तो समाधिसे आप कालके परे जा सकते हैं। आप मृत्युसे परे कैसे जाना चाहते हैं? तपस्या थोड़ी देर होगी-नहीं होगी, मन्त्रका जप होगा–नहीं रहेगा, और धन रहेगा–नहीं रहेगा और उनकी शक्ति तो बहुत थोड़ी है, औषधिका असर रहेगा–नहीं रहेगा और समाधि भी रहेगी और नहीं रहेगी! आप यह बताओ कि आपकी समाधि लगेगी तो टूटेगी कि नहीं? अगर नहीं टूटेगी तो आपको ब्रह्मज्ञान हो गया इसमें क्या प्रमाण? और अगर टूट ही जायेगी तब तो वह कालके ही पेटमें हो गयी ना, कालकी ही बच्ची हो गयी–काल-कन्या हो गयी। बुढ़ापेका नाम संस्कृतभाषामें काल-कन्या है–यह कालकी बेटी है, श्रीमद्भागवतमें भी बुढ़ापेको काल-कन्या बोलते हैं–यह मौतकी सखी है और मौतको ले जाती है। जो चीज कालमें पैदा होगी और कालमें मिटेगी वह अकाल-वस्तुको कैसे दिखावेगी? इसलिए भाई–'आत्मना विन्दते वीर्यम्'–'आत्मनैव आत्मानम् एव पश्येत् एव'–अपने आपमें ही, दूसरेमें नहीं, स्वयं ही दूसरे किसीसे नहीं, अपने आपको ही दूसरेको नहीं और केवल इसका साक्षात्कार ही होना चाहिए, अविद्याकी निवृत्ति ही होनी चाहिए! तो 'आत्मना'का अर्थ है–

नान्येन आत्मविद्या कृतन्तु वीर्यं आत्मनैव विन्दते नान्येन

यह दूसरेके हाथसे मिलनेकी चीज नहीं है, इसको 'स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धं'–अवधूत-गीतामें यह वचन आता है–तुम स्वयं तत्त्व हो और स्वयं समझोगे। यह आत्म-विद्या है, इसका ही नाम ब्रह्मविद्या है।

अब आप विद्याकी विशेषता क्या होती है यह देखो एक अपरा-विद्या होती है और एक परा-विद्या–यह उपनिषद् सुननेवाले अच्छी तरह जानते हैं कि एक अपरा-विद्या होती है और एक परा-विद्या। मुण्डकोपनिषद्में भी आया है–कि दो विद्या है उनको जानना चाहिए–एक अपरा-विद्या और एक परा-विद्या। तो–तत्रापराविद्या ऋग्वेदो, यजुर्वेदो, सामवेदो, अथर्वेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्त छन्दो ज्योतिषमिति–यह सब क्या है कि अपराविद्या है और पराविद्या क्या है कि 'यया तदक्षरं अधिगम्यते'–जिससे अविनाशी तत्त्वका ज्ञान होवे उसको परा-विद्या बोलते हैं। अब यह देखो कि दोनोंमें भेद क्या है? कि दोनोंमें भेद यह है कि अपरा विद्याका ज्ञान होनेपर अनुष्ठानकी जरूरत रहती है और परा विद्या प्राप्त होनेपर अनुष्ठानकी जरूरत नहीं रहती है–यह दोनोंका भेद समझो बाबा एक बड़े भारी विद्वान् थे तो उनसे एक दिन गैंने पूछा कि आजकल लोग कैसे वेदका खण्डन करते हैं? तो उन्होंने फिर हमको वेदका खण्डन सुनाना शुरू किया कि देखो-वेदके विरोधमें यह युक्ति है, यह युक्ति है, यह युक्ति है–अब ऐसी-ऐसी युक्ति बताने लगे कि आजकलके खण्डन करनेवाले तो उनको जानते ही नहीं हैं–वेद ईश्वरका वचन है कि वेद अपौरुषेय वचन है कि वेद परा-वाणी है–कि आखिर वेदमें शब्दकी प्रधानता है, अर्थकी प्रधानता है कि दोनोंकी प्रधानता है–वह मीमांसाकी रीतिसे पूर्व-पक्ष और उत्तर-पक्ष जब सुनाने लग गये तब बोले कि आजकलके लोगोंको तो यही मालूम नहीं है कि खण्डन कैसे किया जाता है तो इन बिचारोंकी समझमें मण्डन कहाँसे आवेगा? देखो नास्तिक तो बहुत हैं परन्तु ईश्वरका निषेध करनेके लिए क्या-क्या युक्ति है यह उन नास्तिकोंको थोड़े ही मालूम हैं वे तो किसीसे सुनकर मानते हैं कि ईश्वर नहीं है, वे तो विचारे भावुक हैं, श्रद्धालु हैं–दया करने योग्य है क्योंकि उन्होंने दुर्भाग्यवश नास्तिक पर श्रद्धा कर ली।

तो आपको सुनाते हैं कि अपरा-विद्या क्या है? जैसे, आप सोनेको

समझ लें कि सोना क्या चीज है तो स्वर्ण-विद्या आपको प्राप्त हो गयी; स्वर्ण-विद्या तो प्राप्त हो गयी लेकिन स्वर्ण प्राप्त नहीं हुआ है ना? हम एक हीरा पहचाननेवालेको जानते हैं, वे यहीं काम करते हैं—जब हीरा पहचानना पड़ता है तब सरकार भी उनको बुलाती है—जैसे चोरीके हीरे जब पकड़े जाते हैं तब उनकी कितनी कीमत होनी चाहिए इसके लिए सरकार उनको बुलाती है कि तुम आकर ठीक-ठीक बता दो कि इनकी कीमत कितनी होनी चाहिए। तो, वे हीरेको पहचाननेमें तो बड़े निपुण हैं, पर हैं वे गरीब, उनके पास हीरा नहीं है! क्योंकि हीरा दूसरी चीज है और हीरेका ज्ञान दूसरी चीज है—भला! उनके पास हीरेका ज्ञान तो है पर हीरा नहीं है। तो, उस विद्याको उस ज्ञानको बोलेंगे अपरा-विद्या, जिसमें ज्ञान प्राप्त होनेपर भी वस्तु प्राप्त न हो। अब यदि उन्हें हीरा प्राप्त करना हो तो क्या करना पड़ेगा कि रुपया इकट्ठा करना पड़ेगा, खरीदना पड़ेगा, लाकर घरमें रखना पड़ेगा। ज्ञानके बाद प्राप्त करना जिस विद्यामें शेष रहे उसको अपरा विद्या बोलते हैं; यह देख लिया कि यह लड़की बहुत अच्छी है, यह लड़का बहुत अच्छा है—जान लिया-सुशील है, सुन्दर है, स्वस्थ है, भावुक है; लेकिन क्या जान लेने मात्रसे वह मिल जायेगा—नहीं मिलेगा—तो यह अपरा-विद्या हुई। कि इन्द्र देवताको जान लिया, ब्रह्माको जान लिया, विष्णुको जान लिया—पर क्या जान लेने मात्रसे वे मिल जायेंगे कि नहीं मिलेंगे—इसका नाम अपरा-विद्या है।

अब, परा-विद्या क्या होती है कि 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्'—जिसमें ज्ञान और अर्थ ये दोनों जुदा-जुदा नहीं होते हैं—जहाँ ज्ञान ही वस्तु है और वस्तु ही ज्ञान है उस विद्याको परा विद्या कहते हैं। देखो आपको बताते हैं कि यह फूलकी माला है, तो माला तो हाथमें है और 'फूलकी माला' शब्द मुँहमें है और इस शब्दका यह अर्थ है—यह ज्ञान हृदयमें है—तीनों तीन जगह पछाड़ खा रहे हैं बेचारे—माला हाथमें लटक रही है, शब्द मुँहमें उड़ रहा है और ज्ञान बेचारा अकेला हृदयमें छटपटा रहा है—वस्तु हाथमें, शब्द मुँहमें और ज्ञान हृदयमें लेकिन परा-विद्या क्या होती है कि उसमें ये तीनों चीज तीन जगह नहीं होती हैं—

'विद्यया विन्दतेऽमृतम्'—आप अपने आपको जानो—तो जैसे हीरेको

जाननेके बाद हीरेको खरीदकर घरमें लाना पड़ता है वैसे ही आप यदि अपनेको जानेंगे तो क्या अपनेको खरीदकर घरमें ले आवेंगे? कि नहीं भाई, अपना आपा तो अपना आपा ही है, अपने घरमें ही है, उसको खरीदकर लाना नहीं है। कि तब क्या सोनेकी तरह कसौटी लगाकर उसकी परीक्षा करनी पड़ेगी या मशीनमें रखकर हीरेकी तरह देखना पड़ेगा कि इसमें पीलापन है कि नहीं? कि जैसे लड़कीसे, लड़केको जाननेके बाद, पहचान होनेके बाद ब्याह करना पड़ता है, वैसे अपने आपसे पहचान होनेके बाद क्या ब्याह करोगे? तो, अपने आपको जाननेके बाद अपना आपा अप्राप्त रहता ही नहीं, अप्राप्तिका भ्रम है। इसलिए आत्मज्ञान कर्म-उपासना और योगका अंग नहीं होता। हमारे और उपासकाचार्योंके बीच यही तो मतभेद है–बोधायन मतमें और व्यास मतमें–व्यास-मतका प्रतिपादन सूत संहिता करती है ब्रह्मसूत्रका अभिप्राय बतलानेके लिए और बोधायन-मतका प्रतिपादन श्री रामानुजाचार्यजी महाराज करते हैं। बोधायन-पक्ष है उपासकोंका और व्यास-पक्ष है उसका जिसका सूत्र है–जिसका सूत्र उसका सिद्धान्त। तो नारायण, वे क्या बोलते हैं कि जहाँ जाननेके बाद कुछ करना पड़े–बाहर शरीरसे या भीतर मनसे या उसमें स्थित होनेके लिए प्रयास करना पड़े, जहाँ कर्त्तापन शेष रह जाये, कर्म शेष रह जाये, वहाँ अपने आपको पहचाने ही नहीं; क्योंकि देहेन्द्रियादिके बिना तो कोई साधना, कोई प्रतिपत्ति हो नहीं सकती, बिना बुद्धि वृत्तिके कोई प्रतिपत्ति हो नहीं सकती। अपने आपको ब्रह्म जाननेका अर्थ यह हुआ कि अविद्यासे मुक्ति; पिण्ड-बन्धनसे मुक्ति; ब्रह्माण्ड-बन्धनसे मुक्ति; माया-बन्धनसे मुक्ति; धर्मोपासना, योगादिके कर्त्तव्य-बन्धनसे मुक्ति; समाधि-बन्धनसे मुक्ति! जितनी दूरमें देश-काल-वस्तु हैं उतनी दूरमें ब्रह्म है यह नहीं समझना, देश-काल-वस्तुका भेद तो कल्पना होनेपर फुरता है और कल्पना तो एक अणुमात्रमें फुर रही है, एक परमाणु-मात्रमें फुर रही है, और ऐसे परमाणुमें फुर रही है जिसकी ब्रह्ममें सत्ता ही नहीं हैं। तो, उस तत्त्वका जो साक्षात्कार है उसको परा-विद्या बोलते हैं–यह गति नहीं है, यह मति नहीं है, यह रति नहीं है और यह स्थिति नहीं है–भला! गति होती है धर्ममें, मति होती है सांख्य-विवेकमें, रति होती है उपासनामें, स्थिति होती है योगमें, और यह

जो आत्मविद्या है यह इन चारोंके अन्दर आवद्ध नहीं है। क्या बतावें आपको- चार दिन पढ़कर, चार दिन सुनकर जब लोग वेदान्तका निरूपण करने लगते हैं, तो हमारे साईं कहा करते थे कि यह कहाँसे बोल रहा है यह मालूम पड़ जाता है-रेडियोमें जब कोई बोलता है तब बताता है ना कि हम बम्बई रेडियो-स्टेशनसे बोल रहे हैं और भीतरसे जब कोई बोलता है तब यह बतानेकी जरूरत नहीं पड़ती है कि ये सीलोनसे बोल रहे हैं कि ये विज्ञापन कर रहे हैं- एक विज्ञापनका स्टेशन भीतर है, वहाँसे आदमी बोलता है तब वह पहचाना जाता है कि विज्ञापन-स्टेशनमें बोल रहा है। तो, यह तत्त्वज्ञान जो है यह परिच्छिन्नताको चूर-चूरकर देनेवाली चीज है।

श्रीजयदयालजी गोयन्दका का कहना था कि तत्त्वज्ञान होनेके पहले निष्काम-भावसे कर्म करनेकी आवश्यकता है। निष्काम-भावसे-यह भावका बड़ा अर्थ है—आदमी निष्काम-कर्म समझेगा, निष्काम-भावसे नहीं समझेगा, इसलिए उनका मत जल्दी समझमें नहीं आवेगा-उसमें जो भाव है ना, वह उतना ही गूढ़ है। हमने पूछा कि भोक्ता जब तक अपनेको भोक्ता जान रहा है— सुखी-दुःखी हो रहा है—माने मैं सुखी-मैं दुःखी-भोक्ता तबतक वह निष्काम कैसे होगा? तो बोले कि मैं कब कहता हूँ कि वह निष्काम हो गया, मैं तो कहता हूँ कि निष्काम भावना करके काम कर रहा है, निष्काम भावसे कर्म कर रहा है, वह निष्काम हो गया यह तो हमारा कहना ही नहीं है; निष्काम तो जब आप कहते हैं महाराज कि आत्माको जब ब्रह्मरूपसे जान लेगा तभी असली निष्कामता होगी और उसके पहले तो यह कर्त्ता निष्काम-भावसे कर्म कर रहा है—उनकी बात स्पष्टम् स्पष्टम् नहीं होती थी, बहुत छिपाकरके वे बोलते थे— कहते थे कि हम तो भाव बोलते हैं—निष्काम-भावसे, निःस्वार्थ-भावसे दूसरोंका भला हो इस दृष्टिसे काम करो।

पूछा—लोकमान्य तिलकके मतमें और आपके मतमें क्या फर्क है? तो बोले लोकमान्य तिलक आग्रह करते हैं कि ज्ञान होनेके बाद कर्म ही होना चाहिए—ज्ञान होनेके बाद निष्काम-कर्म होता है—इसमें कोई शङ्का नहीं है, पर, वे कहते हैं कि होना ही चाहिए—जयदयालजी बोलते थे कि हम कहते हैं कि ज्ञानीके लिए कोई बन्धन नहीं होता, वह चाहे तो संन्यास ले, चाहे तो कर्म

करे, चाहे तो समाधि लगावे, उसके लिए कोई बन्धन नहीं है—अवश्य-कर्त्तव्यता बादमें नहीं हो सकती।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे पूछा कि महाराज, कर्म तत्त्वज्ञान होनेके बाद कि पहले? बोले कि देखो तत्त्वज्ञानके पूर्व जो कर्म है—कर्म प्रमाण नहीं है, कर्मसे वस्तुका साक्षात्कार नहीं होता—माने आँखसे तो चीज दिखती है, पाँवसे अथवा हाथसे दिखती नहीं है—ज्ञान कर्मेन्द्रियोंसे नहीं होता, ज्ञान ज्ञानेन्द्रियोंसे होता है, इसलिए कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानका करण नहीं हैं ज्ञानमें मददगार हैं—आँखसे आपको लाल-पीला-नीला देखना हो तो पाँव चलकर आपको पहुँचा देगा और गुलाबका फूल छूना है तो हाथ उठाकर छुआ देगा। तो ज्ञानसे वस्तु प्रमाणित होती है, कर्मसे वस्तु प्रमाणित नहीं होती, इसलिए कर्म वस्तु-तत्त्वके साक्षात्कारका प्रत्यक्ष साधन, साक्षात् साधन नहीं है। साक्षात् साधन नहीं है तो नारायण फिर साधन ही होवे? कि साधन भी नहीं है साधन तो है श्रवण, मनन, निदिध्यासन और ये अन्तरङ्ग हैं क्योंकि तत्त्व कैसा है यह बतानेके लिए है श्रवण-मनन, निदिध्यासन। बोले कि ये शम, दम, तितिक्षा, उपरति आदि? कि बोले—अन्तरङ्ग नहीं हैं, बहिरङ्ग हैं क्योंकि ये अन्तःकरण रूप बन्दूकको शुद्ध करनेके लिए हैं; ये करणका शोधन करते हैं इसलिए ये बहिरङ्ग हैं—शम-दम-आदि; और ठीक लक्ष्य-वस्तुका शोधन करते हैं इसलिए श्रवण-मनन-आदि अन्तरङ्ग हैं। कि तब कर्म कहाँ गया? बोले कि कर्म परम्परा-साधन है। परम्परा-साधन है माने शम-दमादिकी प्राप्तिमें सहायक है।

कि अच्छा महाराज, यह तो हुआ कि सत्कर्म करके शम-दमादि साधन-सम्पन्न होवे, अन्तःकरण शुद्ध होवे, फिर श्रवण-मनन आदिके द्वारा लक्ष्यकी शुद्धि होवे; और फिर महावाक्य-जन्य जो वृत्ति है, वह ज्ञानका साक्षात् साधन है, वह अन्तरंग नहीं है—महावाक्य अन्तरंग नहीं है, महावाक्य बहिरंग भी नहीं है, महावाक्य परम्परा भी नहीं है, महावाक्य साक्षात् साधन है—यह तो प्रसंगवश आपको सुना दिया।

फिर यह हुआ कि तत्त्वज्ञानी बादमें कर्म ही करे—यह लोकमान्य-तिलकका आग्रह है और निवृत्त हो जाये—यह श्रीशंकराचार्य-भगवान्‌का आग्रह

है। देखो, बात खुलासा करते हैं। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका यह कहना था कि शंकराचार्य भगवान् संन्यास सम्प्रदायके संस्थापक हैं माने पहलेसे जो श्रौत वर्णाश्रम धर्म है उस कर्म-आश्रम-धर्मके वे संस्थापक हैं इस दृष्टिसे वे संन्यासको सम्पुष्ट करते हैं। पूछा—महाराज, इसमें तत्त्वज्ञानीकी क्या दृष्टि है? तो बोले कि हमारा अभिमत यह है कि तत्त्वज्ञान होते ही कर्म और कर्म-संन्यास दोनों बाधित हो जाते हैं, मिथ्या हो जाते है; इसलिए मिथ्या प्रवृत्ति और मिथ्या निवृत्ति—दोनोंमें जो समत्व है वही तत्त्ववित्की दृष्टि है। वैराग्य-प्रधान जिज्ञासुकी दृष्टिमें संन्यास श्रेष्ठ है और वर्ण-प्रधान, आश्रम-प्रधान जिज्ञासुमें निष्काम-कर्मकी प्रधानता है, और दोनों अपने-अपने स्थानपर ठीक काम कर रहे हैं—तत्त्वदर्शी या तो दोनोंको मिथ्या देखे और या तो दोनोंको ब्रह्म-स्वरूप देखे, आत्म-स्वरूप देखे—दोनों मिथ्या है अथवा दोनों सत्य हैं। तो तत्त्वज्ञानकी दृष्टिमें दोनोंमें समत्व है—अब देखो भाई, हमने तो यह बात वर्षोंमें वहाँ पूछ कर, वहाँ पूछकर, उससे सीखकर, उससे सीखकर, ऐसे सोचकर, ऐसे विचार कर—यह सब निश्चय किया और आपको आकर बम्बईमें सुना दिया—जंगलकी सुनी हुई बात, गंगा-किनारेकी सुनी हुई बात, हिमालयकी सुनी हुई बात और समझी हुई बात और अपनी बात लाकर आप लोगोंके बीचमें हमने सुना दी और अब हम जानते हैं कि किसीकी समझमें शायद आवे ही नहीं, तो, आपकी मतिपर तो हमारा कोई आक्षेप नहीं है, आपको जैसा समझमें आवे वैसा ही मानना, हम तो वेदान्त विद्याकी व्याख्या करते हैं।

●

प्रवचन : 13.1

इसी जीवनमें ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त कर लो!

'इद चेदवेदीदथ सत्यमस्ति'

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

(केन. खण्ड 2, मंत्र 5)

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'-बलहीनको यह आत्मा प्राप्त नहीं होता। अब देखो, बात बहुत सीधी-सी है कि जो सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्चके अधिष्ठानको जाननेकी चेष्टा नहीं करेगा उसके लिए यह विश्व-ब्रह्माण्ड बाधित नहीं होगा, सच्चा बना रहेगा-मैं भी सच्चा और यह भी सच्चा। इसका विवेक महात्मा लोग ऐसे करते हैं कि दो वृत्ति सबके जीवनमें स्वाभाविक रहती हैं-एक अहंताकी और एक ममताकी। अंहकारकी ही ये दोनों वृत्ति हैं-माने परिवर्तनशील अन्तःकरणमें, इन्द्रियोंमें, प्राणमें, मनमें प्रपञ्चमें जबतक मैं और मेरा रहता है तबतक उसका नाम संसार है; और जब यह मैं और मेरा ईश्वरसे सम्बन्धित हो जाता है तो उसका नाम भक्ति हो जाता है। मैं प्रभुका और प्रभु मेरे-मैं प्रभुका सेवक हूँ, दास हूँ और प्रभु मेरे आराध्य हैं, उपास्य हैं, स्वामी हैं-भक्तिमें ममता और अहंताका पेट ऐसे भरा; जब परमार्थके ज्ञानसे अहंता और ममता दोनोंका आधार जो परिच्छिन्न अहं वह जब अधिष्ठान ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है तब यह मैं और यह मेरा-ये दोनों वृत्ति भी नष्ट (बाधित) हो जाती है। तो परमार्थ ज्ञानसे परिच्छिन्न अहंका नाश कैसे होगा यह विचार करने योग्य वस्तु हैं। आप यह विवेक धारण कर लें कि संसारके किसी भी स्थूल-

सूक्ष्म-कारण पदार्थको यदि तुम मैं और मेरा समझते हो तो तुम संसारी हो और जब भगवान्‌को ही मैं-मेरा समझते हो तब भक्त हो और बिना अधिष्ठान ज्ञानके केवल विवेकसे ही समझते हो कि मैं-मेरा झूठा है तो तुम्हारा परिच्छिन्न अहं बना हुआ है—द्रष्टापन बना रहे चाहे परिच्छिन्न अहं बना रहे एक ही बात है—और सब लोग तो मैं-मेरेमें बँधे हुए हैं और मैं मैं-मेरेसे मुक्त हूँ—यह बोध भी परिच्छिन्न अहंको लेकर ही है।

यदि आप यह कहो कि संसार तो बदलनेवाला है और यह न मैं न मेरा, यह नाशवान है—न मैं न मेरा—अरे यह कभी साँप मालूम पड़ता है, कभी माला मालूम पड़ती है—इस प्रकार यदि दृश्यका विवेक करके और दृश्यको नाशवान समझकरके और अपनेको उससे अलग जान लिया तो यह भी आत्मज्ञान नहीं हुआ, यह प्रकृति और प्राकृतका ही ज्ञान हुआ और इसका फल असंगता है इसमें परिच्छिन्नत्वकी जो भ्रान्ति है वह नहीं मिटेगी। संसारको जाना अनित्य, संसारको जाना विनाशी, संसारको जड़, संसारको जाना दुःख, संसारको जाना परिवर्तनशील और मैं इससे न्यारा हूँ—अगर इतना तुमने जान लिया तो ज्ञान हुआ संसारका और फलितार्थ हुआ अपनी असंगता—यह वेदान्तका ज्ञान नहीं है।

'विद्यया विन्दतेऽमृतम्'में—जो विद्या है वह संसारके अनित्यकी या जड़त्वकी या दुःखस्वरूपकी या परिवर्तनशीलत्वकी विद्या नहीं है, यह तो ब्रह्मविद्या है, अधिष्ठान-ज्ञानसे इसका सम्बन्ध है। हम इस बातको जानते हैं कि सौमें नब्बे प्रतिशत अपनेको वेदान्ती कहनेवाले इस प्रसङ्गको नहीं समझते हैं; वे कहते हैं कि संसार परिवर्तनशील है मैं इसको देखता हूँ, मैं इससे न्यारा हूँ। वेदान्त-विद्या तो यह नहीं बताती है; वेदान्त-विद्या तो कहती है कि आत्मा और ब्रह्म एक है—यह नहीं कि आत्मा ही ब्रह्म है—और ब्रह्म ही अद्वितीय है ऐसा भी नहीं, इसमें अज्ञानको भस्म करनेका सामर्थ्य होना चाहिए। तो किसीने कहा कि यह जो साक्षी है ना, आत्मा, द्रष्टा—इसीका नाम ब्रह्म है, तो इसने तो ब्रह्मजिज्ञासापर मानो परदा ही डाल दिया! तो ब्रह्मकी अविनाशिता समझमें आनी चाहिए, ब्रह्मकी परिपूर्णता समझमें आनी चाहिए, ब्रह्मकी अद्वितीयता समझमें आनी चाहिए, ब्रह्म कोई रूढ़ि नहीं है, ब्रह्म कोई नहीं है,

ब्रह्म एक वस्तुका बोधक शब्द है जबतक उस वस्तुका बोध न होवे तबतक तो ब्रह्म तो ऐसे ही रहेगा जैसे बेटेका नाम। अच्छा, हम बोलते हैं कि आत्मा बित्थ है, आत्मा डबित्थ है, तो कुछ आया समझमें? बोले कुछ नहीं समझमें आया महाराज! कि क्यों नहीं समझमें आया? कि हम बित्थ-डबित्थका मतलब ही नहीं समझतें हैं। तो ऐसे ही आत्मा ब्रह्म है ऐसा तो बोलो लेकिन ब्रह्म शब्दका अर्थ न समझो, तो क्या ब्रह्मज्ञान होगा? ब्रह्मज्ञान होनेके लिए ब्रह्म शब्दका अर्थ समझना पड़ता है। तो, मुख्य जाननेकी बात यह हुई कि ब्रह्मज्ञानसे ही परिच्छिन्न अहं कैसे मिटेगा, दुःख कैसे मिटेगा, जड़ता कैसे मिटेगी, मृत्यु कैसे मिटेगी? और केवल आत्माको ब्रह्म-रूप जानने मात्रसे ही दुःखका अत्यन्ताभाव कैसे हो जायेगा या जड़ता कैसे मिट जायेगी या मृत्यु कैसे मिट जायेगी या द्वैत कैसे मिट जायेगा? यदि अपनी मृत्यु अज्ञानके कारण मालूम पड़ती होवे तो वह ज्ञानसे मिट जायेगी; यदि अपनी जड़ता अज्ञानके कारण मालूम पड़ती होवे तो वह ज्ञानसे मिट जायेंगी, क्योंकि ज्ञान अज्ञानाको मिटाता है–यह नियम है। घड़ीका ज्ञान घड़ीका अज्ञान मिटा सकता है, घड़ीको नहीं मिटा सकता। अच्छा, यह घड़ी पञ्चभूतसे बनी हुई है इस ज्ञानसे घड़ी मिट जायेगी? कि नहीं। घड़ीके ज्ञानसे भी घड़ी नहीं मिटेगी और पञ्चभूतपनेके ज्ञानसे भी घड़ी नहीं मिटेगी, घड़ी तो तब मिटेगी जब लेकर हथौड़ा इसको चूर-चूर कर देंगे, क्योंकि घड़ी एक जड़ वस्तुसे बनी हुई है; बनी हुई चीज (रूप) ज्ञानसे नहीं मिट सकती, ज्ञानसे केवल अज्ञान मिट सकता है। अब देखो–सारा शास्त्र कहता है कि ज्ञानसे ही मृत्यु मिट जायेगी–'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति'–ज्ञानसे ही बन्धन मिट जायेगा–ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वं पाशैः'–सारे बन्धन कट जायेंगे केवल ज्ञानसे; तो ज्ञानसे मृत्यु क्यों दूर होगी, क्योंकि मृत्यु हम अज्ञानसे मानते हैं; ज्ञान होनेसे बन्धन क्यों मिट जायेंगे इसलिए कि हम जड़ताका अस्तित्व अज्ञानसे ही मानते हैं। कि ज्ञान होनेसे सब-के-सब दुःख मिट जायेंगे–'ज्ञात्वा देवं हर्ष-शोकौ जहाति'–हर्ष और शोक दोनों मिट जायेंगे परमात्माके ज्ञानसे। क्यों मिट जायेंगे? तो बोले कि असलमें परमात्माके अज्ञानसे ही हर्ष और शोक मालूम पड़ते हैं। तो ज्ञान जो है वह अज्ञानका प्रतिभट है–अज्ञानको मिटानेवाला है।

अब देखो किस ज्ञानसे इस अज्ञानकी निवृत्ति होगी? तो, सर्पका भ्रम हो तो रज्जूके ज्ञानसे मिट जायेगा; आकाशमें नीलिमाका जो भ्रम है कि नीलिमा नामकी कोई चीज है वह आकाशके ज्ञानसे मिट जायेगी, सीपके ज्ञानसे रजतका जो भ्रम है वह मिट जायेगा, तो यह जो अहंकार है, यह जो द्वैत है–'त्वं परिच्छिन्नः; अयं परिच्छिन्नः; अहं परिच्छिन्नः'–यह जो परिच्छिन्नता मालूम पड़ती है कि मैं परिच्छिन्न-कटा-पिटा टुकड़ा-मैं कटा हुआ टुकड़ा, तुम कटे हुए टुकड़े-एक टुकड़ा तुम, एक टुकड़ा यह, एक टुकड़ा मैं, इसी टुकड़े-टुकड़ेमें दुःखमें है, टुकड़े-टुकड़ेमें जड़ता है, टुकड़े-टुकड़ेमें मृत्यु है, ये सब टुकड़े-टुकड़ेमें लगे हुए हैं और मैं टुकड़ा हूँ इसीलिए दूसरे टुकड़े मालूम पड़ते हैं–अपने एक टुकड़ा, एक खण्ड, एक छिन्न, एक भिन्न-भिन्नत्वका अपनेमें बोध है–यह बोध नहीं है यह उल्टा बोध है इसलिए भ्रान्ति है–यह अज्ञान है। इस अज्ञानको कौन-सा ज्ञान मिटावेगा? कि अपनी अखण्डता बोधक महावाक्यसे उत्पन्न जो ज्ञान है वह मिटावेगा!

तो बोले कि हम तो समझते हैं महाराज कि अणु कैसे फोड़ा जाता है–यह हम जानते हैं और अणु कैसे जोड़ा जाता है यह भी हम जानते हैं; परमाणुको हम जानते हैं! कि अच्छा, आप परमाणुको जानते हैं, ठीक है, परमाणुको जाननेसे आपके अपने अणुत्वका भी भ्रम है वह नहीं मिटेगा। जब आप अपनेको अपरिच्छिन्न जानेंगे तब परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति मिटेगी, जब अपनेको महान् जानेंगे–

महान्तम् विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।

जब आप अपनेको अनन्त जानेंगे तब आपको अल्प होनेका जो भ्रम है वह मिटेगा। माने आत्माकी अपरिच्छिन्नताके ज्ञानसे, आत्माकी अद्वितीयताके ज्ञानसे द्वैतका भ्रम मिटेगा।

तो, अमृतत्व क्या है? हमारे एक मित्र हैं वे कहते हैं कि जब शर्बत पीते हैं तब जीभपर मीठी-मीठी, कभी-कभी खट्टा-खट्टा स्वाद आता है–तो यह जो तुम कहते हो कि ज्ञानसे अमृत्वकी प्राप्ति होती है इसमें जीभपर कौन-सा स्वाद आता है; मुँहका क्या जायका उस समय बनता है जिस समय

अमृतत्वकी प्राप्ति होती है? तो भाई, जब जीभमें ही बैठकर तुम वेदान्तको समझना चाहते हो, वेदान्तका स्वाद लेना चाहते हो तो क्या वेदान्तका स्वाद आवेगा? तो बोले–महाराज जीभकी बात हम नहीं कहते हैं, हमारे हृदयमें उस समय कौन-सा जायका आवेगा जब हमें ब्रह्मज्ञान होकर अमृतत्वकी प्राप्ति होगी।

बोले–अरे भाई तुम्हारा यह जो अन्तःकरण हैं न! यह सत्ता-शून्य हो जायेगा, बाधित हो जायेगा–हमारा अन्तःकरण तो हुए बिना ही भास रहा है। यदि अन्तःकरण द्वारा स्वाद लेना ही ब्रह्मत्व है तो भोक्ता और भोग्यकी भ्रान्ति कहाँ मिटी, अपरिच्छिन्नता कहाँ आयी? बोले अच्छा हमको जब ब्रह्मज्ञान हो जायेगा तब हम कौन-सा बढ़िया कर्म करेंगे? श्रेष्ठकर्म करके एक विश्वविद्यालय बनावेंगे, एक अस्पताल बनावेंगे–'एक विश्व' बनावेंगे–'वन वर्ल्ड'–यह दूसरा शब्द हमको बोलना नहीं आता है–एक विश्व बना देंगे, जब हमको ब्रह्मज्ञान होगा! डालमियाजीने यह आन्दोलन कुछ दिन चलाया था भारतवर्षमें, फिर उसका लोप हो गया, वह चला नहीं। नेहरूजीके सामने ही, नेहरूजीसे पहले चलाया था। मतलब यह कि ब्रह्मज्ञान होनेपर दुनियाको एक बनावोगे कि कितने अस्पताल बनवाओगे कि कितने भोग भोगोगे—यही न! कि अच्छा महाराज यह सब कुछ नहीं हो, लेकिन ब्रह्मज्ञान होनेपर हमको अणुबम बनाना तो आ जाये, क्योंकि जब ब्रह्मको जान गये तब अणु-बम बनानेकी विद्या तो हमको आ ही जानी चाहिए!

न हि मोक्षदशायाम् विज्ञानान्तरम् आनन्दान्तरं वा उत्पद्यते।

शंकराचार्य भगवान्‌का वचन है बृहदारण्यक भाष्यमें–जब यह विज्ञान होता है और अपने आपको ब्रह्मके रूपमें जानते हैं तो कोई नया विज्ञान, नया विशेष ज्ञान और नया विशेष आनन्द उत्पन्न नहीं होता क्योंकि ये जितने विशेष आनन्द हैं सब औपाधिक हैं और सब आध्यासिक हैं; अन्तःकरणके द्वारा जो भोगा सो उपाधिके द्वारा भोगा गया। अन्तःकरण उपाधि है–जितने भी आनन्द भोगे जायेंगे वे औपाधिक होंगे, माने अन्तःकरणकी उपाधिसे भोगे जायेंगे और आध्यासिक होंगे अर्थात् उनमें अहंता-ममता करके उसीके विपर्ययसे उनको अपना माना जायेगा।

तो अमृतत्व क्या है? कि अमृतत्व है परम-स्वातन्त्र्य–'अमृतत्वं नाम परं स्वातन्त्र्यम्'। कोई जातिमें फँसे हैं, कोई मजहबमें फँसे हैं, कोई वर्णमें फँसे हैं, कोई आश्रममें फँसे हैं, कोई लोक-परलोकमें फँसे, कोई समाधि-विक्षेपमें फँसे, कोई धर्म-पशु हो रहे हैं, कोई जाति-पशु हो रहे हैं, कोई देवी-देव पशु हो रहे हैं, कोई सम्प्रदाय-पशु हो रहे हैं–पशुत्व माने पराधीनता! असलमें कर्मसे ही मनुष्य पशु हो गया है–इस कर्मका कर्त्ता मैं हूँ और इस फलका भोक्ता मैं हूँ–यह कर्तृत्त्वकी भ्रान्ति है और यह कर्तृत्त्वकी भ्रान्ति इतनी प्रबल होती है कि आवो, हम तुम्हारा मोक्ष करा दें कि आवो तुमको ज्ञान करा दें कि आवो तुमको ब्रह्म मिला दें–सब इसी भ्रान्तिमें चलता है।

एक कथा है–हरिद्वारके पास ज्वालापुर गाँवमें एक मकान था, उसमें कोई चहारदीवारी थी फिर कई दरवाजे थे, कई भीतें थीं–तो उसमें एक महात्मा थे, वे बोले कि आवो हम तुमको ब्रह्मका दर्शन करावें–सैकड़ों आदमी जाते थे–अब महाराज, बड़ी मुश्किल आयी। चार-छः महीने, पहले वे सेवा करवाते फिर उसको बोलते–ऐसे तो दर्शन करावेंगे नहीं, पहले इतना जप करो, इतना ध्यान करो, इतनी सेवा करो, इतनी पूजा करो, दान दो, दक्षिणा दो। जब कोई वह सब कर लेता तो वे खुश हो जाते और दर्शन करानेको कमरेमें ले जाते। वहाँ एक परदा टँगा हुआ था; उस परदेके पीछे वे सिंहासनपर जाकर बैठ जाते और अपने शिष्यको इशारा कर देते कि परदा जरा हटा दो। तो वह पूछता–महाराज, ब्रह्मका दर्शन? तो बोलते–देख, यह ब्रह्म बैठा है। बारह वर्ष सेवा करवानेके बाद अपने शरीरका दर्शन कराते और कहते कि यही ब्रह्म है।

तो, कर्ममें कर्तृत्वकी भ्रान्ति और कर्मके फल भोक्तृत्वकी भ्रान्ति–ये दोनों परिच्छिन्नत्वकी भ्रान्तिसे उत्पन्न होती है और परिच्छिन्नत्वकी भ्रान्ति अपरिच्छिन्न-विद्यासे माने ब्रह्मविद्यासे निवृत्त होती है!

अब यदि आपने अपनेको ब्रह्म जान लिया तो कर्म आपको कहाँ ले जायेगा–नरकमें? अपरिच्छिन्नमें कहीं नरकका अस्तित्व है? कि स्वर्ग में ले जायेगा। कि कहीं स्वर्ग है उसमें भीतर ले जायेगा। कि भीतर-बाहर कहीं, अपरिच्छिन्नमें होता है। कि मैं-में स्थित कर देगा–कि 'यह' और 'मैं'का भेद

कहीं अपरिच्छिन्नमें होता है। तो यह जो अद्वितीय आत्मस्वरूप—आत्म-स्वरूपकी अद्वितीयताका बोध है यही भ्रान्तिको निवृत्त करता है और इसमें, आपको अद्वैत वेदान्तकी दृष्टिसे न कर्मकी पराधीनता रहती है और न भोगकी, न धर्मकी, न देवताकी, न स्थितिकी-सर्वविध पराधीनता-देशकी, कालकी, वस्तुकी मिट जाती है। भक्तिसे जो वैकुण्ठमें जाते हैं उनकी और सब पराधीनता तो मिट जाती हैं लेकिन ईश्वरकी पराधीनता उनकी बची रहती है; पशुपति लोकमें जानेपर भी वहाँ भगवान् शंकर ती पशुपति होकर रहते हैं परन्तु वहाँ रहनेवालेको पशु होकर रहना पड़ता है—भला—पशु माने पराधीन-माने उनके अधीन होकरके रहना पड़ता है; तो यह बात सामान्यरूपसे लोगोंमें बोलें तो मालूम ऐसा पड़ेगा कि कैसा बोलते हैं। यह जितनी बात मैं बोलता हूँ इन सबका विवेक दर्शन-शास्त्रमें है। वैष्णव शास्त्रपर जब पाशुपतोंने आक्षेप किया तब यह बात कही और पाशुपतोंपर वैष्णवोंने आक्षेप किया तो यह बात कही, परन्तु यह जो अद्वय-सिद्धान्त है—द्वैतके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित और द्वैताद्वैत भेदसे शून्य जो प्रत्यक् चैतन्य तत्त्व है उसके ज्ञानमें यह जो अहंता और ममता और अहंता-ममताके विषय हैं इनका बोध होकरके पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है—इसीका नाम अमृतत्व है!

अब यह जो अमृतत्व है यह अजत्वका भी उपलक्षण है और अदुःखत्वका भी उपलक्षण है, क्योंकि असत् जो होगा वही तो मृत होगा; जो असत् नहीं होगा, वह सत् होगा, वह अमृत होगा; और जो सत् होगा वह जड़ नहीं होगा चित् होगा; और जो सत् और चित् होगा वह दुःख नहीं होगा वह आनन्द होगा, अदुःख होगा; और जो सच्चिनानन्द-स्वरूप है वह द्वैत-रहित अद्वैत होगा और जिसमें प्रत्यक् और पराक्का भेद नहीं ऐसा आत्म-ब्रह्म होगा तो उसकी विद्यासे अमृत्वकी प्राप्ति होती है। 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति'—और यदि जीवनमें इसको जान लो तब तो सब ठीक है; और जैसे तुम धनको इस जीवनके लिए रखो और भोगको इस जीवनके लिए रखो और सोचो कि मरनेके बाद हमको स्वर्गमें पहननेको चिन्तामणि मिलेगी और भोगनेको अप्सरा मिलेगी, उसी तरह यदि तुम ब्रह्मज्ञानको भी रख छोड़ो कि इस जन्ममें तो आवो संसार भोग लें और मरनेके बाद ब्रह्म भोगेंगे तो इसकी आशा मत

रखो–'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति'–इसी जीवनमें यह जाननेकी चीज है यह दृश्य आनन्द है। इसका दर्शन-शास्त्रमें बड़ा विवेक है, बड़ा विचार है कि ब्रह्मज्ञानका जो आनन्द है वह धर्मसे उत्पन्न स्वर्गादिके समान कोई अदृश्य सुख है क्या? बोले कि नहीं, यह धर्म-जन्य अदृश्य सुख नहीं है यह तो साक्षात् अपरोक्ष आत्म-सुख है। 'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'–यदि इसी जीवनमें तुमने इसको नहीं जाना तो महान् विनाश हो गया! इसलिए क्या करना कि–

भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता
भवन्ति, विद्यया विन्दतेऽमृतम्, अमृता भवन्ति

यहाँ यह मालूम पड़ता है कि यह भूत है, यह भूत है, यह भूत है अलग-अलग मालूम पड़ते हुए भूतों में यह जो एक अद्वितीय सत्य है उसकी यदि अपने आत्माके रूपमें जान लिया तो देह-बन्धन छूटकर अमृत हो जायेंगे। अपने-आपको देहसे छुड़ाया, देहसे अलग किया–इसका मतलब मरना नहीं है–विवेकके द्वारा देहाध्यास, देहाभिमान छोड़ दिया तो–'प्रेत्यास्माल्लोकात् अमृता भवन्ति–अमृता भवन्ति—पूर्वतः अमृता सन्ति एव भवन्ति न तु असन्तः'–पहलेसे वे अमृत रहते ही हैं, केवल अपने मृतत्वकी भ्रान्ति मिट जाती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य

पुस्तक नाम	मूल्य
वेदान्त	
मुण्डक सुधा	200.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्रकरण) भाग-1	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) भाग-3	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात शान्ति) भाग-4	100.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
ईशानुभूति (ईशावास्योपनिषद् के आधार पर)	45.00
केनोपनिषद्	150.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	250.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	120.00
श्वेताश्वतरोपनिषद्	150.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	10.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1	100.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	100.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	120.00
दृग दृश्य विवेक	100.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	100.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	80.00
वेदान्त बोध	110.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	70.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00
आनन्द सूत्र	40.00
आनन्दानुभव	35.00
जीवन्मुक्ति विवेक	75.00
अष्टावक्रगीता	25.00
अष्टावक्रगीता प्रवचन	90.00
मिथ्यात्व ज्ञान	20.00
ध्यान और ज्ञान	90.00
गम्भीर चिन्तन	200.00
निगम चिन्तन	100.00

उद्धवगीत	25.00
कपिलोपदेश	80.00
ब्रह्म-स्तुति	85.00
हंसगीता (हंसोपाख्यान)	15.00
सद्गुरुसे क्या सीखें ?	15.00
उनकी कृपा	20.00
ऊखल बन्धन लीला	50.00
सत्संग महिमा	20.00
प्रह्लाद चरित	60.00
उद्धव व्रजगमन	180.00
भागवत विमर्श (दो भागोंमें)	45.00
मानव जीवन और भागवत धर्म	100.00
गर्भ स्तुति	60.00
वसुदेव देवकी स्तुति	20.00
भागवत विचार दोहन	**90.00**
भिक्षुगीत	35.00
मैं ही मैं (चतु:श्लोकी भागवत)	30.00
सुदामा चरित	10.00

रामायण

श्रीरामचरितमानस (तीन भागोंमें)	1000.00
अध्यात्म रामायण	250.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत	100.00
मानस दर्शन	40.00
सुन्दरकाण्ड (वाल्मीकि रामायणान्तर्गत)	30.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायण	400.00

भक्ति एवं साधना

विष्णु पुराण	.00
भक्ति एवं लीला	10.00
नाम महिमा	25.00
भगवन्नाम	10.00
शरण	10.00
प्रार्थना	10.00
नारद भक्ति दर्शन	100.00
भक्ति सर्वस्व	75.00
भक्तिदर्शनामृत	50.00
भक्तिका चमत्कार	35.00
अवतार रहस्य	20.00
माधुर्य कादम्बिनी	30.00
शिव संकल्प सूक्त	50.00
कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्ण प्राप्ति	10.00
मोहनकी मोहनी	20.00
ध्यानके समय	20.00
हनुमत्स्तोत्र	30.00
सत्संग सुधा	20.00
प्रार्थना षट्पदी	40.00
साधन विचार	50.00
मंत्र विज्ञान	30.00
योगदर्शन	100.00
भगवान्के पाँच अवतार	50.00
विष्णु सहस्रनाम	65.00
भक्त-चरित	15.00
भक्ति : विशेषताएँ	10.00
आदित्य हृदय स्तोत्र	15.00
श्रीअखण्डानन्द स्तव:	6.00
ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़िया बाबा	30.00
महाराजश्री-एक परिचय	25.00
सबके प्रिय सबके हितकारी	25.00
प्रेरक-प्रसंग	20.00
श्रीपूर्णानन्द तीर्थ स्तव: (चित्रावली)	100.00
श्रीगुरुदेव प्रात: स्मरणम्	5.00
भिक्षु स्वामी शंकरानन्द	20.00
पावन प्रसंग	150.00

विविध

आनन्दवाणी	80.00
आनन्द उल्लास	60.00

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-रस-रत्नाकर (सम्पूर्ण गीता)	200.00
सांख्ययोग (गीता अध्याय-2)	200.00
कर्मयोग (गीता अध्याय-3)	60.00
ध्यानयोग (गीता अध्याय-6)	150.00
ज्ञान-विज्ञान-योग (गीता अध्याय-7)	130.00
अक्षर ब्रह्मयोग (गीता अध्याय-8)	50.00
राजविद्या राजगुह्ययोग (गीता अध्याय-9)	90.00
विभूतियोग (गीता अध्याय-10)	175.00
भक्ति योग (गीता अध्याय-12)	90.00
ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (गीता अ.-13)	250.00
पुरुषोत्तमयोग (गीता अध्याय-15)	120.00
दैवी-सम्पदयोग (गीता अध्याय-16)	50.00
दैनिक जीवनमें गीता	60.00
योगः कर्मसु कौशलम्	20.00
मामेकं शरणं ब्रज	45.00
गीतामें भक्तिज्ञान समन्वय	30.00
गीतामें मानवधर्म	25.00
वासुदेवः सर्वम्	10.00
मया ततमिदं सर्वं (मेरा सब ताना-बाना)	25.00
गीता दर्शन (तीन भागोंमें)	650.00

श्रीमद्भागवत

भागवत दर्शन (दो भागोंमें)	600.00
ईशानुकथा (नवम स्कन्ध)	30.00
भागवत - दशम स्कन्ध	150.00
मुक्ति स्कन्ध (एकादश स्कन्ध) (दो भागोंमें)	270.00
रास पंचाध्यायी	150.00
श्रीकृष्णलीला रहस्य	80.00
भागवतामृत	70.00
भागवत व्यंजन	50.00
भागवत सर्वस्व	25.00
गोपीगीत	100.00
वेणुगीत	40.00
युगलगीत	50.00
प्रणयगीत	60.00
गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	20.00

आनन्द बिन्दु	70.00
आनन्दवचनामृत	10.00
आनन्द वार्ता	10.00
आनन्द पत्रावली	60.00
आनन्द रस रत्नाकर	250.00
आनन्द प्रश्नोत्तरी	60.00
आनन्द मंजूषा	120.00
आनन्द जयन्ती	
आनन्द रत्न	60.00
आनन्द-ही-आनन्द	25.00
आनन्द निर्झर	35.00
आनन्द कथामृत	70.00
व्यवहारशुद्धि	50.00
हृदयाकाशके हीरे	50.00
गुरुवाणी	10.00
श्री गुरवे नमः	20.00
आप सबसे श्रेष्ठ हैं	30.00
गृहस्थाश्रम धन्य है	30.00
जीवन-एक यात्रा	55.00
अमृत वाणी	25.00
व्यवहार और परमार्थ	55.00
ईश्वर दर्शन	20.00
आपका व्यवहार	20.00
अमृत महोत्सव	20.00
आपकी पसन्द	25.00
भारतीय संस्कृति	20.00
सत्यकी खोजमें	50.00
जिज्ञासा और समाधान	30.00
स्पन्द तत्त्व	15.00
प्रकाश स्तम्भ (दैनिक कैलेण्डर : म.श्रीके चित्र-उपदेश)	100.00
गुरु पूर्णिमा	10.00
सुखी रहो और सुखी रखो	10.00
सद्गुरु प्रसाद	40.00
आपके लिए	20.00
जीवनमें साधना	25.00
अब और आज	20.00
आइये विचार करें	30.00
संन्यास महोत्सव	5.00
चारु चिन्तन	60.00

● अंग्रेजी (English) साहित्य ●

Anand Sutra (Teachings on bliss)	30.00
Bhagwatamrit	110.00
Bhagwat Sarvasva	60.00
Unki Kripa (His Grace)	25.00
Ishwar Darshan (God Realization)	15.00
Attainment of Krishna by Utterance of Krishna-Krishna	15.00
Anand Ullas	70.00
Indian Culture	60.00
Prakash Stambh (Light House) (Cidr)	50.00
Sri Poomananda Teertha Stava	25.00
Prerak Prasang	10.00

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी.जी. खेरमार्ग, मालाबार हिल, मुम्बई-400006

फोन : (022) 23682055 (समय 11 से 6 बजे तक) मो. : 09619858361

शाखा कार्यालय :

श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन-281121

फोन : (0565) 3205722, मो. : 09837219460